जैनदर्शन में रत्नत्रय का स्वरूप

(रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय बरेली द्वारा स्वीकृत शोधप्रबन्ध)

आशीर्वाद व प्रेरणा -

आध्यात्मिक संत देवगढ़ जीर्णोउद्धारक पूज्य मुनि श्री १०८ सुधासागरजी महाराज

एवं क्षु. गम्भीरसागरजी महाराज एवं क्षु. धैर्यसागरजी महाराज

-: सम्पादक द्वय :-

डॉ. रमेशचन्द जैन
एम.ए., पी-एच. डी., डी लिट्
जैन दर्शनाचार्य
संस्कृत विभाग
बिजनौर (उ प्र.)

डॉ. अरूणकुमार शास्त्री
व्याकरणाचार्य
सरस्वती भवन
सेठजी की नसीयाँ
ब्यावर (राज.)

लेखक :
नरेन्द्रकुमार जैन शास्त्री
एम. ए., पी. एच. डी
सनावद (म.प्र)

-: प्रकाशक :-
आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र
ब्यावर (राज.)

परम पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज

आशीर्वाद एवं प्रेरणा :
मुनि श्री सुधासागरजी महाराज एवं
क्षु. श्री गंभीरसागरजी, एवं क्षु. श्री धैर्यसागरजी महाराज

सौजन्यता :

प्रकाशक :
(1) आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ-विमर्श केन्द्र सरस्वती भवन,
सेठ जी की नसियाँ, ब्यावर (राज.)

मुद्रण एवं लेज़र टाइप सैटिंग :
निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्टस
पुरानी मण्डी, अजमेर फोन 422291

समर्पण

卐

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी,

जिनशासन प्रभावक देवगढ़

आदि तीर्थो के परम उद्धारक

सुयोग्य वक्ता एवं प्रभावी प्रवचनकार

श्रमणसाधना में अहर्निश तत्पर

मुनि श्री १०८ सुधासागरजी महाराज

के

कर कमलों में यह कृति

श्रद्धा और विनय भावना के साथ समर्पित

गुरुचरण चञ्चरीक

- नरेन्द्र कुमार जैन

प्रकाशकीय

चिरंतन काल से भारत मानव समाज के लिये मूल्यवान विचारों की खान बना हुआ है। इस भूमि से प्रकट आत्मविद्या एवं तत्व ज्ञान में सम्पूर्ण विश्व का नव उदात्त दृष्टि प्रदान कर उसे पतनोमुखी होने से बचाया है। इस देश से एक के बाद एक प्राणवान प्रवाह प्रकट होते रहे। इस प्राणवान बहूमूल्य प्रवाहों की गति की अविरलता में जैनाचार्यो का महान योगदान रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विश्व की आदिम सभ्यता और संस्कृति के जानने के उपक्रम में प्राचीन भारतीय साहित्य की व्यापक खोजबीन एवं गहन अध्यनादि कार्य सम्पादिक किये गये। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक प्राच्यवाङ्मय की शोध, खोज व अध्ययन अनुशीलनादि में अनेक जैन-अजैन विद्वान भी अग्रणी हुए। फलत: इस शताब्दी के मध्य तक जैनाचार्य विरचित अनेक अंधकाराच्छादिक मूल्यवान ग्रन्थरत्न प्रकाश में आये। इन गहनीय ग्रन्थों में मानव जीवन की युगीन समस्याओं को सुलझाने का अपूर्व सामर्थ्य है। विद्वानों के शोध-अनुसंधान-अनुशीलन कार्यों को प्रकाश में लाने हेतु अनेक साहित्यिक संस्थाए उदित भी हुई, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं में साहित्य सागर अवगाहनरत अनेक विद्ववानों द्वारा नवसाहित्य भी सृजित हुआ है, किन्तु जैनाचार्य-विरचित विपुल साहित्य के सकल ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ/अनुशीलनार्थ उक्त प्रयास पर्याप्त नहीं हैं। सकल जैन वाङ्मय के अधिकांश ग्रन्थ अब भी अप्रकाशित हैं, जो प्रकाशित भी है तो शोधार्थियों को बहुपरिश्रमोपरान्त भी प्राप्त नहीं हो पाते हैं। और भी अनेक बाधायें/समस्याऐं जैन ग्रन्थों के शोध-अनुसन्धान-प्रकाशन के मार्ग में है, अत: समस्याओं के समाधान के साथ-साथ विविध संस्थाओं-उपक्रमों के माध्यम से समेकित प्रयासों की आवश्यकता एक लम्बे समय से विद्वानों द्वारा महसूस की जा रही थी।

राजस्थान प्रान्त के महाकवि ब्र भूरामल शास्त्री (आ ज्ञानसागर महाराज) की जन्मस्थली एवं कर्म स्थली रही है। महाकवि ने चार-चार संस्कृत महाकाव्यों के प्रणयन के साथ हिन्दी संस्कृत में जैन दर्शन सिद्धान्त एवं अध्यात्म के लगभग 24 ग्रन्थों की रचना करके अवरुद्ध जैन साहित्य-भागीरथी के प्रवाह को प्रवर्तित किया। यह एक विचित्र संयोग कहा जाना चाहिये कि रससिद्ध कवि की काव्यरस धारा का प्रवाह राजस्थान की मरुधरा से हुआ। इसी राजस्थान के भाग्य से श्रमण परम्परोन्नायक सन्तशिरोमणी आचार्य विद्यासागर जी महाराज के सुशिष्य जिनवाणी के यर्थाथ उद्घोषक, अनेक ऐतिहासिक उपक्रमों के समर्थ सूत्रधार, अध्यात्मयोगी युवामनीषी पू. मुनिपुंगव सुधासागर जी महाराज का यहाँ पदार्पण हुआ। राजस्थान की धरा पर राजस्थान के अमर साहित्यकार के समग्रकृतित्व पर एक अखिल भारतीय विद्वत/संगोष्ठी सागानेर में दिनांक 9 जून से 11 जून, 1994 तथा अजमेर नगर में महाकवि की महनीय कृति "वीरोदय" महाकाव्य पर अखिल भारतीय विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 13 से 15 अक्टूबर 1994 तक आयोजित हुई व इसी सुअवसर पर दि. जैन समाज, अजमेर ने आचार्य ज्ञानसागर के सम्पूर्ण 24 ग्रन्थ मुनिश्री के 1994 के चार्तुमास के दौरान प्रकाशित कर/लोकार्पण कर अभूतपूर्व ऐतिहासिक काम करके श्रुत की महत् प्रभावना की। पू. मुनि श्री के सानिध्य में आयोजित इन संगोष्ठियों में महाकवि के कृतित्व पर अनुशीलनात्मक-आलोचनात्मक, शोधपत्रों के वाचन सहित विद्वानों द्वारा जैन साहित्य के शोध क्षेत्र में आगत अनेक समस्याओं पर चिन्ता व्यक्त की गई तथा शोध छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान करने,

शोधार्थियों को शोध विषय सामग्री उपलब्ध कराने, ज्ञानसागर वाङ्मय सहित सकल जैन विद्या पर प्रख्यात अधिकारी विद्वानों द्वारा निबन्ध लेखन - प्रकाशनादि के विद्वानों द्वारा प्रस्ताव आये। इसके अनन्तर मास 22 से 24 जनवरी तक 1995 में ब्यावर (राज.) में मुनिश्री के संघ सानिध्य में आयोजित "आचार्य ज्ञानसागर राष्ट्रीय संगोष्ठी" में पूर्व प्रस्तावों के क्रियान्वन की जोरदार मांग की गई तथा राजस्थान के अमर साहित्यकार, सिद्वसारस्वत महाकवि ब्र. भूरामल जी की स्टेच्यू स्थापना पर भी बल दिया गया, विद्वत् गोष्ठि में उक्त कार्यो के संयोजनार्थ डॉ. रमेशचन्द्र जैन बिजनौर और मुझे संयोजक चुना गया। मुनिश्री के आशीष से ब्यावर नगर के अनेक उदार दातारों ने उक्त कार्यों हेतु मुक्त हृदय से सहयोग प्रदान करने के भाव व्यक्त किये।

पू. मुनिश्री के मंगल आशिष मे दिनांक 18.3.95 को त्रैलोक्य तिलक महामण्डल विधान के शुभप्रसंग पर सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में जयोदय महाकाव्य (2 खण्डों में) के प्रकाशन सौजन्य प्रदाता आर के. मार्बलस किशनगढ़ के रतनलाल कंवरीलाल पाटनी श्री अशोक कुमार जी एवं जिला प्रमुख श्रीमान् पुखराज पहाड़िया, पीसांगन के करकमलों द्वारा इस संस्था का श्रीगणेश आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के नाम से किया गया।

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के माध्यम से जैनाचार्य प्रणीत ग्रन्थों के साथ जैन संस्कृति के प्रतिपादक ग्रन्थों का प्रकाशन किया जावेगा एवं आचार्य ज्ञानसागर वाङ्मय का व्यापक मूल्यांकन - समीक्षा - अनुशीलनादि कार्य कराये जायेंगे। केन्द्र द्वारा जैन विद्या पर शोध करने वाले शोधार्थी छात्र हेतु 10 छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था की जा रही है।

केन्द्र का अर्थ प्रबन्ध समाज के उदार दातारों के सहयोग से किया जा रहा है। केन्द्र का कार्यालय सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में प्रारम्भ किया जा चुका है। सम्प्रति 10 विद्वानों को विविध विषयों पर शोध निबन्ध लिखने हेतु प्रस्ताव भेजे गये, प्रसन्नता का विषय है 25 विद्वान अपनी स्वीकृति प्रदान कर चुके हैं तथा केन्द्र ने स्थापना के प्रथम मास में ही निम्न पुस्तकें प्रकाशित की -

प्रथम पुष्प -	इतिहास के पन्ने -	आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित
द्वितीय पुष्प -	हित सम्पादक -	आचार्य ज्ञानसागरजी द्वारा रचित
तृतीय पुष्प -	तीर्थ प्रवर्तक -	मुनिश्री सुधासागरजी महाराज के प्रवचनों का संकलन
चतुर्थ पुष्प -	जैन राजनैतिक चिन्तन धारा -	डॉ. श्रीमती विजयलक्ष्मी जैन
पंचम पुष्प -	अञ्जना पवनंजयनाटकम्	डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर
षष्टम पुष्प -	जैनदर्शन में रत्नत्रय का स्वरुप -	डॉ. नरेन्द्रकुमार द्वारा लिखित पुस्तक

(पी. एच डी हेतु स्वीकृत) प्रकाशित की जा रही हैं। जैन दर्शनानुसार मोक्ष मार्ग के मूल सूत्र सम्यकदर्शन, सम्यकज्ञान एवं सम्यक चारित्र हैं। इन तीनों सूत्रों के लिये लेखक ने आगमानुकूल सिद्ध कर भव्य जीवों के लिए मोक्ष मार्ग प्रस्तुत किया हैं।

अस्तु।

अरुण कुमार शास्त्री,
ब्यावर

प्रस्तावना

संस्कृत भाषा में निबद्ध जैनों के प्रथम दार्शनिक सूत्र ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र का पहला सूत्र है- "सम्यदर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग: ' अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता मोक्ष का मार्ग है। प्राय: सभी दार्शनिक परम्परायें मोक्ष को स्वीकार करती है, उसके स्वरूप के विषय में अधिक विवाद नहीं है किन्तु मोक्ष का मार्ग क्या है ? इसके विषय में विवाद है। जैनदर्शन एकमत से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता को मोक्ष का मार्ग स्वीकार करता है। जैन परम्परा के सभी ग्रन्थ इसी के पोषण के लिए लिखे गए हैं अत: इन तीनों (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) को रत्नत्रय के नाम से कहा गया है। और इसे धर्म स्वीकार किया गया है। कहा भी है-

धम्मो वत्थु-सहावो खमादि भावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्रयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥
स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा-४७८

अर्थात वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। दस प्रकार के क्षमादिभाव को धर्म कहते हैं। रत्नत्रय को धर्म कहते हैं और जीवों की रक्षा करने को धर्म कहते हैं।

रत्नत्रय में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन को ही प्राप्त करने योग्य बतलाया है। कहा गया है-

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय-२१

उन तीनों में पहले सम्पूर्ण प्रयत्नों से सम्यग्दर्शन भले प्रकार प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि उस सम्यग्दर्शनके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र होता है।

जीव अजीव आदिक तत्त्वों का मिथ्या अभिप्राय रहित मिथ्याज्ञानरहित जैसे का तैसा सदा ही श्रद्धान -विश्वास-अभिरुचि-प्रतीति करना चाहिए, वही श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है।

प्रवचनसार में कहा है कि कोई मुनि संयम, तप तथा आगम से युक्त होकर भी जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए जीवादि पदार्थो का श्रद्धान नहीं करता है तो वह श्रमण नहीं है मुनि नहीं है ऐसा माना गया है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन से हीन मुनि श्रमणाभास है। अत: सम्यक्त्व की प्राप्ति आवश्यक है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र भजनीय (प्राप्तव्य, प्राप्त करने योग्य) हैं। सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान में उत्पन्न हो जाता है ओर प्रतिपक्षी कर्म के सर्वथा क्षय से प्रगट होने वाली पूर्णता सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक पूर्ण प्रगट हो जाती है, उसके पूर्ण होने पर भी सम्यग्ज्ञान की पूर्णता नहीं हो पाती, इसलिए वह सम्यग्दर्शन के पीछे भजनीय बना रहता है। सम्यग्ज्ञान भी चौथे गुणस्थान से प्रकट होकर तेरहवें गुणस्थान (सयोग केवली) के प्रथम क्षण में-प्रारम्भकाल में ही पूर्ण (सर्वज्ञ) ज्ञान हो जाता है। उसके पूर्ण होने पर भी सम्यक् चारित्र भजनीय

बना रहता है । सम्यक् चारित्र पाँचवे से व्यक्त होता है और बारहवें क्षीणकषाय में ही पूर्ण हो जाता है ।

शङ्का

सम्यक् चारित्र जब क्षीणकषाय में ही पूर्ण हो जाता है और सम्यग्ज्ञान तेरहवें में पूर्ण होता है तो इससे तो यह बात सिद्ध होती है कि सम्यक् चारित्र होने पर सम्यग्ज्ञान भजनीय है, परन्तु सम्यग्ज्ञान के पीछे चारित्र को भजनीय कहा गया है, यह कैसे हो सकता है ?

समाधान

सम्यक्चारित्र यद्यपि बारहवें गुणस्थान तक पूर्ण हो जाता है परन्तु जिसे परमावगाढ़ चारित्र की पूर्णता कहते हैं जो कि मोक्ष प्राप्ति में साक्षात् (पूर्वक्षणवर्ती) कारण पड़ता है, उसकी पूर्ति चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान में ही होती है, उसके पहले नहीं होती । क्षीणकषाय में प्रतिबंधी कषायों के सर्वथा नष्ट हो जाने से यद्यपि पूर्णचारित्र प्रकट हो जाता है, परन्तु फिर भी योग आदिक शक्तियों के विभावपरिणमन के रहने से एवं समस्त आत्माय गुणों में तादात्मय सम्बन्ध (एकत्वभाव) होने से चारित्र भी चरमविशुद्धि के लिए भजनीय बना रहता है । सम्यक् चारित्र की परम (चरम) श्रेणी की महाविशुद्धि यही है कि समस्त आत्मा के गुणों का विशुद्ध हो जाना है। जहाँ तक एक भी गुण विभाव अवस्था में रहेगा, वहाँ तक सम्यक् चारित्र भी परमावगाढ़ श्रेणी तक नहीं पहुँच सकेगा । इसलिए क्षीणकषाय में सम्यक्चारित्र के पूर्ण होने पर भी सयोगकेवली तक योगशक्ति विभावरुप धारण करती रहती है, तब तक सम्यक्चारित्र भजनीय है । इसी से सम्यकज्ञान होने पर सम्यचरित्र को भजनीय कहा गया है । जहाँ सयोगी के अन्त होने पर योगगुण स्वभाव अवस्था में परिणमन करने लगा, वही अयोगी गुणस्थान में आत्मा अवशिष्ट कर्मो का व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक परम शुक्लध्यान से एकदम ध्वंस करके अन्तमुर्हर्तमात्र में अविनश्वर धाम सिद्धालय में जा विराजता है ।

रत्नत्रय से बन्ध नहीं होता, क्योंकि सम्यग्दर्शन आत्मविनिश्चिति कहा जाता है, आत्मा का सम्यक् प्रकार ज्ञान करना बोध या सम्यग्ज्ञान कहा जाता है, आत्मा में स्थिर होना सम्यक्चारित्र कहा जाता है इनसे बन्ध कैसे हो सकता है ?

शङ्का - रत्नत्रय धारण करने वाले मुनिवरों के समस्त जनों में प्रसिद्ध देवायु को आदि लेकर शुभ प्रकृतियों का बन्ध कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान - इस लोक में अथवा इस आत्मा में रत्नत्रय निर्वाण का ही कारण होता है और किसी का-बन्ध का नहीं, किन्तु जो पुण्य का आस्रव होता है, वह अपराध शुभ उपयोग का है4।

इस प्रकार मोक्षमार्ग के साधक रत्नत्रय पर प्रिय अनुज नरेन्द्र कुमार जैन ने एक शोध प्रबन्ध ''जैनदर्शन में रत्नत्रय का स्वरूप लिखा था, जिस पर रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय बरेली द्वारा उन्हें पी एच डी उपाधि से विभूषित किया गया । यही शोधप्रबन्ध अब सर्वसाधारण के समक्ष प्रकाश में आ रहा है । आशा है, इससे सुधी पाठक रत्नत्रय की शिक्षा ग्रहण करेंगे

भगवान महावीर निर्वाण दिवस
१९९४ ई.

रमेशचन्द जैन

दो शब्द

जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है । ये तीनों ही रत्नत्रय संज्ञा से विभूषित हैं ।

सम्यग्दर्शन की जैनदर्शन में निम्नलिखित परिभाषायें प्राप्त होती हैं-

1- तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ।

2- सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु का तीन मूढ़ता रहित, आठ मद रहित, आठ अङ्ग सहित श्रद्धान करना ।

3- अपना और पर के यथार्थ स्वरुप का श्रद्धान ।

4- आत्मविनिश्चिति का नाम सम्यग्दर्शन है ।

ये तीनों लक्षण यद्यपि भिन्न भिन्न दिखाई देते हैं किन्तु इनमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि बिना तत्त्वार्थ का श्रद्धान हुए सच्चे देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान नहीं हो सकता । तथा सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान हुए बिना तत्त्वार्थ का श्रद्धान भी सम्भव नहीं है । तत्त्वार्थ केश्रद्धान का मुख्य प्रयोजन आत्म श्रद्धान है अत: सम्यग्दर्शन का लक्षण आत्म विनिश्चय कहा है। यह विनिश्चिति भेदज्ञान मूलक स्व संवित्ति मे ही सम्भव है ।

स्व और पर पदार्थ के यथार्थ ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं । जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश और ताप एक साथ उत्पन्न होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं । सम्यग्ज्ञान प्रमाण है । जिनेन्द्र भगवान को युगपत् सर्व पदार्थों को प्रतिभासन होता है तथा अन्य लोगों को जो कुप्रभावी यथार्थ ज्ञान होता है वह स्याद्वाद नय से संस्कृत होता है जो स्याद्वाद नय से युक्त नहीं होता वह ज्ञान मिथ्या है । जैन ग्रन्थों में ज्ञान को सम्यक् और मिथ्या दो रूपो में बतलाकर उनके भेद प्रभेदों की विस्तृत व्याख्या की गई है ।

सम्यग्दर्शन सहित जो चारित्र है उसे सम्यक्चारित्र कहते हैं । बिना सम्यक्त्व के चारित्र का कोई मूल्य नहीं है । सम्यग्दर्शन नींव है जिसके ऊपर चरित्र रूपी महल खड़ा होता है यह चारित्र श्रावक (गृहस्थ) और मुनि कीं अपेक्षा दो प्रकार का होता है एक को विकल चारित्र तथा दूसरे को सकल चारित्र कहते हैं । आचार में दोनो का प्रतिपादन हुआ है तथा दोनों का उद्देश्य शुद्धात्मा की उपलब्धि होना लिखा है ।

सम्यक्त्व के विपरीत प्रवृत्ति का नाम मिथ्यात्व है । आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि तीनों कालों और तीनों लोकों में सम्यक्त्व से बढ़कर कोई कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व से बढ़कर कोई अकल्याणकारी नहीं है । संसार की जड़ मिथ्यात्व है उस पर कुठाराघात सम्यक्त्व से होता है । सम्यक्त्व से जो भ्रष्ट हैं वही यथार्थ में भ्रष्ट हैं तथाउनका निर्वाण दूरतर है। अत: सम्यक्त्व को भली भाँति धारण करना चाहिए । इससे दृष्टि खुलती है । जो संसार को संसार के ही रुप में देखता है उसमें विमुग्ध नहीं होता है, वह सम्यग्दृष्टि है और जो उसमें विमुग्ध है वह मिथ्यादृष्टि है । मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है, वह तन की उत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति और तन के विनाश में अपना

विनाश मानता है। उसे आत्मा, अनात्मा का बोध नहीं होता है । आत्मा और अनात्मा का बोध हुए बिना जितनी क्रियाये हैं वे सब शरीर और इन्द्रियों को क्षीण करने वाली हैं । उनसे आत्म कल्याण नहीं होता है । जीवत्व नामक पारिणामिक भाव के अनुभव करते हुए सम्यग्दृष्टि को निर्विकार स्वसंवेदन होता है वही आगे जाकर केवलज्ञान के रुप में विकसित होता है और उसी से मोक्ष होता है ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की जैनतत्व और आचरण के क्षेत्र में महती उपयोगिता है । इनका प्रतिपादन यद्यपि अनेक ग्रन्थों में है । तथापि अभी तक आधुनिक दृष्टि से इस विषय पर अभी तक शोध कार्य नहीं हुआ है । प्रस्तुत शोध- प्रबन्ध (जैनदर्शन में रत्नत्रय का स्वरूप) के माध्यम से रत्नत्रय के इन तीन अङ्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के लक्षण स्वरूप, महत्ता एवं विश्लेषण की जानकारी भली भाँति हो सकेगी, जिससे दर्शन के विद्यार्थी ही लाभान्विन नहीं होगे, अपितु जनसाधारण भी लाभान्वित होगा ।

आभार प्रदर्शन

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के लेखन में जिन महान् आचार्यो एवम् विद्वानों की रचनाओं से मैं लाभान्वित हुआ, उनकेप्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हुआ अपने श्रद्धासुमन उन्हें समर्पित करता हूँ । श्रद्धेय पं फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री, पं. अमृतलाल शास्त्री जैनदर्शनाचार्य, पं कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं जगमोहन लाल शास्त्री, डॉ लाल बहादुर शास्त्री, एवम् पं उदयचन्द्र जैन बौद्धदर्शनाचार्य प्रभृति विद्वानों की रचनाओं से मैं लाभान्वित हुआ । मेरे निर्देशक डॉ प्रमोद कुमार ने समय समय पर उचित निर्देश देकर मेरे कार्य को आगे बढ़ाया । इन सबके प्रति मैं हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करता हूँ । जैन मन्दिर, बिजनौर एवम वर्द्धमान कॉलेज बिजनौर के पुस्तकालयों मे मुझे ग्रन्थ सुलभ हुए, इनके संचालको के प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ । अर्थ सहयोगी को मेरी ओर से अनेकानेक धन्यवाद ।

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, जिनशासन प्रभावक मुनिश्री १०८ सुधासागरजी महाराज रत्नत्रय धर्म के साक्षात् मूर्तिमन्त रूप है । उनकी वाणी का श्रवण और दर्शनों का लाभ भव भव के पातक दूर कर देता है उनके पावन चरणों में शत शत नमोऽस्तु समर्पित करता हुआ मैं प्रशान्तमूर्ति क्षुल्लक द्वय श्री गम्भीरसागर जी महाराज तथा धैर्यसागर जी महाराज के प्रति प्रणति अर्पित करता हूँ जैन जयतु शासनम् ।

- नरेन्द्र कुमार जैन

विषयानुक्रमणिका

चतुर्थ अध्याय :: सम्यक्त्व के आठ अङ्ग

पृष्ठ संख्या 39-50

पंचम अध्याय :: सम्यग्ज्ञान

पृष्ठ संख्या 52-82

षष्ठ अध्यायं :: सम्यक्चारित्र

पृष्ठ संख्या 83-116

सप्तम अध्याय :: सम्यक्चारित्र (सर्वदेश चारित्र) **पृष्ठ संख्या 117-156**

प्रथम अध्याय

रत्नत्रय का स्वरूप

एक साथ सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चरित्र स्वरूप आत्मा की प्रवृत्ति रत्नत्रय है[1]। बिना रत्नत्रय को प्राप्त किये आज तक किसी मनुष्य ने कहीं और कभी भी किसी दूसरे उपाय से शुद्ध चिद्रुप को प्राप्त नहीं किया। सभी ने पहले रत्नत्रय को पाकर शुद्ध चिद्रुप की प्राप्ति की है[2]। जिस प्रकार तप के बिना ऋषि, पिता के बिना पुत्री और मेघ के बिना वर्षा नहीं हो सकती[3]। पद्मनन्दि पञ्चविशंकिा के एकत्व सप्तपि नाम के अधिकार में 14वें श्लोक में कहा गया है कि आत्मा का निश्य दर्शन है, आत्मा का बोध ज्ञान है, आत्मा में ही स्थित चारित्र है, ऐसा योग अर्थात् इन तीनों की योग्यता शिवपद (मोक्षमार्ग) का कारण है[4]।

व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग :- धर्म आदि द्रव्यों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है अङ्ग और पूर्व में प्रवृत्त होने वाला सम्यग्ज्ञान है और तप धारण करना सम्यक् चारित्र है। इन तीनों का एक साथ मिलना व्यवहार मोक्षमार्ग है[5]।

निश्चय नय से सम्यग्दर्शन, सम्यकज्ञान और सम्यक् चारित्र से तन्मय हो, अन्य परद्रव्य को न करता है, न छोड़ता है, वही मोक्षमार्ग है[6]। तात्पर्य यह है कि जो जीव पर पदार्थ से भिन्न आत्म स्वरूप में चरण करता है, उसे ही जानता और देखता है, वही सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान और सम्ययग्दर्शन है[7]। उक्त तीनों यदि पराश्रित होगें तो उनसे बन्ध होगा और यदि स्वाश्रित होगे तो मोक्ष होगा[8]। श्री देवसेनाचार्य ने तत्वसार में कहा है -

ससहावं वेदंतो णिच्चलचित्तों बिमुक्कपरभावो ।
सो जीवो णायव्वो दंसण णाणं चरित्तं-च ।।56।

अपने स्वभाव को अनुभव करता हुआ जो जीव परभाव को छोड़कर निश्चल चित्त होता है, वही जीव सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है और सम्यक्चारित्र है, ऐसा जानना चाहिए।

रत्नत्रयी आत्मध्यानी है -.जो योगी - ध्यानस्थ मुनि जिनेन्द्रदेव के मतानुसार रत्नत्रय की आराधना करता है, वह आत्मा का ध्यान करता है और पर पदार्थ का त्याग करता है, इसमें सन्देह नहीं है[9]।

ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र व्यवहार से है - आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा है-

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं ।
ण-वि णाणं-ण चरित्तंण दसंणं जाणनो सुद्धो ।। समयसार-7 ।

ज्ञानी के चारित्र, दर्शन, ज्ञान- यह तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं निश्चय से ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है, और दर्शन भी नहीं है, ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

तात्पर्य यह है कि इस ज्ञायक आत्मा के बन्ध-पर्याय के निमित्त से अशुद्धता तो दूर रही, किन्तु उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी विद्यमान नहीं है, क्योंकि अनन्त धर्मों वाले एक धर्मी में जो निष्णात नहीं है, ऐसे निकटवर्ती शिष्यों को धर्मी को बतलाने वाले कितने ही धर्मो के द्वारा उपदेश करते हुए आचार्यों का, यद्यपि धर्म और धर्मी का स्वभाव से अभेद है तथापि नाम से भेद करके

व्यवहार मात्र से ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है, किन्तु परमार्थ से देखा जाय तो अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य पी गया होने से जो एक हैं, ऐसे कुछ मिले हुए आस्वाद वाले अभेद एक स्वभावी तत्त्व का अनुभव करने वाले को दर्शन भी नहीं है, ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है, एक शुद्ध ज्ञायक ही है[10] ।

सम्यँग्दर्शनादि को आच्छादित करने वाले कर्म – जिस प्रकार वस्त्र का श्वेतपना मल के निमित्त से नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन रूपी मल से आच्छादित हो नष्ट हो जाता है । जिस प्रकार वस्त्र का श्वेतपना मल के गिरने से आसक्त हुआ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार अज्ञानरूपी मल से आच्छादित हुआ जीव का ज्ञान नष्ट हो जाता है । जिस प्रकार वस्त्र का श्वेतपना मल के मिलने से आसक्त हुआ नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कषाय रूपी मल से आच्छादित चारित्र गुण हो रहा है । सबको जानने देखने वाला आत्मा अपने कर्मरूपी रज से आच्छादित हुआ संसार दशा को प्राप्त हो रहा है और सब तरह से सब वस्तुओं को नहीं जानता है । सम्यक्त्व को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है । उसके उदय से जीव अज्ञानी होता है तथा चारित्र से रहित हो जाता है[11] ।

निश्चय बन्ध और व्यवहार बन्ध - जीवों के जो रागादि भाव हैं, वे ही निश्चय से बन्ध हैं । व्यवहार बन्ध इससे विपरीत कहा है, अर्थात् आत्मा के साथ कर्मो का जो एक क्षेत्रावगाह होता है वह व्यवहार बन्ध है[12] ।

दर्शन ज्ञान चारित्र में एक साथ प्रवत्ति करने वाला मुनि ही एकाग्रता को प्राप्त होता है[13]- यदि साधु अन्य द्रव्य को पाकर मोह करता है अथवा राग करता है, अथवा द्वेष करता है तो वह अज्ञानी है तथा विविध कर्मों से बद्ध होता है[14] । जो मुनि बाह्य पदार्थों में न मोह करता है, न राग करता है, न द्वेष करता है वह निश्चित ही अनेक कर्मों का क्षय करता है[15] ।

चारित्रहीन मुनि – जो मुनि जिनेन्द्रदेव की आज्ञा में स्थित अन्य मुनि को देखकर द्वेषवश उनकी निन्दा करता है तथा अभ्युत्थान आदि क्रियाओं के होने पर प्रसन्न नहीं होता, वह निश्चय से चारित्र रहित है[16] । जो मुनि संयम, तप और आगम से युक्त होकर भी जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे हुए जीवादि पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता, वह श्रमण नहीं है । जो मुनि स्वयं गुणों का धारक न होता हुआ भी, मैं मुनि हूँ इस अभिमान वश अधिक गुण वाले महामुनियों से विनय की इच्छा करता है, वह अनंत संसारी है । जो मुनि मुनिपद में स्वयं अधिक गुणवाला होकर गुणहीन मुनियों के साथ वन्दनादिक क्रियाओं में प्रवत्त होते हैं, वे मिथ्यात्व से युक्त तथा चारित्र से भ्रष्ट होते हैं[17]।

जीव की शुभ अशुभ और शुद्ध दशा- जीव जिस समय शुद्ध अथवा अशुद्ध रुप परिणमन करता है, उस समय शुभ अथवा अशुभ हो जाता है और जिस समय शुद्ध रुप परिणमन करता है, उस समय उसके शुद्ध रूप परिणाम का सद्भाव होता है[18] ।

शुभोपयोग का स्वरुप – जो आत्मा देव, यति, गुरु की पूजा में, दान में, गुणव्रत, महाव्रत रूप का उत्तम शीलों में और उपवास आदि शुभ कार्यों में लीन रहता है, वह शुभोपयोगी कहलाता है । जो आत्मा शुभोपयोग से रहित है वह तिर्यञ्च, मनुष्य अथवा देव होकर उतने समय तक इन्द्रिय जन्य विविध सुखों को पाता है[19] । अन्य की बात जाने दो, देवों के भी स्वभाव जन्य सुख नहीं है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान के उपदेश में युक्तियों से सिद्ध है, वास्तव में शरीर की वेदना से पीड़ित

होकर जीव रमणीय विषयों में रमण करते हैं। जबकि मनुष्य नारकी, तिर्यंच और देव चारों ही गति से जीव शरीर से उत्पन्न होने वाला दु:ख भोगते हैं। सब जीवों का वह उपयोग शुभ अथवा अशुभ कैसे हो सकता है ? इन्द्रिय जन्य दुखों का कारण होने से शुभोपयोग और अशुभोपयोग समान ही है। निश्चय से इनमें कुछ अन्तर नहीं है। इन्द्र तथा चक्रवर्ती सुखियों के समान लीन हुए तीनों शुभोपयोगात्मक भोगों से शरीर आदि की ही वृद्धि करते हैं। शुभोपयोग का उत्तम फल देवों में इन्द्र को और मनुष्यों में चक्रवर्ती को ही प्राप्त होता है परन्तु उस फल से वे अपने शरीर को ही पुष्ट करते हैं न कि आत्मा को भी। वे वास्तव में दु:खी रहते हैं, परन्तु बाह्य में सुखियों के समान मालूम होते हैं। यह ठीक है कि शुभोपयोग रूप परिणामों से उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के पुण्य विद्यमान रहते हैं, परन्तु वे देवों तक समस्त जीवों की विषयतृष्णा ही उत्पन्न करते हैं। शुभोपयोग के फलस्वरूप अनेक भोगोपभोगों की सामग्री उपलब्ध होती है, उससे समस्त जीवों की विषय तृष्णा ही बढ़ती है इसलिए शुभोपयोग को अच्छा कैसे कहा जा सकता है ? फिर जिन्हें तृष्णा उत्पन्न हुई है, ऐसे समस्त संसारी जीव तृष्णाओं से दु:खी और दु:खों से संतप्त होते हुए विषय जन्य सुखों की इच्छा करते हैं और मरण पर्यन्त उन्हीं का अनुभव करते रहते हैं। विषय जन्य सुखों से तृष्णा बढ़ती है, और तृष्णा ही दु:ख का कारण है। अत: शुभोपयोग के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले विषय सुख हेय है - छोड़ने योग्य है। जो सुख पाँच इन्द्रियों से प्राप्त होता है, वह पराधीन है, बाधा सहित है। बीच में नष्ट हो जाने वाला है, बन्ध का कारण है, और विषम है, हानि वृद्धि रूप है इसलिए दु:ख ही है। शुभोपयोग से पुण्य होता है और पुण्य से इन्द्रिय जन्य सुख मिलता है परन्तु यथार्थ में विचार करने पर वह इन्द्रियजन्य सुख-दुख रूप ही मालूम होता है। पुण्य और पाप में (बन्धन की अपेक्षा) विशेषता नहीं है, ऐसा जो नहीं मानता है वह मोक्ष से आच्छादित होता हुआ भयानक और अंतरहित संसार में भटकता रहता है[20]।

प्रवचनसार में अन्यत्र कहा गया है कि जो जीव जिनेन्द्रों को जानता है, सिद्धों तथा अनगारों (आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधुओं) की श्रद्धा करता है और जीवों के प्रति अनुकम्पायुक्त है, उसके वह शुभ उपयोग है[21]। यदि मुनि अवस्था में अरहन्त आदि में भक्ति तथा परमागम से युक्त महामुनियों में वत्सलता - गोवत्स की तरह स्नेहानुवृत्ति है, तो वह शुभोपयोग से युक्त चर्या है[22]। सरागचारित्र की दशा में अपने से पूज्य मुनियों की वन्दना करना, नमस्कार करना, आते हुए देख उठकर खड़ा होना, जाते समय पीछे- पीछे चलना इत्यादि प्रवृत्ति तथा उनके श्रम थकावट को दूर करना निन्दित नहीं है[23]।

शुभोपयोगी मुनि की प्रवृत्तियाँ - दर्शन और ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का संग्रह करना, उनका पोषण करना तथा जिनेन्द्र देव की पूजा का उपदेश देना यह सब सरागी मुनियों की प्रवृत्ति है[24]। जो ऋषि, मुनि, यति, अनगार के भेद से चतुर्विध मुनिसमूह का षटकायिक जीवों की विराधना से रहित उपकार करता है - वैयावृत्य के द्वारा उन्हें सुख पहुँचाता है[25], वह भी सरागप्रधान अर्थात शुभोपयोग श्रमण गृहस्थ अथवा मुनिधर्म की चर्या से युक्त श्रावक और मुनियों का निरपेक्ष हो दयाभाव से उपकार करें[26]। शुभोपयोगी मुनि किसी अन्य मुनि को रोग से, भूख से, प्यास से अथवा श्रम -थकावट आदि से आक्रान्त देख उसे अपनी शक्ति के अनुसार स्वीकृत करें अर्थात वैयावृत्य द्वारा उसका भेद दूर करें। ग्लान (बीमार) गुरु बाल अथवा वृद्ध साधुओं की वैयावृत्य के निमित्त शुभ भावों सहित लौकिक जनों के साथ वार्तालाप भी निन्दित नहीं है[27]।

मुनियों और श्रावकों का शुभोपयोग – शुभराग रूप प्रवृत्ति मुनियों के अल्प रूप में और गृहस्थों के उत्कृष्ट रूप में होती है। गृहस्थ इसी शुभ प्रवत्ति से उत्कृष्ट सुख प्राप्त करते हैं[28]।

अशुभपयोग का स्वरूप – जीव का जो उपयोग विषय और कषाय से व्याप्त है, मिथ्या शास्त्रों का सुनना, आर्त्त रौद्र खोटे ध्यानों में प्रवृत्त होना तथा दुष्टकुशील मनुष्यों के साथ गोष्ठी करना आदि कार्यों से युक्त है, हिंसादि पापों के आचरण में उग्र है और उन्मार्ग-विपरीत मार्ग के चलाने में तत्पर है वह शुभोपयोग है[29]।

अशुभपयोग का फल – अशुभपयोग रूप परिणमन से जीव खोटा मनुष्य, तिर्यंच और नारकी होकर हजारों दु:खों से दु:खी होता हुआ सदा संसार में अत्यन्त भ्रमण करता रहता है। अशुभपयोग में चारित्र का अल्पमात्र भी सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए यह जीव अशुभ कर्मों का बन्ध कर दुर्गतियों में निरन्तर भ्रमण करता रहता है[31]।

शुद्धोपयोग – जो अशुभोपयोग से रहित है और शुभोपयोग में भी उद्यत नहीं हो रहा है, ऐसा मैं आत्मातिरिक्त अन्य द्रव्यों में मध्यस्थ होता हूँ और ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही ध्यान करता हूँ। शुद्धोपयोग को चाहने वाले की ऐसी भावना होती है। जिन्होंने यथार्थ रुप से समस्त तत्वों को जान लिया है और जो बहिरङ्ग तथा अन्तरंङ्ग परिग्रह को छोड़कर पञ्चेन्द्रियों के विषयों में लीन नहीं हैं, वे महामुनि शुद्ध हैं। मोक्ष तत्त्व को साधन करने वाले हैं[32]।

साक्षात् मोक्ष तत्व को साधन करने वाले शुद्धोपयोगी मुनि का ही मुनिपद कहा गया है, उसी के ही दर्शन, ज्ञान कहे गये हैं, उसी को मोक्ष कहा गया है और वही सिद्ध स्वरूप है। ऐसे शुद्धोपयोगी महामुनि को नमस्कार हो[33]।

शुभ और शुद्ध परिणाम का फल – धर्म अर्थात चारित्र गुण रूप जिसका आत्मा परिणत हो रहा है, ऐसा जीव यदि शुद्धोपयोग सहित है तो निर्वाण सुख को पाता है, यदि शुभोपयोग से सहित है तो स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है[34]।

शुद्धोपयोग का फल – शुद्धोपयोग से निष्पन्न अरहन्त, सिद्ध भगवान की अतिशय रूप सबसे अधिक आत्मा से उत्पन्न विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अन्तरित सुख प्राप्त होता है[35]। जो जीव उपयोग से विशुद्ध है अर्थात शुद्धोपयोग का धारण करने वाला है, वह स्वंय ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोह रुपी रज को नष्ट करता हुआ ज्ञेयभूत समस्त पदार्थों के पार को पहुंचाता है[36]।

रत्नत्रय धारण करके भी तीव्र कषाय से दुर्गति में जाता है – स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है कि यदि यह जीव कदाचित् आर्यखण्ड में जन्म लेता है तो उत्तम कुल पाना दुर्लभ है। कदाचित् उत्तम कुल भी मिला तो धनहीन दरिद्री होता है। अथवा धनसम्पन्न भी हुआ तो इन्द्रियों की पूर्णता पाना दुर्लभ है। कदाचित् इन्द्रियाँ भी पूर्ण हुई और शरीर रोगी हुआ तो भी सब व्यर्थ है। अथवा कदाचित् नीरोग भी हुआ तो लम्बी आयु नहीं पाता। कदाचित् लम्बी आयु भी पायी तो उतम स्वभाव रूप शील को नहीं पाता। कदाचित् शील को पाता भी है तो तत्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्तव का पाना अति दुर्लभ है। कदाचित् सम्यक्तव प्राप्त कर ले तो चारित्र को ग्रहण नहीं करता और कदाचित् चारित्र भी ग्रहण कर ले तो उसे पालने में असमर्थ रहता है। कदाचित् रत्नत्रय को भी पाकर यह जीव यदि अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, और लोभरूप तीव्र कषाय को करता है तो रत्नत्रय को नष्ट करके दुर्गतियों में गमन करता है[37]।

सम्यग्दर्शन का स्वरुप

तत्वार्थ का श्रद्धान करना - आचार्य उमास्वामी ने तत्वार्थ सूत्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण देते हुए कहा है कि अपने अपने स्वरूप के अनुसार पदार्थों का जो श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन है[38]। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ जिस रूप से अवस्थित है उसका उस रूप होना यही यहाँ तत्व शब्द का अर्थ है। जो निश्चय किया जाता है वह अर्थ है - अर्थते निश्चीयते इत्यर्थः[39]। यद्यपि दर्शन शब्द का सामान्य अर्थ आलोक है तथापि यहाँ आलोक अर्थ न होकर श्रद्धान को ग्रहण किया, क्योंकि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं दृशि धातु का यहाँ अर्थ श्रद्धान ग्रहण किया गया क्योंकि यहाँ मोक्षमार्ग का प्रकरण है। तत्वार्थों का श्रद्धान रूप जो आत्मा का परिणाम होता है वह मोक्ष का साधन बन जाता है, क्योंकि वह भव्यों में ही पाया जाता है, किन्तु आलोक चक्षु आदि के निमित्त से होता है, जो साधारण रूप से सब संसारी जीवों के पाया जाता है अतः उसे मोक्षमार्ग मानना युक्त नहीं है[40]।

सच्चे देव, शास्त्र तथा गुरु का श्रद्धान करना - आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि सत्यार्थ अथवा मोक्ष के कारण स्वरूप देव, शास्त्र, गुरु का आठ अङ्ग सहित तीन मूढ़ता और आठ मद रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा जाता है[41]। जिसके क्षुधा, तृणा, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, रति, विषाद, खेद, स्वेद, निद्रा, आश्चर्य नहीं है वही वीतराग देव कहा जाता है[42]। सच्चे देव को वीतराग सर्वज्ञ और आगम का ईश होना चाहिए अन्यथा उसके आप्तपना नहीं हो सकता[43]। ऐसे आप्त युक्ति और शास्त्र के अविरोधी भगवान् तीर्थंकर देव ही हो सकते हैं क्योंकि उनका बताया हुआ आगम प्रसिद्ध प्रमाणों के द्वारा बाधित नहीं होता है[44]।

समयक्त्व के आठ अंगो का वर्णन आगे किया जायेगा। मूढ़तायें तीन होती हैं-

(1) लोक मूढ़ता, (2) देव मूढ़ता और (3) गुरु मूढ़ता।

(1) लोक मूढ़ता - धर्म समझकर नदी अथवा सागर आदि में स्नान करना, बालू तथा पत्थरों का ढेर करना, पर्वत से गिरकर मर जाना और अग्नि में जल जाना लोक मूढ़ता कही गई है[45]।

(2) देव मूढ़ता - आशावान होते हुए वर की इच्छा करके रागद्वेष रूपी मैल से मलिन देवताओं की जो उपासना की जाती है, उसे देव मूढ़ता कहते हैं[46]।

(3) गुरु मूढ़ता - परिग्रह आरम्भ और हिंसा सहित संसार के चक्र में भ्रमण करने वाले पाखण्डी साधु तपस्वियों का आदर, सत्कार, भक्ति, पूजादि करना सब गुरु मूढ़ता है[47]।

आठ मद - विद्या, प्रतिष्ठा, कुल, जाति, बल, सम्पत्ति, तप और शरीर की सुन्दरता इन आठों का आश्रय करके गर्व करना मद कहा जाता है[48]।

आत्मा विनिश्चिति रूप सम्यग्दर्शन - आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार आत्मविनिश्चिति का नाम सम्यग्दर्शन है[49]।

सम्यग्दर्शन के अन्य लक्षण - श्री उमास्वामी आचार्य ने श्रावकाचार में कहा है- तीर्थंकर परमदेव को देव मानना, दयामय धर्म को धर्म मानना और निग्रन्थ गुरु को गुरु मानना सम्यग्दर्शन है[50]। उनके अनुसार जीव-अजीव आदि तत्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है अथवा निश्चय से अपने आत्म स्वरूप में स्थिर होना सम्यग्दर्शन है। यह पच्चीस मल दोषों से रहित होता है[51]।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है -

जो तच्चामणेयंतं णियमासद्दहदि सत्तभगेहिं ।
लोयाण पण्हव सदो ववहारपवत्तणट्ठं-च ॥10॥

जो आयरेण मण्णदि जीवा जीवादि णव्र विहं अत्थं, ।
सुदणाणेण णएहि य सो सद्दिट्ठी हवे सुद्धो ॥11॥

जो लोगों के प्रश्नों के वश से और व्यवहार को चलाने के लिए सप्तभंगी के द्वारा नियम से अनेकांतात्मक तत्व का श्रद्धान करता है, जो आदर के साथ जीव अजीव आदि नौ प्रकार के पदार्थों को श्रुतज्ञान से और नयों से अच्छी तरह जानना है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ।

श्री अमृत चन्द्र सूरि ने कहा है -

जीवा जीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यं ।
श्रद्धान विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत्[52] ॥22॥

जीव अजीव आदि सात तत्वों के यथार्थ स्वरूप का विपरीत अभिनिवेश से रहित सदा ही श्रद्धान करना चाहिए, क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप है । पुन: आठ अंगो का स्पष्टीकरण किया गया है ।

यशस्तिलक चम्पू में कहा गया है-

''आप्तागम पदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात् ।
मूढ़ाद्यपोढ़भष्टांगं सम्यक्त्वं प्रशनादि भाक् ॥18॥

अन्तरंग और बहिरंग कारणों के मिलने पर आप्त (देव) शास्त्र और पदार्थों का तीन मूढ़ता रहित, आठ अंग सहित जो श्रद्धान होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं यह सम्यग्दर्शन प्रशम, संवेग आदि गुण वाला होता है ।

वसुनन्दि आचार्य ने कहा है-

अत्तागम तच्चाणं जं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ ।
संकाइदो स रहियं तं सम्मत्तं गुणेयत्वं[53] ॥6॥

आप्त आगम और तत्वों का शंकादि दोष रहित जो अति निर्मल श्रद्धान होता है उसे सम्यक्तव जानना चाहिए ।

सावयधम्म दोहा में सम्यक्त्व का लक्षण कहा गया है-

अत्तागमतच्चाई यहं जे णिम्मलु सद्धाणु ।
संकाईय दोसहं रहिउ, तं सम्यत्तु वियाणु ॥19॥

आप्त, आगम और तत्वादिकों का जो शंकादि दोषों से रहित निर्मल श्रद्धान है उसे ही सम्यक्तव जानना चाहिये ।

चारित्रसार में श्री चामुडंराय जी ने कहा है -

भगवान अर्हन्त परमेष्ठी के द्वारा उपदिष्ट निग्रन्थ लक्षण मोक्षमार्ग में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ।

श्री शुभचन्द्राचार्य ने कहा है-

यज्जीवादि पदार्थानां श्रद्धानं तद्धि दर्शनम् ।
निसर्गेणाधि गत्या वा तद्भव्यस्यैव जायते[54] ॥6॥

जो जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करता है वही नियम से सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन निसर्ग से अथवा अधिगम से भव्य जीवों के ही उत्पन्न होता है, अभव्य के नहीं होता।

श्री नेमिचन्द्राचार्य ने कहा है -

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं रुवमप्पणों तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मुखुं होदि जहि्णम्[54] ।।41।।

जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यक्तव है, वह सम्यक्तव आत्मा का स्वरूप है तथा इस सम्यक्तव के होने पर ज्ञान (संशय, विपर्यय और अनघ्यवसाय इन तीनों) दुरभिनिवेशों से रहित सम्यक् हो जाता है।

अपना और पर का यथार्थ स्वरूप जानना - अपने और पर के यथार्थ स्वरूप जानने में सामान्य रूप से सातों तत्वों का भाव भासना गर्भित है। एक चेतना लक्षण रूप ज्ञानादि गुण सहित जो आत्मा है, वही मैं हूं। द्रव्य दृष्टि से निराकार अविनाशी परद्रव्यों से सदा भिन्न हूँ तथा ये पुद्‌गलादि द्रव्य मुझसे पर (भिन्न) हैं। सदैव वे मुझसे भिन्न हैं। मैं चेतन हूं वे जड़ हैं मेरे और उनके लक्षण अलग-अलग हैं। अनादि काल से एक क्षेत्र में रहते हुए भी पुद्‌गल का कोई परमाणु कदापि मेरे प्रदेश रूप नहीं हुआ है। मेरे प्रदेश पुद्‌गल के परमाणु रूप नहीं हुए हैं। मोह कर्म के निमित्त से मैनें अपने और पर के भेद को नहीं जाना है अत: पर द्रव्यों से इष्ट अनिष्ट जानकर उनमें राग-द्वेष, बुद्धि कर मैनें संसार में भ्रमण किया, इस प्रकार अपने को अपना और पर को अपने से भिन्न जानना चाहिए। इस प्रकार अपने और पद को जानकर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन का एक लक्षण है। सम्यग्दर्शन के उपर्युक्त लक्षणों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट द्योतित होता है कि सम्यग्दर्शन के चार प्रमुख कारण हैं-

1- तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना।
2- सच्चे देव, गुरु, धर्म का श्रद्धान करना।
3- अपना और पर का यथार्थ स्वरुप जानना।
4- निज स्वरूप का निश्चय करना।

सम्यक्तव के विभिन्न लक्षणों का समन्वय - यहाँ प्रश्न होता है कि कहीं पर सातों तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व कहा है[55]। जैसे समयसार में "एकत्वेनियतस्य" इत्यादि कलश में कहा है कि इस आत्मा का परद्रव्य से भिन्न अवलोकन नियम से सम्यग्दर्शन है, इसीलिये नव तत्त्व की संतति को छोड़कर यह हमारे एक आत्मा ही है[56]। पुरुषार्थसिद्धयुपाय में भी "दर्शनमात्मविनिश्चिति:" ऐसा पद है, इसलिये जीव, अजीव ही का व केवल जीव ही का श्रद्धान सम्यक्तव होता है, इसका समाधान यह है कि पदार्थों के श्रद्धान बिना आत्मा और पर का श्रद्धान व केवल आत्मा का श्रद्धान सच्चा नहीं होता, क्योंकि आत्मा पर द्रव्य है। वह शुद्ध-अशुद्ध पर्याय सहित है, जैसे तन्तु अवलोकन बिना पट का अवलोकन नहीं होता, उसी प्रकार शुद्ध-अशुद्ध पर्याय पहचाने बिना आत्म द्रव्य का श्रद्धान नहीं होता। उस शुद्ध-अशुद्ध अवस्था की पहचान आस्रवादिक की पहचान से होती है तथा आस्रवादिक के श्रद्धान बिना आपापर का श्रद्धान व केवल आत्मा का श्रद्धान कार्यकारी भी नहीं है। क्योंकि श्रद्धान करो या न करो आप हो सो आप है ही, पर है सो पर है तथा आस्रवादिक का श्रद्धान हो तो आस्रव बंध का अभाव करके संवर, निर्जरा रूप उपाय से मोक्षपद को प्राप्त करे। जो आपापर का श्रद्धान कराते हैं वे मोक्ष रूप प्रयोजन के लिए

ही कराते हैं इसीलिये आस्रवादिक पदार्थों के श्रद्धान सहित अपने और पर को जानना अथवा अपने आप को जानना कार्यकारी है ।

प्रश्न - शास्त्रों में तो अपने और पर के श्रद्धान को व केवल आत्मा के श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहा व कार्यकारी कहा, फिर समयसार कलश में नव तत्त्व की संतति छोड़कर हमारे एक आत्मा ही हो, ऐसा जो कहा वह क्यों कहा ?

उत्तर - जिसके सच्चा, अपने और पर का श्रद्धान व आत्मा का श्रद्धान हो उसके सातों तत्त्वों का श्रद्धान ही है, तथा जिसके सच्चा सात तत्त्वों का श्रद्धान हो उसके अपने और पर का व आत्मा का श्रद्धान होता ही है ऐसा परस्पर अविनाभावीपना जानकर आपापर के सिद्धान्त का या आत्म श्रद्धान को ही सम्यक्तव कहा है कोई व्यक्ति सामान्य रुप से अपने और पर को जानकर अथवा आत्मा को जानकर यदि अपने को कृत-कृत्य माने तो यह इसका प्रयत्न भ्रम है, क्योंकि कहा है-"निर्विशेष हि सामान्यं भवेत्खर विषाणवत्"। अर्थात् विशेष रहित सामान्य गधे के सींग के समान असत् है इसलिए विशेषों सहित आत्मा और पर का व आत्मा का श्रद्धान करना योग्य है, अथवा जो सातों तत्त्वों के श्रद्धान से रागादिक मिटाने के लिए पर द्रव्यों को भिन्न भाता है व अपने आत्मा को ही भाता है उसके प्रयोजन की सिद्धि होती है । इसीलिये मुख्यत: से भेद विज्ञान को व आत्मज्ञान को कार्यकारी कहा है ।

प्रश्न - कहीं सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के श्रद्धान को सम्यक्तव कहा है सो किस प्रकार है?

उत्तर - अर्हंत देवादिक के श्रद्धान से कुदेवादिक का श्रद्धान दूर होने के कारण गृहीत मिथ्यात्व का अभाव होता है, उस अपेक्षा इसको सम्यक्तव कहा है। सर्वथा सम्यक्तव का यह लक्षण नहीं है, क्योंकि द्रव्यलिङ्गी मुनि आदि व्यवहार धर्म के धारक मिथ्या दृष्टियों के भी ऐसा श्रद्धान होता है अथवा जैसे अणुव्रत, महाव्रत होने पर देशचारित्र, सकलचारित्र हो या न हो परन्तु अणुव्रत महाव्रत हुए बिना देशचारित्र, सकलचारित्र कदाचित् नहीं होता, इसीलिए इन व्रतों को अन्वय रूप कारण जानकर कारण में कार्य का उपचार करके इनको चारित्र कहा है । उसी प्रकार अर्हंत देवादिक का श्रद्धान होने पर तो सम्यक्तव हो या न हो परन्तु अर्हन्तादिक का श्रद्धान हुए बिना तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्तव कदाचित् नहीं होता। इसलिए अर्हन्तादिक के श्रद्धान को अन्वय रूप कारण जानकर कारण में कार्य का उपचार करके इस श्रद्धान को सम्यक्तव कहा है । इसी से इस का नाम व्यवहार सम्यक्तव है अथवा जिसके तत्त्वार्थ श्रद्धान न हो उसके अर्हन्तादिक के स्वरूप का श्रद्धान होता ही है । तत्त्वार्थ श्रद्धान बिना पक्ष से अर्हन्तादिक का श्रद्धान करे परन्तु यथावत् स्वरूप की पहचान सहित श्रद्धान नहीं होता तथा जिसके सच्चे अर्हन्तादिक के स्वरूप का श्रद्धान हो उसके तत्त्व श्रद्धान होता ही है, क्योंकि अर्हन्तादिक का स्वरूप पहचानने से जीव, अजीव, आस्रवादिक की पहचान होती है ।इस प्रकार इनको परस्पर अविनाभावी जानकर कहीं अर्हन्तादिक के श्रद्धान को सम्यक्तव कहा है ।

चार लक्षणों का प्रयोजन - उपर्युक्त लक्षणों में से एक लक्षण का ग्रहण करने पर चारों लक्षणों का ग्रहण होता है तथापि मुख्य प्रयोजन भिन्न-भिन्न विचार कर अन्य अन्य प्रकार लक्षण कहे हैं । जहाँ, तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ तो यह प्रयोजन है कि इन तत्त्वों को पहचानें तो यथार्थ वस्तु के स्वरुप का व अपने हित अहित का श्रद्धान करे, तब मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करे तथा जहाँ आपापर का भिन्न श्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ तत्त्वार्थ श्रद्धान का प्रयोजन जिससे सिद्ध

हो उस श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है। जीव अजीव के श्रद्धान का प्रयोजन आपापर का भिन्न श्रद्धान करता है तथा आश्रवादिक के श्रद्धान का प्रयोजन रागादिक छोड़ना है सो आपापर का भिन्न श्रद्धान होने पर द्रव्य में रागादि न करने का श्रद्धान होता है। इस प्रकार तत्त्वार्थ श्रद्धान का प्रयोजन आपापर के भिन्न श्रद्धान से सिद्ध होता जानकर इस लक्षण को कहा है जहाँ आत्मा श्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ आपापर से भिन्न श्रद्धान का प्रयोजन इतना ही है कि आपको आप जानना। आपको आप जानने पर पर का भी विकल्प कार्यकारी नहीं है ऐसे मूलभूत प्रयोजन की प्रधानता जानकर आत्म श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है तथा जहाँ देव, गुरु, धर्म का श्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ बाह्य साधन की प्रधानता की है क्योंकि अर्हन्तदेवादिक का श्रद्धान सच्चे तत्त्वार्थ श्रद्धान का कारण है और कुदेवादिक का श्रद्धान कल्पित तत्त्व का श्रद्धान का कारण है अत: बाह्य कारण की प्रधानता से कुदेवादिक का श्रद्धान छुड़ाकर सुदेवादिक का श्रद्धान कराने के अर्थ देव, शास्त्र, गुरु के श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रयोजनों की मुख्यता से भिन्न-भिन्न लक्षण कहे हैं।

प्रश्न – इन चार लक्षणों में जीव किस लक्षण को अंगीकार करें ?

उत्तर – मिथ्यात्व कर्म के उपशमादि होने पर विपरीत अभिप्राय का अभाव होता है वहाँ चारों युगपत् पाये जाते हैं तथा विचार अपेक्षा मुख्य रूप से तत्त्वार्थों का विचार करता है या अपने और पर का भेद विज्ञान करता है या आत्म स्वरूप ही का स्मरण करता है या देवादिक का स्वरूप विचारता है इस प्रकार ज्ञान में तो नाना प्रकार विचार होते हैं परन्तु श्रद्धान में परस्पर सापेक्षपना पाया जाता है। तत्त्व विचार करता है तो भेद विज्ञान के अभिप्राय सहित करता हो भेद विज्ञान करता है तो तत्त्व विचारादि के अभिप्राय सहित करता है। इस प्रकार अन्यत्र भी परस्पर सापेक्षपना है इसलिए सम्यग्दृष्टि के श्रद्धान में चारों ही लक्षणों का अंगीकार है।

समयक्तव में लक्षणों में तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण की मुख्यता का कारण – तुच्छ बुद्धियों का अन्य लक्षण में प्रयोजन प्रकट भाषित नहीं होता व भ्रम उत्पन्न होता है। और इस तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण में प्रकट प्रयोजन भाषित होता है। कुछ भ्रम उत्पन्न नहीं होता, इसलिए इस लक्षण को मुख्य किया है।

देव, गुरु, धर्म के श्रद्धान में तुच्छ बुद्धियों को यह भाषित होता है कि अर्हन्त देवादिक को मानना और को नहीं मानना, इतना ही सम्यक्तव है। वहाँ जीव-अजीव का व बन्ध मोक्ष के कारण कार्य का स्वरूप भासित न हो, तब मोक्षमार्ग प्रयोजन की सिद्धि न हो व जीवादिक का श्रद्धान हुए बिना इसी श्रद्धान में सन्तुष्ट होकर अपने को सम्यक्तवी माने – एक सम्यक्तवादि से द्वेष तो रखे, अन्य रागादि छोड़ने का उद्यम न करे, ऐसा भम्र उत्पन्न हो। तथा आपापर में श्रद्धान में तुच्छ बुद्धियों को यह भासित होता है कि आपापर का ही जानना कार्यकारी है. इसी से सम्यक्तव होता है। वहाँ आस्रवादिक का स्वरूप भासित न हो, तब मोक्षमार्ग प्रयोजन की सिद्धि न हो व आस्रवादिक का श्रद्धान हुए बिना इतना ही जानने में सन्तुष्ट होकर अपने को सम्यक्तवी माने, स्वच्छन्द होकर रागादि छोड़ने का उद्यम न करे- ऐसा भ्रम उत्पन्न हो तथा आत्म श्रद्धान में तुच्छ बुद्धियों को यह भाषित होता है कि आत्मा ही का विचार कार्यकारी है, इसी से सम्यक्त्व होता है। वहाँ जीव अजीवादिक का विशेष व आस्रवादिक का स्वरूप भाषित न हो, तब मोक्षमार्ग प्रयोजन की सिद्धि न हो व जीवादिक के विशेष व आस्रवादिक के स्वरूप का श्रद्धान हुए बिना

इतने विचार से अपने को सम्यक्तवी माने, स्वच्छन्द होकर रागादि छोड़ने का उद्यम न करे। इसके भी ऐसा ही भ्रम उत्पन्न होता है ऐसा जानकर इन लक्षणों को मुख्य नहीं कहा।

तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण में जीव अजीवादिक व आस्रवादिक का श्रद्धान होता है। वहाँ सर्व का स्वरूप भली-भाँति भाषित होता है, तब मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि होती है तथा यह श्रद्धान होने पर सम्यक्तवी होता है परन्तु यह सन्तुष्ट नहीं होता। आस्रवादिक का श्रद्धान होने से रागादि छोड़कर मोक्ष का उद्यम करता है। इससे भ्रम उत्पन्न नहीं होता। इसलिए तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण को मुख्य किया है। अथवा तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण में तो देवादिक का श्रद्धान व आपापर का श्रद्धान व आत्म श्रद्धान गर्भित होता है, वह तो तुच्छ बुद्धियों को भी भाषित होता है, तथा अन्य लक्षण में तत्त्वार्थ श्रद्धान का गर्भितपना जो विशेष बुद्धिमान है, उन्हीं को भाषित होता है, तुच्छ बुद्धियों को भाषित नहीं होता, इसलिए तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण को मुख्य किया है[57]।

सम्यग्दर्शन की उपयोगिता - सम्यक्तव सब गुणों में प्रधान है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र नियम से नहीं होते, इसलिए रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन गुण उत्कृष्ट है। जिस प्रकार सूर्य का उदय होते ही रात्रि का अन्धकार नष्ट हो जाता है, हवा के चलने पर मेघों के समूह नष्ट हो जाते हैं, अग्नि महावन को जलाकर नष्ट कर देती है, वज्र के पड़ने से बड़े-बड़े पर्वत नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार सम्यक्तव कर्मों को नष्ट करने में समर्थ है[58]।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है-

न सम्यक्त्व समं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व समं नान्यत्तनूभूतां ॥34॥
सम्यग्दर्शन शुद्धा नारकतिर्यग्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुल विकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥35॥

तीन काल और तीन जगत में जीवों का सम्यक्तव के समान कुछ भी कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी नहीं है। शुद्ध सम्यकदृष्टी जीव कांति, प्रताप, विद्या वीर्य, यश की वृद्धि, विजय, विभव के स्वामी, उच्च कुली, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के साधक मनुष्यों के शिरोमणि होते हैं।

जैसे बीज के अभाव में वृक्ष नहीं होता वैसे ही सम्यग्दृष्टि के अभाव में ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की उत्पत्ति नहीं होती[59]। इसी से सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र से उत्कृष्ट है। जिनेन्द्र का भक्त सम्यग्दृष्टी भव्य जीव अपरिमित माने जाने वाले इन्द्रों के समूह की महिमा को राजाओं के शिरों से पूजनीय चक्रवती पद को समस्त लोक को तिरस्कार करने वाले तीर्थंकर पद को प्राप्त करके अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है[60]।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जैसे ताराओं में चन्द्र और समस्त मृगकुलों में मृगराज सिंह प्रधान है, उसी प्रकार मुनि और श्रावक धर्मों में सम्यक्तव प्रधान है[61]। जो पुरुष श्रेष्ठ अतीत काल में श्रेष्ठ हुए हैं तथा भविष्य में होंगे वह सम्यक्तव का ही माहात्म्य जानना चाहिए[62]।

शिवार्यकृत भगवती आराधना में कहा गया है "समस्त दुखों का नाश करने वाले सम्यक्तव में प्रमाद मत करो, क्योंकि ज्ञानाचार, चारित्राचार, वीर्याचार और तप आचार का आधार सम्यग्दर्शन है[63]। जैसे नगर में प्रवेश करने का उपाय उसका द्वार है, वैसे ही ज्ञानादि में प्रवेश करने का द्वार सम्यग्दर्शन है, जैसे आँखे मुख की शोभा बढ़ाती हैं वैसे ही सम्यग्दर्शन से ज्ञानादि की शोभा है, जैसे वृक्ष की स्थिति का कारण उसका मूल है, वैसे ही सम्यग्दर्शन ज्ञानादि की स्थिति का कारण है[64]।

सम्यग्ज्ञान का स्वरुप

पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानना समयग्ज्ञान है। यह सम्यग्ज्ञान निश्चय नय से आत्मा का निज स्वरूप है। यह स्व-पर प्रकाशक होता है और सदैव संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित होता है[65]।

संशय - विरुद्ध दो कोटियों का ज्ञान होने को संशय कहते हैं - जैसे रात को किसी को देखकर यह संदेह करे कि यह मनुष्य है या खम्भा है, या कुछ और है। सीप के टुकड़े को देखकर यह संदेह करना कि यह सीप है या चाँदी, इस प्रकार के निर्णय रहित डावां डोल ज्ञान को संशय कहते हैं।

विपर्यय - अन्यथा रूप एक तरफी ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जैसे मनुष्य को खम्भा जान लेना- सीप को सीप न समझे उसके विपरीत चाँदी समझ लेना यह विपर्यय ज्ञान है। अनध्यवसाय(विमोह)-"कुछ है" केवल इतना ही जानपना होना और अधिक विचार न करना, यह अनध्यवसाय है। जैसे -रास्ते में चलते-चलते तिनके के स्पर्श हो जाने पर यह जानना "क्या लगा" कुछ होगा। इस प्रकार विचार रहित ज्ञान अनध्वसाय कहलाता है[66]।

आचार्य रामसेन ने तत्वानुशासन में कहा है कि जीवादि पदार्थों में प्रमाणों नयों और निक्षेपों के द्वारा यथात्म्य रूप से निश्चय होता है उसको सम्यग्ज्ञान माना गया है -

प्रमाणनय - निक्षेपैर्यो, याथात्म्येन निश्चयः ।
जीवादिषु पदार्थेषु सम्यग्ज्ञानं तदिष्यते ॥26॥

सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान का ही नाम सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का प्रकट गुण है। आत्मा के बिना यह और पदार्थों में नहीं पाया जाता है। जहाँ आत्मा है वहाँ ज्ञान है ही। ज्ञान के बिना आत्मा नहीं है। सूक्ष्म अवगाहना के धारक निगोदिया के भी अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान भगवान् ने कहा है। जैसे दीपक अपने को भी प्रकाशित करता है और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान अपने को भी जानता है और अन्य पदार्थों को भी जानता है। इसी से ज्ञानगुण को सविकल्पक तथा शेष सब गुणों को निर्विकल्पक कहा है। सविकल्पक को साकार और निर्विकल्प को निराकार भी कहे सकते हैं। जैसे पथ में दीपक को लेकर भी यदि कोई गड्ढे में गिरता है जो वह जगत में हँसी का पात्र होता है, क्योंकि उसने दीपक का लाभ नहीं लिया, उसी प्रकार ज्ञान के होते हुए भी जो अपनी आत्मा का हित अहित का विचार करके हित में नहीं लगा और अहित से नहीं बचा, उसका ज्ञान सम्यक् नहीं कहा जा सकता।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध - दर्शन और ज्ञान का पारस्परिक प्रगाढ़ सम्बन्ध है। जैसे मेघ पटल के दूर हो जाने पर सूर्य के प्रताप और प्रकाश एक साथ व्यक्त होते हैं उसी प्रकार जिस समय दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय और क्षयोपशम होने से आत्मा की सम्यग्दर्शन पर्याय व्यक्त होती है उसी समय उसके मत्यज्ञान और श्रुत अज्ञान का निराकरण होकर मति ज्ञान और श्रुतज्ञान प्रकट होते हैं।

प्रश्न- सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक ही साथ उत्पन्न होते हैं फिर इनमें क्या अन्तर है?

उत्तर- लक्षण की भिन्नता के कारण इन दोनों में भेद है। सम्यक्त्व का लक्षण तो यथार्थ श्रद्धान है और ज्ञान का लक्षण जानना है। ज्ञान के सम्यक्पने में कारण होने से सम्यग्दर्शन पूज्य है। सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान नहीं होता। इसके उदाहरण के लिए दुरांतिदूर भव्य को लिया जा सकता है। भव्य होने पर भी इसे सम्यक्त्व की प्राप्ति न होने से सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं होता। ज्ञानार्णव में कहा गया है कि चारित्र और ज्ञान से रहित अकेला एक सम्यग्दर्शन ही प्रशंसनीय

है किन्तु मिथ्यात्व रूपी विष से दूषित चारित्र और ज्ञान प्रशंसनीय नहीं है। जिसे निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है। उस पुण्यात्मा को मैं मुक्त ही मानता हूँ, क्योंकि सम्यग्दर्शन को ही मुक्ति का प्रधान अङ्ग कहा गया है[67]।

पदमनन्दि पंचविंशतिका में कहा गया है "जिसके बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र होता है वह मोह रूपी वृक्ष का बीज रूप सम्यग्दर्शन जयवन्त हो। उसके बिना प्राप्त हुआ भी मनुष्य जन्म अप्राप्त होने के समान है[68]।

सम्यग्दर्शन निमित्त कारण है और सम्यग्ज्ञान नैमित्तिक कार्य है। इस प्रकार उन दोनों में कारण कार्य भावों से भी अन्तर है।

प्रश्न - ज्ञान-श्रद्धान तो युगपत् (एक साथ) होते हैं उनमें कारण कार्यपना क्यों कहते हो?

उत्तर - वह हो तो वह होता है, इस अपेक्षा से कारण कार्यपना कहा है। जिस प्रकार दीपक और प्रकाश दोनों युगपत् होते हैं तथापि दीपक हो तो प्रकाश होता है, इसलिए दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है। इसी प्रकार ज्ञान श्रद्धान भी है[69]।

सम्यग्ज्ञान की उपयोगिता - पंडित प्रवर दौलतराम जी ने कहा है-

कोटि जन्म तप तपें, ज्ञान बिन कर्म झरै जे,
ज्ञानी के छिनमाहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।
मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आत्मज्ञान बिना सुख लेश न पायौ ॥

सम्यग्ज्ञान के बिना करोडों जन्मों तक तप करने से जितने कर्म नाश होते हैं उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी जीव के मन, वचन और काय की और प्रवत्ति को रोकने से क्षणमात्र में सरलता से नष्ट हो जाते हैं। यह जीव मुनियों के महाव्रतों को धारण करके अनन्त बार नव ग्रैवेयक तक उत्पन्न हुआ, परन्तु अपने आत्मा के ज्ञान बिना मात्र सुख प्राप्त नहीं कर सका। धन, सम्पत्ति, परिवार, हाथी घोड़ा, राज्य तो अपने काम में नहीं आते किन्तु सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप प्राप्त होने के पश्चात् अचल रहता है उस सम्यग्ज्ञान का कारण आत्मा और पर वस्तुओं का ज्ञान भेद विज्ञान कहा है। इसलिये करोड़ों उपाय करके भी उस भेद विज्ञान को हृदय में धारण करना चाहिए। जो जीव मोक्ष में गये हैं, वर्तमान में जा रहे हैं और भविष्य में जायेंगे वह सब सम्यग्ज्ञान की महिमा है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छा रूपी भयंकर दावानल संसारी जीवों रूपी पुराने वन को जला रहा है, उसकी शान्ति का उपाय दूसरा कोई नहीं है। मात्र ज्ञान रूपी वर्षा का समूह ही उसे शान्त कर सकता है[70]।

सम्यकचारित्र का लक्षण - मन से, वचन से, काय से कृतकारित अनुमोदना के द्वारा जो पाप रूप क्रियाओं का त्याग है, उसको सम्यक्चारित्र कहते हैं-

चेतसा वचसा तन्वा कृताऽनुमत कारितैः ।
पाप क्रियाणां यस्त्यागः सच्चारित्रमुषन्ति तत् तत्त्वानुशासनः ॥7॥

तात्पर्य यह है कि पापरूप क्रियाओं के करने का मन से त्याग, वचन से त्याग तथा काय से त्याग, पापरूप क्रियाओं के कराने का मन से त्याग, वचन से त्याग तथा काय से त्याग, पाप रूप क्रियाओं के दूसरों द्वारा किये-कराये जाने पर उनके अनुमोदना का मन से त्याग, वचन से त्याग तथा काय से त्याग, इस तरह पाप क्रियाओं का जो नव प्रकार से त्याग है उसका नाम सम्यक्चारित्र है। यहाँ सम्यक्चारित्र का यह लक्षण पाप क्रियाओं के त्यागरूप होने से निषेध परक (निवृत्यात्मक) है और निषेध का विधि के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है जहाँ त्याग होता है वहाँ

कुछ ग्रहण भी होता है और वह ग्रहण त्याज्य के प्रतिपक्षी का होता है । पाप क्रियाओं की प्रतिपक्षी क्रियायें धार्मिक क्रियायें है । उनका ग्रहण अथवा अनुष्ठान पाप क्रियाओं के त्याग के साथ अवश्यंभावी है । और इसलिये उनके अनुष्ठान की दृष्टि से सच्चारित्र का विधिपरक (प्रवृत्यात्मक) लक्षण भी यहाँ फलित होता है और वह यह है कि- मन से, वचन से तथा काय से कृत कारित अनुमोदना के द्वारा जो (पाप विनाशक) धर्म क्रियाओं का अनुष्ठान है उसका नाम भी सम्यक्चारित्र है[71] ।

पापयुक्त मन, वचन, काय के योगों के त्याग से सम्पूर्ण कषायों से रहित तथा निर्मल पर पदार्थों से विरक्तता रूप जो चारित्र होता है, वह आत्मा का निज स्वरूप होता है । समस्त कषायों का अभाव हो जाने से यथाख्यात चारित्र होता है[72] ।

भगवती आराधना में कहा गया है -

णाणस्त दंसणस्स य सारों चरणं हवे चहककखांद ।
चरणरस तस्स सारो णिव्वाण मणुत्तरं भणियं ।।11।।

अर्थात् ज्ञान और दर्शन का सार यथाख्यात् चारित्र है और यथाख्यात् चारित्र का सार सर्वोत्कृष्ट निर्वाण कहा है ।

सर्वार्थसिद्धि में प्रथम सूत्र में व्याख्या में लिखा है कि सम्यग्दर्शन को प्रथम स्थान देने का कारण यह है कि सम्यग्दर्शन पूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है सम्यक्चारित्र के अन्त में रखने का कारण यह है कि मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण है अर्थात जैसे सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्क्चरित्र नहीं होता उसी प्रकार सम्यक्चारित्र के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

सम्यक्चारित्र ही यथार्थ में धर्म है उसकी आराधना में सब आराधनायें समाविष्ट हैं किन्तु चारित्रधारण कर लेने से ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पाती । जैसे - यदि किसी ने मुनि दीक्षा ले ली तो मुनि दीक्षा ले लेने मात्र से वह अपने को सम्यग्दर्शन की भी प्राप्ति हुई, मान ले तो यह अज्ञान है यदि ऐसा होता तो मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी साधु भी मोक्ष चले जाते, फिर उन्हें मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी नहीं कहा जाता । इसी से शास्त्रों में सम्यक्चारित्र धारण करने से पहले सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना आवश्यक बतलाया है, उसके बिना धारण किया गया जैनाचार भी मिथ्याचारित्र कहा जाता है[73]।

प्रश्न - शुभोपयोग रूप, भावचारित्र है या नहीं ।

उत्तर - शुभोपयोग विशुद्ध परिणामों से होता है और विशुद्धतामन्द कषाय को कहते हैं, इसलिए कषायों की हीनता के कारण कथंचित् (थोड़ा सा) देश चारित्र कहलाता है यदि वह शुद्धपयोग की भावना सहित पाला जावे ।

प्रश्न - देव, शास्त्र, शील, तप, संयमादि में अत्यन्त रागरूप प्रवृत्ति करते हुए मन्द कषाय कैसे कहे जा सकते हैं ।

उत्तर - यह शुभराग रूप प्रवृत्ति है, इसमें विषय कषायादि राग की अपेक्षा मन्द कषाय ही है क्योंकि इनके राग में क्रोध, मान, माया तो है ही नहीं, रहा प्रीतिभाव की अपेक्षा लोभ सो वह भी सांसारिक प्रवृत्तियों से युक्त नहीं है, इसलिए लोभ कषाय की मन्दता ही ठहरी । इसके सिवाय ज्ञानी जीव राग भावों से प्रेरित हुआ, अशुभराग, को छोड़कर शुभ राग में प्रवृत्ति करता है। कुछ शुभोपयोग की उपादेय रूप श्रद्धान तो नहीं करता है । इसको तो वह अपने शुद्धोपयोग रूप चारित्र को मलिनता का कारण जानता है ! अशुभोपयोग रूप कषायों की तीव्रता दूर हो जाने की अपेक्षा से ही किया गया चारित्र कह सकते हैं, वास्तव में तो शुद्धोपयोग ही चारित्र है[74] ।

1. तत्त्वज्ञान तरंगणी 12/4

फुटनोट

2. वही 12/2
3. वही 12/3
4. पञ्चास्तिकाय 160
5. पञ्चास्तिकाय 160
6. वही 168
7. वही 162
8. वही 164
9. मोक्ख पाहुड 36
10. समयसार - 7
11. समयसार 157-163
12. प्रवचनसार 97
13. प्रवचनसार 42
14. वही 43
15 वही 44
16. प्रवचनसार 65
17 वही 64-67
18. प्रवचनसार - 9
19. वही 69-70
20. प्रवचनसार 71-77
21. प्रवचनसार 157
22. वही 46
23. प्रवचनसार 47
24. प्रवचनसार 48
25. वही 49
26. वही 51
27. वही 52, 53
28. वही 54
29. वही 66
30. प्रवचनसार 12
31. वही 67
32. चारित्राधिकार 73
33. चारित्राधिकार 74
34. प्रवचनसार 11
35. वही 13
36. वही 15
37 स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 291-296
38. तत्वार्थ सूत्र 1/2
39. सर्वार्थसिद्धि - व्याख्या 1/2
40. सर्वार्थसिद्धि - व्याख्या 1/2
41. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 4
42. वही 6
43. वही 5
44. आप्त मीमांसा 6
45. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 22
46. वही 23
47. वही 24
48. वही 25
49. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय 216
50. उमास्वामि श्रावकाचार 15
51. वही 21
52. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय
53. वसुनन्दि श्रावकाचार
54. ज्ञानार्णव पृ 86
55. द्रव्य संग्रह
56. समयसार कलश 6
57. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. 323-330
58. रयणसार, गाथा 52
59 रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक 32
60. वही 40
61. भाव पाहुड : गाथा 144
62. मोक्ष पाहुड : गाथा 88
63. भगवती आराधना : गाथा 735
64. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय : श्लोक न. 35
65. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय 56
66. ज्ञानार्णव 6/54
67. पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका 1/77
68 मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ 126
69. वही 7
70. छहढ़ाला 4/7, 8
71. तत्वानुशासन 27
72. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय 39
73. जैन सिद्धान्त 170
74. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय श्लोक न. 39

❑❑❑

द्वितीय अध्याय

सम्यग्दर्शन

तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। किसी तत्त्व का अंश भी किसी अन्य तत्त्व में नहीं मिलना चाहिए। यथार्थ प्रतीति रूप तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

जीवादिक सात तत्त्व – जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं[1]। जीव मिथ्यात्व अवस्था में तो बहिरात्मा है तथा सम्यक्त्व अवस्था होने पर चौथे से बारहवें गुणस्थान तक अन्तरात्मा है, तथा तेरहवें चौदहवें गुण स्थानवर्ती अरहंत तथा सिद्धालय में स्थित सिद्ध ये परमात्मा हैं। इस प्रकार आत्मा तीन प्रकार की होती है। चेतना दो प्रकार की होती है- (1) ज्ञान चेतना (2) अज्ञान चेतना। अज्ञान चेतना के दो भेद हैं - (1) कर्म चेतना (2) कर्मफल चेतना। इस प्रकार चेतना तीन प्रकार की होती है। इस संसार में चौरासी लाख जातिभेद धारणकर भ्रमण करने वाले चौदह जीव समास भेद से अनेक भेद रूप जीव जानना चाहिए। जीव शुद्ध, अशुद्ध तथा मिश्रित तीन प्रकार का है। उन सबके समस्त गुण और पर्याय अपने-अपने भाव रूप परिणमते हैं। अर्हन्तदेव तथा सिद्ध शुद्ध जीव हैं। जिनके समस्त गुण पर्याय विकारभाव को प्राप्त हो रहे हैं, जिनके ज्ञानादिक गुण आवरण से आच्छादित हो रहे हैं तथा ज्ञानादिक गुण जो थोड़े बहुत प्रकट हैं वे विपरीतता रूप परिणमन करते हैं तथा जिनकी परिणति रागादि रूप ही रही है, वे मिथ्यादृष्टि जीव अशुद्ध रूप हुए हैं अथवा उनमें भी कुछ मलिनता रह गई है। इस प्रकार के जीव की परिणति शुद्धा-शुद्ध मिश्ररूप परिणमन करती है। इस प्रकार शुद्ध अशुद्ध और मिश्र रूप भेद से जीव नामक तीन प्रकार का है किन्तु सब स्थितियों में जो चेतना लक्षण को लिए हुए है, वह जीव है। सब जीवों में जीव द्रव्य ही उत्तम परम तत्व है। स्वामीकार्तिकियानुप्रेक्षा में कहा गया है -''जीव द्रव्य उत्तम गुण का धाम है, ज्ञानादि उत्तम गुण इसी में हैं। समस्त द्रव्यों में यही प्रधान द्रव्य है। समस्त द्रव्यों का प्रकाशन जीव ही करता है। समस्त तत्वों में यही परम तत्व है। ऐसा जानना चाहिए[2]।

अजीव तत्त्व पाँच हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श और वर्ण पाया जाये, वह पुदगल द्रव्य है। समस्त लोकाकाश के सब प्रदेश सूक्ष्म और बादर (स्थूल) रूप से भरे हुए हैं। पुद्गल द्रव्य नाना प्रकार की शक्ति से युक्त हैं[3]।

तात्पर्य यह है कि पुद्गल द्रव्य शरीर आदि अनेक प्रकार परिणमन रूप शक्ति से युक्त हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम स्वरूप जो इन्द्रियों के ग्रहण करने योग्य हैं वे सब पुद्गल द्रव्य हैं। पुद्गल द्रव्य संख्या में जीव राशि से अनंत गुना हैं[4]। पुद्गल द्रव्य की ऐसी अपूर्व शक्ति है कि जीव का जो केवल स्वभाव है वह भी उसकी अपूर्व शक्ति से विनाश को प्राप्त होता है[5]। अर्थात् जीव में अनन्त शक्ति है उसमें केवल ज्ञान नामक ऐसी शक्ति है कि उसकी अभिव्यक्ति हो तो जीव समस्त पदार्थों को एक ही समय जानने लगे। ऐसी शक्ति को पुद्गल नष्ट करता है, होने नहीं देता, अत: यह इसकी अपूर्ल शक्ति है।

गमन में परिणत पुद्गल और जीवों के गमन में सहकारी धर्म द्रव्य है। जैसे मछलियों के गमन में जल सहकारी है[6]। ठहरे हुए पुद्गल और जीवों के ठहरने में सहकारी कारण अधर्म द्रव्य

हैं जैसे छाया यात्रियों के ठहरने में सहकारी है[7]। जो जीवादि द्रव्यों को अवकाश देता है उसे अवकाश कहते हैं[8]। वर्तना (प्रवृत्त करना) लक्षण वाला काल द्रव्य है।

जीव के रागादि रूप परिणमन के कारण योगद्वार के पुद्‌गल के आने को आस्रव तत्त्व कहते हैं[9]। जीव की अशुद्धता के निमित्त से जो पुद्‌गल आये थे, उनका ज्ञानावरणादि रूप अपनी स्थिति लिए अपने रस संयुक्त से सम्बन्ध रूप होना बन्ध तत्त्व है[10]।

इनकी स्थिति और इनका रस कषायों के अनुसार रहता है। जैसी तीव्र अथवा मन्द कषाय होती है वैसी ही मन्द स्थिति और रस होता है अत: जिनको कर्मों के बन्ध का डर लगता है, उन्हें कषाय नहीं करना चाहिए। संसार के भ्रमण के कारण यह कर्मबन्ध ही है। कर्मों के आगे आने का रूकना संवर तत्त्व है[11]। जीव के शुद्धोपयोग केवल से पुराने कर्मों का एकदेश नाश हो जाना निर्जरा है, यह संवर पूर्वक होती है। बिना संवर के फल भोगने से जो कर्म निर्जरते हैं वह निर्जरा मोक्ष का कारण नहीं है। समस्त कर्मो के नाश से जीव का जो निजभाव प्रकट होता है वह मोक्ष है[12]। पुण्य और पाप आस्रव के ही भेद हैं, अत: ये आस्रव में ही गर्भित हैं। इन सबको गिनने पर नौ पदार्थ होते हैं[13]।

सम्यक्त्व किसके होता है – सम्यक्त्व सामान्य से जीव के होता है और विशेष की अपेक्षा गति, मार्गणा के अनुवाद से नरकगति में सब पृथिवियों में पर्याप्तक नारकियों के औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। पहली पृथिवी में पर्याप्तक और अपार्यप्तक नारकियों के औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। तिर्यंचगति में पर्याप्तक और तिर्यचों के औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। क्षायिक और क्षायोपशमिक पर्याप्तक और अपार्यप्तक दोनों प्रकार के तिर्यंचों के होता है। तिर्यंचनी के क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता। औपशमिक और क्षायोपशमिक पर्याप्तक तिर्यंचिनी के ही होता है अपार्यप्तक तिर्यंचनी के नहीं। मनुष्य गति में क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकार के मनुष्यों के होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक मनुष्यों के होता है, अपर्याप्तक मनुष्यों के नहीं। मनुष्यनी के ही होता है अपर्याप्तक मनुष्यनी के नहीं। देवगति में पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकार के देवों के तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं।

शंका – अपर्याप्तक देवों के औपशमिक सम्यग्दर्शन कैसे होता है ?

समाधान – जो मनुष्य चारित्र मोहनीय का उपशम करके या करते हुए उपशम श्रेणी में मरकर देव होते हैं उन देवों के अपर्याप्तक अवस्था में औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के, इन तीनों की देवांगनाओं के तथा सौधर्म और ऐशान कल्प में उत्पन्न हुई देवांगनाओं को क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता शेष दो होते हैं सो वे भी पर्याप्तक अवस्था में ही होते हैं।

इन्द्रिय मार्गणा के अनुसार से संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। अन्य जीवों के कोई सम्यग्दर्शन नहीं होता। कायमार्गणा के अनुसार त्रसकायिक जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। अन्य काय वाले जीवों के कोई सम्यग्दर्शन नहीं होता। योग मार्गणा के अनुवाद से तीनों योग वाले जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होता है किन्तु अयोगी जीवों के एक क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता है। वेद मार्गणा के अनुसार से तीनों वेद वाले जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु

अयोगी जीवों के औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते है। कषायमार्गणा के अनुवाद से चारों कषाय वाले जीवों के तीन ही सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु कषाय रहित जीवों के औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। ज्ञान मार्गणा के अनुवाद से अभिनिबोधिक ज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनः पर्यय ज्ञानी जीवों के तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु केवल ज्ञानी जीवों के एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है। संयम मार्गणा के अनुवाद से सामायिक और छेदोपस्थापना संयत जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। परिहार विशुद्धि संयतों के औपशमिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, शेष दो होते हैं। सूक्ष्म साम्परायिक संयत और यथाख्यात संयत जीवों के औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन होते हैं। संयता संयत और असंयत जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। दर्शन मार्गणा के अनुवाद से चक्षु दर्शन वाले, अचक्षुदर्शन वाले और अवधि दर्शन वाले जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु केवल दर्शन वाले जीवों के एक ही सम्यग्दर्शन होता है। लेश्यामार्गणा के अनुसार से छहों लेश्यावाले जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु लेश्यारहित जीवों के एक सम्यग्दर्शन ही होता है। भव्य मार्गणा के अनुवाद से जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। अभव्यों के कोई सम्यग्दर्शन नहीं होता, समयक्त्वमार्गणा के अनुवाद से जहाँ जो सम्यक्दर्शन है वहाँ वही जानना संज्ञामार्गणा के अनुवाद से संज्ञा जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन है, असंज्ञियों के कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं है तथा संज्ञी और असंज्ञी इस संज्ञा से रहित जीवों के एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है। आहारक मार्गणा के अनुवाद से आहारकों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। अनाहारक छद्मस्थों के भी तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। किन्तु समुदघातगत केवली अनाहारकों के एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है[14]।

सम्यग्दर्शन के साधन - अभ्यन्तर और बाह्य दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम अभ्यन्तर साधन है। बाह्य साधन निम्न प्रकार हैं- नारकियों के चौथे नरक से पहले तक अर्थात तीसरे नरक तक किन्हीं के जातिस्मरण, किन्हीं के धर्म श्रवण और किन्हीं के वेदनाभिभव से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। चौथे से लेकर सातवें तक किन्हीं के जाति स्मरण और किन्हीं के वेदनाभिभव से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। तिर्यंचों में किन्हीं के जाति स्मरण, किन्हीं के धर्म श्रवण, और किन्हीं के प्रतिबिम्ब दर्शन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। मनुष्यों के भी इसी प्रकार जानना चाहिए। देवों में किन्हीं के जातिस्मरण, किन्हीं के धर्मश्रवण, और किन्हीं के जिन महिमा दर्शन और किन्हीं के देव ऋषि दर्शन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। यह व्यवस्था आनत कल्प से पूर्व तक जानना चाहिए। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्प के देवों के देव, ऋषि दर्शन को छोड़कर शेष तीन साधन पाये जाते हैं। नौग्रेवेयक में निवास करने वाले देवों के सम्यग्दर्शन का साधन किन्हीं के जातिस्मरण और किन्हीं के धर्मश्रवण हैं। अनुदिश और अनुत्तर विमानों में रहने वाले देवों के यह कल्पना नहीं है क्योंकि वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं[15]।

सम्यग्दर्शन के अधिकरण - अधिकरण दो प्रकार है - अभ्यन्तर और बाह्य।

1. अभ्यन्तर अधिकरण - जिस सम्यग्दर्शन का जो स्वामी है वही उसका अभ्यन्तर अधिकरण है।

2. बाह्य अधिकरण - बाह्य अधिकरण लोकनाडी है। यह एक राजु लम्बी तथा चौदह राजु चौड़ी है[16]।

सम्यग्दर्शन की स्थिति - औपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहुत है। क्षायिक सम्यग्दर्शन की संसारी जीव के जघन्य स्थिति अन्तर्मुहुर्त है और उत्कृष्ट

स्थिति 8 वर्ष और अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्व कोटि अधिक तैतीस सागर है। मुक्त जीव के सादि अनन्त है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति 66 सागर है।

सम्यग्दर्शन के प्रसंग में कालादि, लब्धि का कथन - जिसको स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों की प्राप्ति हुई है तथा जिसे कालादि लब्धियाँ प्राप्त हुई हैं ऐसे भव्य को साक्षात् दर्शन प्रगट होता है। पंचेन्द्रियाँ और कालादि लब्धियाँ नहीं प्राप्त होने पर भी भव्यता रहती है। तथापि वह अकेली सम्यग्दर्शन को प्रगट नहीं कर सकती। विशेष स्पष्टीकरण अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्दर्शन की प्रतिबन्धक प्रकृतियों का उपशम कालादिलब्धियाँ प्राप्त होने से होता है। कर्मों से घिरी हुई भव्य आत्मा अर्धपुद्गल परिवर्तन अवशिष्ट रहने पर प्रथम सम्यक्त्व काल प्राप्ति योग्य होती है। पुद्गल परिवर्तन के कर्म द्रव्य पुद्गल परिवर्तन तथा नोकर्म द्रव्यपुद्गल परिवर्तन ऐसे दो भेद हैं। उनमें से किसी एक को भी अर्द्धपुद्गल काल कहते हैं। जिसका संसार में रहने का काल इससे अधिक होगा। उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। यह प्रथम काललब्धि है[17]।

सम्यग्दृष्टि जीव कहाँ उत्पन्न नहीं होते - पहला नरक छोड़ . .
शर्कराप्रभादि महात्म: प्रभान्त छह नरकभूमियों में नहीं जन्मते हैं। भवनवासी, व्यन्तर, तथा ज्योतिष्क देवों में सम्यग्दृष्टि जन्म ग्रहण नहीं करता तथा नपुंसक स्त्रियों में भी वह उत्पन्न नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिसको नरकायु का बंध होने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह जीव पहले नरक में ही उत्पन्न होता है। देवायु का बन्ध होने पर सम्यग्दर्शन जिसको प्राप्त हुआ है वह जीव सौधर्मादि स्वर्गों में महर्द्धिक देव होता है।

जिनको मिथ्यात्व कारण है ऐसे एकेन्द्रिय विकलत्रय में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते। तिर्यगायु का बन्ध होने पर सम्यग्दर्शन जिसको प्राप्त हुआ है ऐसा मनुष्य भोग भूमि का पुल्लिंगी तिर्यंच होकर जन्म लेता है तथा मनुष्य आयु का बन्ध होने पर जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ ऐसा कर्मभूमिज मनुष्य अथवा पंचेन्द्रिय संज्ञी तिर्यंच भोग-भूमि में पुरुष होकर उत्पन्न होता है। स्त्री पर्याय में उसकी उत्पत्ति नहीं होती[18]।

सम्यग्दृष्टि की सांसारिक सुख के विषय में दृष्टि - जिसे यह जग सुख कहता है वह दु:ख ही है और दु:ख आत्मा का धर्म नहीं है, इसलिए सम्यग्दृष्टि पुरुषों की उसके विषय में अभिलाषा नहीं होती है। सम्यग्दृष्टियों का वैषयिक सुख में रागभाव नहीं होता है, क्योंकि राग अज्ञान भाव है। वह मिथ्यादृष्टि के नियम से होता है। जो आत्मा की अत्यन्त भिन्न अवस्था है अत: उसकी सामान्य मनुष्यों की तरह क्रिया मात्र में अभिलाषा नहीं होती। जिस प्रकार प्राणी मात्र के अनुभूत रोग में उपेक्षा भाव होता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि से सब प्रकार के भोगों में उपेक्षा भाव होता है। उसके अवस्था का ऐसा परिणमन स्वभाव से होता है। ज्ञानी पुरुष हेय पदार्थ को जानकर तदनन्तर उसका त्याग करता है, भले ही ऐसी रुढ़ि हो परन्तु सच तो यह है कि अवस्था विशेष से सम्बन्ध रखने वाला कोई ऐसा स्वभाव ही इसमें कारण है जिससे इस की हेय पदार्थ में स्वभावत: प्रवृत्ति ही नहीं होती जबकि हम लोगों के एकदेश राग का अभाव देखा जाता है तो इससे किसी जीव के अभिलाषा का सर्वथा अभाव सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि जब किसी को ज्ञान हो जाता है कि यह मेरा नहीं है- किन्तु अन्य का है तब पर वस्तु में तृप्त होकर भी कोई तृप्त नहीं होता है वह उसकी अभिलाषा त्याग देता है। जिस प्रकार कोई पराधीन अभिलाषा के बिना अनुचित क्रिया को करते हुए भी उस क्रिया का कर्ता नहीं होता है उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए।

शंका - जब सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता है और उसमें जो इष्ट होता है वह उसे रुचता भी है तब फिर वह अभिलाषा रहित कैसे हो सकता है ?

समाधान - यह कहना ठीक है, क्योंकि जब तक वह जघन्य पद में रहता है तब तक यह अवस्था होती है और इस जघन्य पद का कारण चारित्रावरण कर्म हैं। ऐसा नियम है कि यह जीव चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से इन्द्रियों के विषयों में रत होता है। किन्तु चारित्र मोहनीय के बिना यह सर्वथा शुद्ध वीतराग और अतीन्द्रिय हो जाता है। यद्यपि दर्शन मोहनीय का क्षय हो जाने से सम्यग्दृष्टि जीव भोगों की इच्छा नहीं करता तथापि हेतु का सद्भाव रहने से इसके भोग क्रिया होती है। यदि कहा जाये कि इसके भोग क्रिया देखी जाती है इसलिए वीतरागता असिद्ध है सो भी बात नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार बिना चाहे जग को दारिद्र और मरण आदि की प्राप्ति होती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के बिना इच्छा के विषयों में प्रवृत्ति देखी जाती है। जिस प्रकार रोग से पीड़ित हुआ कोई मनुष्य रोग का प्रतीकार करता है और उस अवस्था को प्राप्त होने पर रोगी भी नहीं रहना चाहता है तो फिर दोबारा राग से उत्पन्न होने की कथा ही कैसे की जा सकती है। उसी प्रकार कर्म से पीड़ित हुआ ज्ञानी पुरुष कर्म जन्य क्रिया को करता हुआ भी कर्मपद को नहीं चाहता तो फिर उसमें अभिलाषा सहित किस न्याय से हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता और कर्म को नहीं चाहने वाले इसके वेदना का प्रतीकार असिद्ध भी नहीं है। क्योंकि जब वह रोगी है तो वेदना का प्रतीकार अवश्य होगा। हाँ इतनी बात अवश्य है कि वह नूतन रोगादि का कारण नहीं होगा। सम्यग्दृष्टि जीव भोगों का सेवन करता हुआ भी उसका सेवन करने वाला नहीं होता, क्योंकि राग रहित जीव की अनिच्छा से किया गया कर्म राग का कारण नहीं होता। यद्यपि किसी सम्यग्दृष्टि के कर्मफल चेतना होती है। पर वास्तव में वह ज्ञान चेतना ही है। कर्मचेतना और कर्मफल चेतना का फल बन्ध माना गया है। पर इस सम्यग्दृष्टि के रोग का अभाव हो जाने से बन्ध नहीं होता, इसलिए वह ज्ञान चेतना ही है[19]।

सम्यक्त्व प्राप्ति से पूर्व पञ्चलब्धियों का होना - शास्त्र में सम्यक्त्व होने से पूर्व पंच लब्धियों का होना कहा है। क्षायोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि, करणलब्धि।

क्षयोपशम लब्धि - जिसके होने पर तत्त्व विचार हो सके, ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम हो अर्थात् उदयकाल को प्राप्त स्पृद्धकों स्पद्धकों के निषेकों के उदय का अभाव सो क्षय, तथा अनागतकाल में उदय आने योग्य उन्हीं का सत्तारुप रहना सो उपशम ऐसी देशघाती स्पर्द्धकों के उदय सहित कर्मों की अवस्था उसका नाम क्षयोपशम है उसकी प्राप्ति सोक्षयोपशमलब्धि है।

विशुद्धि लब्धि - मोह का उदय आने से मन्द कषायरूप भाव हों कि जहाँ तत्त्वविचार हो सके, सो विशुद्धि लब्धि है।

देशना लब्धि - जिनदेव के उपदिष्ट तत्त्व का धारक हो, विचार हो, सो देशनालब्धि है। जहाँ नरकादि में उपदेश का निमित्त न हो वहाँ वह पूर्व संस्कार से होती है।

प्रायोग्य लब्धि - कर्मों की पूर्व सत्ता अंत: कोड़ा-कोडी सागर प्रमाण रह जाये और नवीन बन्ध अंत कोड़ा-कोड़ी प्रमाण उसके संख्यातवें भाग मात्र हो, वह भी उस लब्धि काल से लगाकर क्रमश: घटता जाये और कितनी ही पाप प्रकृतियों का बन्ध क्रमश: मिटता जाये। इत्यादि योग्य अवस्था का होना सो प्रायोग्य लब्धि है।

ये चारों लब्धियाँ भव्य या अभव्य के होती हैं। ये चार लब्धियाँ होने के बाद सम्यक्त्व प्राप्ति होती हो, न हो तो नहीं भी हो - ऐसा लब्धिसार में कहा गया है। इसलिए उस तत्त्व विचार वाले को सम्यक्त्व होने का नियम नहीं है। जैसे - किसी को हित की शिक्षा दी, उसे जानकर वह विचार करे कि यह जो शिक्षा दी सो कैसे है ? पश्चात् विचार करने पर उसको जैसे ही है - ऐसी उस शिक्षा की प्रतीति हो जाये अथवा अन्यथा विचार हो या अन्य विचार में लगकर उस शिक्षा का निर्धारण न करे तो प्रतीति नहीं भी हो, उसी प्रकार श्री गुरु ने तत्त्वोपदेश दिया, उसे जानकर विचार करे कि यह उपदेश दिया सो किस प्रकार है ? पश्चात् विचार करने पर उसको ऐसे ही है - ऐसी प्रतीति हो जाये अथवा अन्यथा विचार हो या अन्य विचार में लगकर उस उपदेश का निर्धारण न करे तो प्रतीति नहीं भी हो। सो मूल कारण मिथ्यात्व कर्म है, उसका उदय मिटे तो प्रतीति हो जाये, न मिटे तो नहीं हो - ऐसा नियम है उसका उद्यम तो तत्त्वविचार करना मात्र ही है।

पांचवी करण लब्धि होने पर सम्यक्त्व ही हो - ऐसा नियम है। सो जिसके पहले कही हुई चार लब्धियाँ तो हुई हों और अन्तर्मुहूर्त पश्चात् जिसके सम्यक्त्व होना हो उसी जीव के करण लब्धि होती है।

सो इस करण लब्धि वाले के बुद्धिपूर्वक तो इतना ही उद्यम होता है कि उस तत्त्व विचार में उपयोग को तद्रूप होकर लगाये, उससे समय-समय परिणाम निर्मल होते जाते हैं। जैसे किसी के शिक्षा का विचार ऐसा निर्मल होने लगा कि जिससे उसको शीघ्र ही उसकी प्रतीति हो जायेगी, उसी प्रकार तत्त्वोपदेश का विचार ऐसा निर्मल होने लगा कि जिससे उसको शीघ्र ही उसका श्रद्धान हो जायेगा तथा इन परिणामों का तारतम्य केवल ज्ञान द्वारा देखा, उसका निरुपण करणानुयोग में किया है।

इस करण लब्धि के तीन भेद हैं - अधःकरण, अपूर्व करण, अनिवृत्तिकरण।

त्रिकालवर्ती सर्वकरण लब्धि वाले जीवों के परिणामों की अपेक्षा ये तीन नाम हैं। वहाँ करण नाम तो परिणाम का है।

जहाँ पहले और पिछले समयों के परिणाम समान हों सो अधःकरण है। जैसे किसी जीव के परिणाम उस करण के पहले समय में अल्प विशुद्धता सहित हुए पश्चात् समय-समय अनन्तगुनी विशुद्धता से बढ़ते गये तथा उसके द्वितीय-तृतीय आदि समयों में जैसे परिणाम हों वैसे किन्हीं अन्य जीवों के प्रथम समय में ही हों और उनके उससे समय-समय अनन्तगुनी विशुद्धता से बढ़ते हों। इस प्रकार अधःप्रवृत्तिकरण जानना। जिनमें पहले और पिछले समयों के परिणाम समान न हों, अपूर्व ही हों, वह अपूर्वकरण है। जैसे कि उस करण के परिणाम जैसे पहले समय में ही हों। वैसे किसी भी जीव के द्वितीयादि समयों में नहीं होते, बढ़ते ही होते हैं तथा यहाँ अधः करणवत् जिन जीवों के करण का पहला समय ही हो, उन अनेक जीवों के परिणाम परस्पर समान भी होते हैं और अधिक हीन विशुद्धता सहित भी होते हैं, परन्तु यहाँ इतना विशेष हुआ कि इसकी उत्कृष्टता से भी द्वितीयादि समय वाले के जघन्य परिणाम भी अनन्तगुनी विशुद्धता सहित भी होते हैं। इसी प्रकार जिन्हें करण प्रारम्भ किये द्वितीयादि समय हुए हों, उनके उस समय वालों के परिणाम तो परस्पर समान या असमान होते हैं परन्तु ऊपर के समय वालों के परिणाम उस समय समान सर्वथा नहीं होते, अपूर्व ही होते हैं। इस प्रकार अपूर्व करण जानना तथा जिसमें समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान ही होते हैं निवृत्ति अर्थात् परस्पर भेद उससे रहित होते हैं, जैसे उस करण के

पहले समय में सर्व जीवों के परिणाम परस्पर समान ही होते हैं, उसी प्रकार द्वितीयादि समयों में परस्पर समानता जानना, तथा प्रथमादि समय वालों से द्वितीयादि समय वालों के अनन्तगुनी विशुद्धता सहित होते हैं इस प्रकार अनिवृत्तिकरण जानना। इस प्रकार ये तीन करण जानना वहाँ पहले अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त अधःकरण होता है वहाँ चार आवश्यक होते हैं समय-समय की अनन्तगुनी विशुद्धता होती है, तथा एक-एक अन्तर्मुहूर्त से नवीन बन्ध की स्थिति घटती जाती है तो स्थिति बन्धापसरण है तथा प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग समय-समय अनन्तगुना बढ़ता है, और अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध समय-समय अनन्तवें भाग होता है। इस प्रकार चार आवश्यक होते हैं।

वहाँ पश्चात् अपूर्व करण होता है। उसका काल अधःकरण के काल के असंख्यात वें भाग है। उसमें ये आवश्यक और होते हैं एक-एक अन्तर्मुहूर्त से सत्ताभूत पूर्वकर्म की स्थिति थी, उसको घटाता है सो स्थिति काण्ड घात है तथा उससे छोटे एक-एक अन्तर्मुहूर्त से असंख्यातगुने प्रमाण सहित कर्मों को निर्जरा के योग्य करता है, सो गुण श्रेणी निर्जरा है तथा गुण संक्रमण यहाँ नहीं होता, परन्तु अन्यत्र अपूर्व करण ही होता है।

इसी प्रकार अपूर्व करण होने के पश्चात् अनिवृत्तिकरण होता है। उसका काल अपूर्वकरण के भी संख्यातवें भाग है। उसमें पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना भी काल जाने के बाद अन्तरकरण करता है, जो अनिवृत्तिकरण के काल पश्चात् उदय आने योग्य ऐसे मिथ्यात्व कर्म के मुहूर्तमात्र निषेक उनका अभाव करता है, उन परमाणुओं को अन्य स्थिति रूप परिणमन करता है तथा अन्तरकरण करने के पश्चात् उपशम करण करता है। अन्तरकरण द्वारा अभाव रूप किये निषेककों के ऊपर वाले जो मिथ्यात्व के निषेक हैं उनको उदय आने के अयोग्य बनाता है। इत्यादिक क्रिया द्वारा अनिवृत्ति करण के अन्त समय के अनन्तर जिन निषेकों का अभाव किया गया था, उनका काल आये, तब निषेकों के बिना उदय किसका आयेगा इसलिए मिथ्यात्व का उदय न होने से प्रथमोपशम सम्यक्तव की प्राप्ति होती है। अनादि मिथ्यादृष्टि के सम्यक्तत्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय की सत्ता नहीं है इसलिए वह एक मिथ्यात्व कर्म का ही उपशम करके सम्यग्दृष्टि होता है तथा कोई जीव सम्यक्तव पाकर फिर भ्रष्ट होता है। उसकी दशा भी अनादि मिथ्यादृष्टि जैसी हो जाती है[20]।

परिणामों की विचित्रता है। कोई जीव तो ग्यारहवें गुणस्थान में यथाख्यात चरित्र प्राप्त करके पुनः मिथ्यादृष्टि होकर किन्चित न्यून अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल पर्यन्त संसार में रुलता है और कोई नित्य निगोद से निकलकर मनुष्य होकर मिथ्यात्व कर्म छूटने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में केवल ज्ञान प्राप्त करता है। ऐसा जानकर अपने परिणाम बिगड़ने का भय रखना और उनके सुधारने का उपाय करना[21]।

सम्यक्तव के चिह्न – सम्यक्तव का मुख्य चिह्न उपाधि रहित शुद्ध ज्ञान, चेतना स्वरूप आत्मा की अनुभूति है। यद्यपि अनुभूति ज्ञान का भेद है तथापि यह सम्यक्तव होने पर होती है। अतः इसे बाह्य चिह्न कहा जाता है। ज्ञान स्वसंवेदन रूप है। रागादि विकार रहित शुद्ध ज्ञानभाव का आत्मा को आस्वादन होता है कि जो यह शुद्ध ज्ञान है 'वह मैं हूँ और ज्ञान में रागादिक विकार कर्म के निमित्त से उत्पन्न है। वे मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार के भेदज्ञान मात्र के आस्वादन को ज्ञान की अनुभूति होती है। यह आत्मा की अनुभूति है। शुद्ध नय का यही विषय है ऐसी अनुभूति

से शुद्ध नय के द्वारा ऐसा भी श्रद्धान होता है कि समस्त कर्म जनित रागादि भाव से रहित अनंत चतुष्टय मेरा रूप है। अन्य सब भाव कर्म संयोग जनित हैं। इस प्रकार आत्मा की अनुभूति सम्यक्तव का मुख्य चिह्न है। यह मिथ्यात्व अनंतानुबन्धी का अभाव कर जो सम्यक्तव होता है उसका चिह्न है। चिह्न को सम्यक्तव कहना व्यवहार है। इसकी परीक्षा सर्वज्ञ के आगम, अनुमान तथा स्वानुभव प्रत्यक्ष से की जाती है। इसी को निश्चय तत्त्वार्थ श्रद्धान भी कहते हैं। सम्यक्तव की पहचान अपने आप तो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से होती है। और दूसरे सम्यक्तव की पहचान उसकी परीक्षा, उसके वचन, काय की क्रियां की परीक्षा से होती है। यह व्यवहार है। परमार्थ सर्वज्ञ जानता है व्यवहारी जीव को सर्वज्ञ ने व्यवहार ही का शरण लेने का उपदेश दिया है।

प्रश्न – सम्यक्तव तो केवली गम्य ही है अत: आपको सम्यक्तव हुआ है यह निश्चय नहीं हो सकता। अत: अपने आपको सम्यग्दृष्टि नहीं मानना चाहिए ?

उत्तर – इस प्रकार सर्वथा एकान्त रूप से कहना मिथ्यादृष्टि है। यदि सब इस प्रकार कहेंगे तो व्यवहार का लोप हो जायेगा। समस्त मुनियों तथा श्रावकों की प्रवृत्ति मिथ्यात्व सहित ठहरेगी, इस प्रकार सब अपने आपको मिथ्यादृष्टि मानेंगे फिर व्यवहार नहीं रहेगा। अत: परीक्षा होने के बाद यह श्रद्धान नहीं रखना चाहिए कि मैं मिथ्यादृष्टि हूँ। तत्वार्थ का श्रद्धान करना चाहिए। जैसा सर्वज्ञ देव ने कहा है वैसा ही अंगीकार करना चाहिए। सम्यक्तव के बाह्य चिह्न चार हैं - प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य।

प्रश्न - पंचेन्द्रियों के विषय में और असंख्यात लोक प्रमाण क्रोधादिक भावों में स्वभाव से मन का शिथिल होना प्रशम भाव है। अथवा उसी समय अपराध करने वाले जीवों के विषय में कभी भी उनके मारने आदि की प्रयोजन बुद्धि का नहीं होना प्रशम भाव है। इस प्रशम भाव के होने में अनन्तानु बन्धियों का उदयाभाव और शेष कषायों का अंशरूप में मन्दोदय कारण है। यद्यपि प्रशम भाव से युक्त सम्यग्दृष्टि जीव दैव वश बिना इच्छा के आरम्भ आदि क्रिया करता है तथापि अन्तरंग में शुद्धता होने से वह क्रिया उसके प्रशम गुण के नाश का कारण नहीं हो सकती सम्यक्तव के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला जो प्रशम भाव है वह परम् गुण है और सम्यक्तव के अभाव में जो प्रशमभाव होता है वह प्रशम भाव न होकर प्रषमाभाव है[22]।

संवेग - धर्म और धर्म के फल में आत्मा का परम उत्साह होना या समान धर्म वालों में अनुराग का होना या परमेष्ठियों में प्रीति का होना संवेग है। सम्यक्त्व मात्र या शुद्ध आत्मा का अनुभव ही धर्म है और अतीन्द्रिय, अविनाशी क्षायिक सुख ही उसका फल है। समान धर्म वालों में और पाँच परमेष्ठियों में जो अनुराग हो वह उनके गुणों में अनुराग बुद्धि से ही होना चाहिए। किन्तु जो समान धर्मवालों या पांच परमेष्ठियों के गुणों से रहित है उनमें इन समान होने की लिप्सा के बिना भी अनुराग नहीं होना चाहिए। प्रकृत में अनुराग शब्द का अर्थ अभिलाषा नहीं कहा गया है किन्तु अधर्म और अधर्म के फल से निवृत्त होकर जो शेष रहता है वही अनुराग शब्द का अर्थ है। अथवा जिस समय अनुराग शब्द का अर्थ विधिरूप से कहा गया है उस समय उसका अर्थ प्राप्ति और उपलब्धि होता है क्योंकि अनुराग प्राप्ति और उपलब्धि ये तीनों शब्द एकार्थ वाचक हैं। ऐसी अशंका नहीं करना चाहिए कि अभिलाषा केवल भोगों में ही निबिद्ध मानी गई है किन्तु जैसे भोगों की अभिलाषा निषिद्ध है वैसे ही शुद्धोपलब्धि की अभिलाषा भी निषिद्ध मानी गयी है। वास्तव में जितनी भी अभिलाषा है वह सब सम्यग्दर्शन के अभाव में होती है, इसलिए वह

अज्ञान रूप ही है क्योंकि जिसे तत्वार्थ की प्राप्ति नहीं हुई है, वही प्राप्ति करना चाहता है जिसने प्राप्त कर लिया है । वास्तव में जितनी भी अभिलाषायें हैं वे सब केवल मिथ्याकर्म के उदय से होती हैं इसलिए मिथ्या ही है क्योंकि वह हम प्रत्यक्ष से देखते हैं कि कोई भी अभिलाषा अपने अभीष्ट क्रिया की सिद्धि कराने में समर्थ नहीं है । उदाहरणार्थ -कहीं पर अभिलाषा के होने पर भी कारण सामग्री के नहीं मिलने से इष्ट सिद्धि नहीं होती है और कहीं पर अभिलाषा के नहीं होने पर भी कारण सामग्री के मिल जाने से इष्ट सिद्धि हो जाती है । यद्यपि सम्पूर्ण जगत यश, लक्ष्मी, पुण्य और मित्र आदि की चाह करता है तथापि पुण्योदय के बिना केवल चाह मात्र से उनकी प्राप्ति नहीं होती । इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत जरा, मृत्यु और दरिद्रता आदि की चाह नहीं करता है तथापि यदि जीव के अशुभ का उदय है तो राह के बिना भी जबरदस्ती उनका संयोग हो जाता है । संवेग विधिरूप होती है और निर्वेद निषेधरुप होता है । विवक्षा वश से ही ये दो हैं वास्तव में इन दोनों में कोई भेद नहीं है । सब प्रकार की अभिलाषाओं का त्याग ही निर्वेद है, क्योंकि इसका यही लक्षण है । अथवा वह निर्वेद, संवेगरूप धर्म प्राप्त होता है, क्योंकि जो अभिलाषा सहित होता है उसके संवेग धर्म नहीं हो सकता । यदि क्रियामात्र को धर्म कहा जाय तो भी बात नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि के निरन्तर रागादि पाये जाते हैं इसलिए वास्तव में वह अधर्म ही है। वह राग रहित कभी भी नहीं हो सकता और सम्यग्दृष्टि जीव निरन्तर रागरहित होता है अथवा उसके सदा काल राग नहीं पाया जाता[23] ।

अनुकम्पा - जो भूखे, प्यासे अथवा अन्य प्रकार से दुखी प्राणी को देखकर स्वयं दुखित हृदय होता हुआ दयापूर्वक उसे अपनाता है उसका दुख दूर करने का प्रयत्न करता है उसके अनुकम्पा होती है[24] । अनुकम्पा का अर्थ कृपा है, या सब जीवों का अनुग्रह करना अनुकम्पा है । या मैत्री भाव का नाम अनुकम्पा है । या माध्यस्थ भाव का नाम अनुकम्पा या शत्रुता का त्याग कर देने से शल्य रहित हो जाना अनुकम्पा है । इसका कारण केवल दर्शन मोहनीय का अनुदय है क्योंकि मिथ्याज्ञान के बिना किसी जीव में वैर भाव नहीं होता है । पर के निमित्त से अपने लिए या अपने निमित्त से अन्य प्राणियों के लिए थोड़े भी सुख, दुखादि या मरण और जीवन की चाह करना मिथ्या ज्ञान है और जिसके यह अज्ञान होता है वही मिथ्यादृष्टि है और वह शल्य वाला है । वह अज्ञानवश दूसरे को मारना चाहता है पर मार नहीं सकता । सब प्राणियों में जो समभाव धारण किया जाता है वह परानुकम्पा है और काँटे के समान शल्य का त्याग कर देना वास्तव में स्वानुकम्पा है । रागादि अशुद्ध भावों के सद्भाव में बन्ध ही होता है और उनके अभाव में बन्ध नहीं होता, इसीलिए अपने ऊपर ऐसी कृपा करनी चाहिए जिससे रागादि भाव न हों[25] ।

आस्तिक्य - स्वत: सिद्ध तत्त्वों के सद्भाव में निश्चय भाव रखना तथा धर्म- धर्म के हेतु, और धर्म के फल में आत्मा की अस्थि आदि रूप बुद्धि का होना आस्तिक्य है। जो स्वत: सिद्ध है, अमूर्त है और चेतन है वह आत्मा है । इसका दूसरा नाम जीव है तथा इसके सिवाय जितना भी पदार्थ है वह सब अजीव है । आत्मा अनादि काल से कार्माण वर्गणा रूप कर्मों से बंधा हुआ है और अपने को उन्हीं का कर्ता व भोक्ता मान रहा है । जब इनका क्षय कर देता है तब मुक्त हो जाता है । उस संसारी जीव के पुण्य, पाप इनका कारण, इनका फल और आस्त्रव सदैव बने रहते हैं । इस प्रकार पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा बन्ध भी है, मोक्ष भी है और उनका फल भी है। किन्तु शुद्ध नय की अपेक्षा सभी जीव सदा शुद्ध हैं । उनमें एक जीव ही ऐसा है जो स्वसंवेद्य,

चिदात्मक और सो हम प्रत्ययवेद्य होने से उपादेय है, बाकी जितने भी रागादि भाव हैं, वे सब हेय हैं, क्योंकि वे पौदगलिक हैं । इस प्रकार अनादि काल से चला आया और समस्त जीवादि वस्तु समुदाय निश्चय और व्यवहार नय से जो जैसा माना गया है, वह वैसा ही है ऐसी बुद्धि का होना आस्तिक्य है ।

जो सम्यक्त्व का अविनाभावी है और जिसका स्वानुभूति एक लक्षण है वह सम्यक् आस्तिक्य है और इससे विपरीत मिथ्या आस्तिक्य है ।

शंका – वास्तव में एक केवल ज्ञान ही प्रत्यक्ष है बाकी के चारों ज्ञान कभी भी प्रत्यक्ष नहीं हैं अथवा अपने आत्मा के सुखादिक की तरह इन्द्रिय जन्य ज्ञान एक देश प्रत्यक्ष हैं इसलिए आस्तिक्य भाव स्व संवेदन प्रत्यक्ष का विषय कैसे हो जाता है ।

समाधान – यह कहना ठीक है तथापि आदि के दो ज्ञान पर पदार्थों का ज्ञान करते समय यद्यपि परोक्ष है तथापि दर्शन मोहनीय के उपशम आदि के कारण स्थानुभव के समय यद्यपि परोक्ष है तथापि दर्शन मोहनीय के उपशम आदि के कारण स्थानुभव के समय वे प्रत्यक्ष ही हैं । प्रकृत में अपने आत्मा की अनुभूति ही आस्तिक्य नाम का परम गुण माना गया है । फिर चाहे पर द्रव्य का ज्ञान हो, चाहे मत हो, क्योंकि पर पदार्थ पर हैं । दूसरे यद्यपि जीवादि पर पदार्थ परोक्ष हैं तथापि इस सम्यग्दृष्टि जीव को जैसी उनकी गाढ प्रतीति होती है । वैसी उनकी स्पष्ट प्रतीति मिथ्यादृष्टि के भी नहीं होती, क्योंकि दर्शन मोहनीय के उदय से उसके निरन्तर भ्रान्ति बनी रहती है । इसलिए युक्ति, स्वानुभव और आगम से भलीभाँति सिद्ध होता है कि सम्यक्त्व के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला आस्तिक्य नाम का महान गुण है[26] ।

सम्यक्त्व के आठ गुणों का प्रशमादिक में अन्तर्भाव – सम्यक्त्व के आठ गुण कहे गये हैं- संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, शक्ति, वात्सल्य तथा अनुकम्पा । इनका अन्तर्भाव प्रशमादिक चार में ही हो जाता है । संवेग में निर्वेद, वात्सल्य तथा भक्ति का अन्तर्भाव हो जाता है । प्रशम के अन्तर्गत निन्दा तथा गर्हा आती है । अनुकम्पा स्वयमेव है ही, इस प्रकार जानना चाहिए ।

सम्यग्दृष्टि का ज्ञायकपना – सम्यग्दृष्टि जीव निज और पर के उदय को इस प्रकार जानता है कि राग नाम का पुद्गल कर्म है । यह रागभाव उसी के विपाक का उदय है। यह मेरा स्वभाव नहीं है । मैं तो एक ज्ञायकभाव रूप हूँ । इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपको ज्ञायक स्वभाव जानता है और वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ उदयागत रागादि भाव को कर्म का विपाक जानकर छोड़ता है[27] ।

अष्ट पाहुड में सम्यक्त्व का कथन – जो पुरुष सम्यक्त्व रूपी रत्न से भ्रष्ट (रहित) हैं और बहुत प्रकार के शास्त्र को जानते हैं वे आराधना रहित होकर संसार में भ्रमण करते हैं[28] । दो बार कहने से बहुत भ्रमण ज्ञापित कराया है । ऐसे व्यक्ति के सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप रूप आराधना नहीं होती है । वे अनेक प्रकार के कर्मों के कारण चतुर्गति रूप संसार में ही भ्रमण करते हैं मोक्ष नहीं पाते हैं । सम्यक्त्व के बिना ज्ञान को आराधना नहीं कहते हैं[29] । जो सम्यक्त्व से रहित हैं वे भले प्रकार उग्र तप का आचरण करने पर भी बोध अर्थात् दर्शन, ज्ञान चारित्रमयी अपने स्वरूप के लाभ को नहीं पाते हैं । वे हजार करोड़ वर्ष तप करें तो भी उनको स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती है[30] । हजार कोडि वर्ष करने से इतने ही वर्ष नहीं जानना चाहिए, काल का बहुत पना ज्ञापित किया

है[31] । जिस पुरुष के हृदय में सम्यक्त्व रूपी जल का प्रवाह निरन्तर वर्तता है, उसके कर्मरूपी बालू या रज नहीं लगता है, पहले बाँधे हुए कर्म भी नाश को प्राप्त होता है[32] । तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व रहित पुरुष के कर्म के उदय से हुए रागादि भावों का स्वामीपना नहीं है । अतः कषायों की तीव्र कलुषता से रहित उज्जवल परिणाम होते हैं । इसके लिए जल की उपमा दी गई है । जैसे जल का प्रवाह जहाँ निरन्तर बहता है, वहाँ बालू (रेत या रज) लगती नहीं है, जो पहले लगी थी, वह भी झड़ जाती है, इसी प्रकार सम्यक्त्व सहित जीव कर्म के उदय को भोगता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता है[33] । सम्यक्त्व से ज्ञान सम्यक्त्व हो जाता है तथा सम्यक् ज्ञान से सब पदार्थों की उपलब्धि (प्राप्ति) तथा जानना होता है । पदार्थ की उपलब्धि होने से कल्याण, अकल्याण, दोनों का ज्ञान होता है[34] । सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा है । अतः भला बुरा मार्ग जानने में भी सम्यग्दर्शन प्रधान है[35] । छह द्रव्य, नव पदार्थ, पाँच अस्तिकाय, सात तत्व ये जिन वचनों में कहे गये हैं, उनके स्वरूप का जो श्रद्धान करें सो सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए[36] । जीवादि पदार्थों का श्रद्धान जिन भगवान ने व्यवहार से सम्यक्त्व कहा है । निश्चय से अपनी आत्मा का श्रद्धान सम्यक्त्व है[37] । भावार्थ यह है कि तत्त्वार्थ का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है । अपने आत्म स्वरूप का अनुभव कर उसकी श्रद्धा, प्रतीति, रचि आचरण निश्चय से सम्यक्त्व है । पुनश्च परिणाम आत्मा ही है। इस प्रकार सम्यक्त्व और आत्मा एक ही वस्तु है, यह निश्चय नय का आशय जानना चाहिए[38]। यदि करने को समर्थ हो तो करो । (यदि करने को समर्थ न हो तो नहीं करो ।) क्योंकि केवली भगवान ने श्रद्धान करने वाले के सम्यक्त्व कहा है[39] ।

यहाँ आशय यह है कि यदि कोई कहे कि सम्यक्त्व होने के बाद तो समस्त और पर द्रव्य और संसार को हेय माना जाता है जिसको हेय जाना जाता है उसको छोड़कर मुनि हो कोई व्यक्ति चारित्र का आचरण करें तब सम्यक्त्व हुआ ऐसे व्यक्ति के समाधान स्वरूप यह गाथा है जब सब द्रव्यों को हेय जाना, निज स्वरूप को उपादेय जाना, श्रद्धान किया तब मिथ्या भाव तो मिटा, परन्तु चारित्रमोह के प्रबल होने से उतना चारित्र अंगीकार करने को कोई समर्थ नहीं है तो जितनी सामर्थ्य हो उतना तो चारित्र अंगीकार करें, इसके अतिरिक्त श्रद्धान करे । इस प्रकार करने वाले के भगवान ने सम्यक्त्व कहा है[40] ।

सम्यक्त्व होने का कारण - सम्यक्त्व का मूल कारण तो मिथ्यात्वकर्म का हीन होना है। जहाँ मिथ्यात्व का उदय नहीं होता हैं वहाँ सम्यक्तव हो जाता है । मनुष्य का उद्यम तो तत्त्व विचार करने का ही है, उसे करना चाहिए । तत्व विचार की महिमा देखो - तत्त्व विचार रहित देवादिक की प्रतीति करे, शास्त्र का बहुत अभ्यास करे, व्रतादिक-तपश्चरणादिक करे, उसके तो सम्यक्तव होने का अधिकार नहीं है और तत्व विचार वाला शास्त्र के अभ्यास के बिना देवादिक का बाह्य निमित्त मिले बिना तथा व्रत किये बिना भी सम्यक्तव का अधिकारी होता है ।

किसी के तत्त्व विचार होने से अनन्तर तत्व प्रतीति न होने से सम्यक्तव तो नहीं हुआ तथा व्यवहार धर्म की प्रतीति-रुचि हो गई अतः देवादिक की प्रतीति करता है तथा व्रत, तप को अङ्गीकार करता है । किसी के देवादिक की प्रतीति और सम्यक्तव एक साथ होते हैं तथा व्रत, तप सम्यक्तव के साथ भी होता है, किन्तु देवादिक की प्रतीति का तो नियम है । उस बिना सम्यक्तव नहीं होता है, व्रतादिक का तो नियम नहीं है, बहुत से जीवों के तो ऐसा होता है कि पहले सम्यक्त्व होता है, पीछे व्रतादिक को धारण करता है किसी के सम्यक्तव और व्रतादिक युगपत् होते हैं । इस प्रकार यह तत्व विचार वाला जीव सम्यक्तव का अधिकारी है परन्तु इसके सम्यक्तव हो ही, ऐसा नियम नहीं है ।

कौनसा जीव सम्यग्दृष्टि है – जो जीव आप्त प्रणीत तत्वों पर निर्दोष और पक्का श्रद्धान करता है, वह सम्यग्दृष्टि है तथा गुरु के निमित्त से पदार्थ के अन्यथा-असद्भाव का भी विश्वास, श्रद्धान करने वाला सम्यग्दृष्टि है[41]। विशेष शास्त्रों के दिखलाने पर कि देखो तुम गुरु आज्ञा प्रमाण होने पर भी विपरीत श्रद्धान कर रहे हो, ऐसा समझाने पर भी यदि उसे नहीं छोड़ता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है[42]। गणधर देव के द्वारा कथित आगम को सूत्र कहते हैं। प्रत्येक बुद्धिमान ऋषियों द्वारा रचित आगम सूत्र है तथा श्रुत केवलियों द्वारा निरुपित आगम भी सूत्र है और अभिन्न दल पूर्वी आचार्यों द्वारा आगम ग्रन्थ भी सूत्र कहलाता है[43]।

जो बारह प्रकार के गणों को धारण करते हैं, दुर्गति मार्ग पर स्थित जीवों को उपदेश देकर रत्नत्रय मार्ग पर लगाते हैं और सप्त ऋद्धियों के धारक हैं उन्हें गणधर प्रभु कहते हैं। श्रुतावरण कर्म के क्षयोपशम से परोपदेश के बिना ही जिनको सातिशय ज्ञान प्राप्त होता है उन्हें प्रत्येक बुद्ध कहते हैं। द्वादशांग श्रुतज्ञान धारण करने वाले महर्षियों को श्रुत केवली कहते हैं। अभिन्न 10 पूर्व के जानने वाले आचार्य अभिन्न दश पूर्वी कहलाते हैं। इन दस पूर्वों का पाठ करते समय विद्यानुवाद में वर्णित अंगुष्ठ प्रसेनादि क्षुल्लक विद्या प्राप्ति आदि महाविद्यायें इनके सामने करबद्ध हो आज्ञा मानती हैं किन्तु वे आचार्य शिरोमणि हमारा कोई कार्य नहीं है ऐसा निश्चल चित्त से उत्तर देते हैं।

जिसने सूत्रार्थ को अच्छी तरह समझ लिया है जो संसार से भयभीत हैं, जो रागद्वेष से रहित हैं ऐसे व्यक्ति द्वारा कहा गया सूत्रार्थ निसंशय प्रमाणभूत है, उसे भय है कि मैं विपरीत अर्थ का उपदेश करुँगा तो मुझे अनादि संसार में भ्रमण करना पड़ेगा। अत: ऐसे ही व्यक्ति को व्याख्यान देने का अधिकार है[44]।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव इन छह द्रव्यों का जिनेश्वर की आज्ञा प्रमाण जो श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि है और सम्यक्तव आराधना का आराधक है। संसारी जीवों के छह भेद हैं - पृथ्वी, जल, वायु, तेज और वनस्पति ये पाँच स्थावर और द्वि इन्द्रिय आदि त्रस जीव ये सभी षटकाय जीव संसार परिभ्रमण करने वाले हैं। अष्ट कर्मों का तथा भावकर्म, नोकर्म का समूल नाश करने वाले सिद्ध जीव हैं इनका यथार्थ श्रद्धान करना चाहिए। आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन पदार्थों का भी जिनाज्ञा प्रमाण श्रद्धान करना समयग्दृष्टि का कर्त्तव्य है। जो जीव समस्त सूत्र निर्दिष्ट वाङ्गमय का श्रद्धान करता है किन्तु एक पद का श्रद्धान नहीं करता वह समस्त श्रुत की रुचि करता हुआ भी मिथ्यादृष्टि है ?

सम्यग्दृष्टि से विपरीत मिथ्यादृष्टि तथा उसका स्वरूप – मोहनीय कर्म के उदय से जीव जिनदेव कथित प्रवचन पर श्रद्धा नहीं करता है किन्तु असत् पदार्थ चाहे वह उपदिष्ट हो या अनुपदिष्ट उसका श्रद्धान करता है। मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव अतत्व का श्रद्धान कर लेता है, विपरीत मति हो जाता है। सुख कारक धर्म भी उसे दु:खदायक प्रतीत होता है। जैसे ताप से संतप्त मनुष्य को पित्त प्रकोप बढ़ जाने से मीठे पदार्थ कटु लगते हैं उसी प्रकार मिथ्यात्व रूपी रोग से गृहस्थ जीव को यथार्थ वस्तु स्वरूप विपरीत प्रतिभाषित होता है[45]।

मिथ्यात्व का दुष्परिणाम – अधोलोक, मध्यलोक तथा उर्ध्वलोक में वह दु:ख न तो भूत काल में हुआ, न वर्तमान में है और न भविष्यकाल में होगा, जो दु:ख महाशत्रु, मिथ्यात्व के द्वारा दिया जाता है[46]।

सम्यक्त्व का उपकार - तीन लोक में वह सुख न तो भूतकाल में कभी हुआ है और न वर्तमान काल में है तथा न भविष्य काल में होगा जो सम्यक्त्व रूपी बंधु के द्वारा इस जीव को नहीं दिया जाता है[47] ।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति की योग्यता - चारों गति का भव्य संज्ञी, विशुद्ध परिणामी, जागता हुआ पर्याप्त, ज्ञानी जीव संसार के तट के निकट आने पर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है[48]। अर्थात् नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, और देवगति चारों गतियों के जीवों को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है किन्तु प्रथम तो वह जीव भव्य होना चाहिए क्योंकि अभव्य के सम्यक्त्व नहीं होता। दूसरे वह संज्ञी पंचेन्द्रिय होना चाहिए; क्योंकि असंज्ञी जीव के सम्यक्त्व नहीं होता। तीसरे प्रति समय अनन्त गुणी विशुद्धि वाला होना चाहिए और पीत, पद्म, शुक्ल लेश्याओं में से कोई एक लेश्या होनी चाहिए। चौथे जागता हुआ हो अर्थात् निद्रा-निन्द्रा, प्रचला-प्रचला और स्तयानगृद्धि इन तीन निद्राओं से रहित हो, और पाँचवे उसकी छहों पर्याप्तियाँ पूर्ण हो चुकी हों, क्योंकि अपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व नहीं होता। छठे ज्ञानी हो अर्थात् साकार उपयोग से युक्त हो; क्योंकि निराकार दर्शनोपयोग में सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता। सातवें उसके संसार भ्रमण का अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल अवशेष रहा हो, ऐसे जीव को ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है[49] ।

सम्यक्त्व के पच्चीस गुण - तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन और आठ शङ्का आदि इन पच्चीस दोषों को टालने से सम्यक्त्व के पच्चीस गुण होते हैं। सूर्य को अर्ध्य देना, चन्द्र ग्रहण, सूर्य ग्रहण में गंगा स्नान करना, मकर संक्रान्ति वगैरह के समय दान देना, सन्ध्या करना, अग्नि को पूजना, शरीर की पूजा करना, मकान की पूजा करना, गौ के पृष्ठभाग में देवताओं का निवास मानकर उसके पृष्ठभाग को नमस्कार करना, गोमूत्र सेवन करना, रत्न, सवारी, पृथ्वी वृक्ष, शस्त्र, पहाड़ आदि को पूजना, धर्म समझकर नदियों और समुद्र (सेतुबन्ध रामेश्वर वगैरह) में स्नान करना, बालू और पत्थर का ढेर लगाकर पूजना, पहाड़ से गिरकर मरना, आग में जलकर मरना, ये सब लोक मूढता है। लोक में प्रचलित इन मूढताओं का त्याग करना सम्यक्त्व का प्रथम गुण है। रागी, द्वेषी, देवों की सेवा करना देवमूढता है। इस देव विषयक मूर्खता को छोड़ना दूसरा गुण है। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से घिरे हुए कुगुरुओं को नमस्कार आदि करना गुरुमूढता है। इस गुरु विषयक मूर्खता को छोड़ना तीसरा गुण है। आठों मदों को छोड़ने से सम्यक्त्व के आठ गुण होते हैं। इस तरह ये ग्यारह गुण हैं। कुदेव, कुदेवों के भक्त मनुष्य, कुज्ञान, कुज्ञान के धारी, कुलिङ्गी और उसकी सेवा करने वाले ये छह आयतन हैं। इन छह आयतनों को त्याग देने से सम्यक्त्व के छह गुण होते हैं। इस प्रकार सत्रह गुण हुए। अर्हतदेव के द्वारा उपदिष्ट द्वादशाङ्ग वाणी में से एक भी अक्षर अथवा पद के विषय में ऐसी शंका न होना कि यह ठीक है अथवा नहीं, और जिन वचन तथा जैनदर्शन को सत्य मानना निःशङ्कित नाम का गुण है। इस लोक अथवा परलोक में इन्द्रिय सम्बन्धी विषय भोगों की इच्छा न करना निःकांक्षित नाम का गुण है। शरीर वगैरह को स्वभाव से ही अपवित्र जानकर उसमें यह पवित्र है, इस प्रकार का मिथ्या संकल्प न करना अथवा "जैनशास्त्रों में या जैन मार्ग में जो मुनियों के लिए स्नान न करना वगैरह बतलाया है, वह ठीक नहीं है, इससे घोर कष्ट होता है, यह न होता तो शेष सब ठीक है, इस प्रकार की दुर्भावना का न होना तीसरा निर्विचिकित्सा गुण है। संसार में प्रचलित अनेक मिथ्या मार्ग को परीक्षा रूपी चक्षु के द्वारा युक्ति शून्य जानकर उनके विषय में मोह न करना अर्थात् मिथ्या तत्वों के भ्रम

में न पड़ना अमूढ़ दृष्टि नामक गुण है। उत्तम क्षमा आदि भावनाओं के द्वारा अपने और चतुर्विध संघ के धर्म को बढ़ाना तथा चतुर्विध संघ के दोषों को दूर करना उपबृंहण अथवा उपगूहन नामक गुण है। धर्म के विध्वंश करने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ वगैरह कारणों के होते हुए भी धर्म से च्युत न होना और दूसरे यदि धर्म से च्युत होते हों तो उनको धर्म में स्थिर करना स्थितिकरण गुण है। जिन भगवान् के द्वारा उपदिष्ट धर्मरूपी अमृत में नित्य अनुराग रखना, जिन शासन का सदा अनुरागी होना अथवा जैसे तुरन्त की ब्याही हुई गाय अपने बच्चे वगैरह से स्नेह करती है वैसे ही चतुर्विध संघ में अकृत्रिम स्नेह करना वात्सल्य गुण है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र और रूप के द्वारा आत्मा का प्रकाश करना और महापूजा, महादान वगैरह के द्वारा जैनधर्म का प्रकाश करना अर्थात् ऐसे कार्य करना जिसके जिन शासन का लोक में उद्योत हो, आठवां प्रभावना गुण है। ये सम्यक्त्व के पच्चीस गुण हैं[50]।

सम्यक्त्व के 63 गुण - कार्तिकेयानुप्रेक्षा के टीकाकार शुभचन्द्राचार्य ने अपनी संस्कृत टीका में सम्यक्त्व के 63 गुण बतलाये हैं और उसमें से 48 को मूल गुण और 15 को उत्तर गुण कहा है। सम्यक्त्व के गुणों के मूल और उत्तर भेद हमारे देखने में अन्यत्र नहीं आये तथा इन त्रेसठ गुणों में से कुछ गुण पुनरुक्त पड़ जाते हैं।

सम्यक्त्व के आठ गुण और हैं - संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा और वात्सल्य धर्म और धर्मफल में अत्यन्त अनुराग होना संवेग है। संसार शरीर और भोगों से विरक्त होना निर्वेद है। निन्दा स्वयं की जाती है और गर्हा गुरु वगैरह की साक्षीपूर्वक होती है। क्षमाभाव को उपशम कहते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की तथा सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी और चारित्रवानों की भक्ति करना भक्ति है। साधर्मीजनों में वात्सल्य होता है। ये सम्यक्त्व के आठ गुण हैं। तथा शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा, अन्यदृष्टि संस्तव ये सम्यग्दृष्टि के अतिचार हैं। जैसे - निग्रन्थों की मुक्ति कही है वैसे ही सग्रन्थ गृहस्थ की भी मुक्ति हो सकती है क्या ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। यह सम्यक्त्व का शंका अतिचार से बचने रूप प्रथम गुण है। इस लोक और परलोक के भोगों की चाह को कांक्षा कहते हैं। इस कांक्षा अतिचार से बचना सम्यक्त्व का दूसरा गुण है। रत्नत्रय से मण्डित निर्ग्रंथ साधुओं के मलिन शरीर को देखकर ग्लानि करना विचिकित्सा है और उसका न करना सम्यक्त्व का तीसरा गुण है। मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान और चारित्र की मन से तारीफ करना प्रशंसा है और उसका न करना सम्यक्त्व का चौथा गुण है। मिथ्यादृष्टि में गुण हों अथवा न हों, उनका वचन से बखान करना संस्तव है और उसका न करना सम्यक्त्व का पाँचवां गुण है। इस तरह पाँच अतिचारों को छोड़ने से सम्यक्त्व के पाँच गुण होते हैं तथा सात प्रकार के भय को त्यागने से सात गुण होते हैं, जो इस प्रकार हैं - इस लोक सम्बन्धी भय का त्याग, परलोक सम्बन्धी भय का त्याग, कोई पुरुष वगैरह मेरा रक्षक नहीं है इस प्रकार के अरक्षा भय का त्याग, आत्म रक्षा के उपाय दुर्ग आदि के अभाव में होने वाले अगुप्ति भय का त्याग, मरणभय का त्याग, वेदना भय का त्याग और बिजली गिरने आदि रूप आकस्मिक भय का त्याग तीन शल्यों के त्याग से तीन गुण होते हैं। माया शल्य अर्थात् दूसरों को ठगने आदि का त्याग, तत्त्वार्थ श्रद्धान के अभाव रूप मिथ्यादर्शन शल्य का त्याग, विषय सुख की अभिलाषा रूप निदान शल्य का त्याग। इस तरह इन सबको मिलाने पर सम्यग्दृष्टि के (25+8+5+7+3 = 48) अड़तालीस मूलगुण होते हैं तथा मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों का त्याग और मांस,

जुआ, मदिरा, वेश्या, शिकार, परस्त्री और चोरी इन सात व्यसनों का त्याग इस तरह आठ मूलगुणों और सात व्यसनों के त्याग को मिलाने से सम्यक्त्व के 15 गुण होते हैं। सम्यक्त्व के इन 63 गुणों से विशिष्ट व्यक्ति सबसे पूजित होता है। व्रत न होने पर भी वह देवलोक का सुख भोगता है क्योंकि सम्यक्त्व को कल्पवासी देवों की आयु के बन्ध का कारण बतलाया है। अत: सम्यग्दृष्टि जीव मरकर सौधर्म आदि स्वर्गों में जन्म लेता है और वहाँ तरह-तरह के सुख भोगता है[51]।

सम्यक्त्व सहित नारकी और तिर्यंच श्रेष्ठ है पर सम्यक्त्व रहित मनुष्य और देव श्रेष्ठ नहीं हैं - यदि यह जीव नरक में भी गया हो और वहाँ सम्यक्त्व से भूषित हो तो समझना चाहिए कि वह देव ही है और यदि सम्यक्त्व रहित देव ही हुआ हो तो समझना चाहिए कि नरक में ही गया है। पशु होकर भी यदि सम्यक्त्व युक्त है तो वह मनुष्य ही है और मनुष्य होकर यदि मिथ्यात्व से युक्त है तो उसे पशु कहना चाहिए[52]।

मुहूर्त मात्र के लिए भी सम्यक्त्व धारण करना श्रेष्ठ है - जो पुरुष एक मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व को प्राप्त होकर फिर उसे छोड़ देते हैं वे बहुत काल पर्यन्त संसार में भ्रमण करने के बाद मारीचि के समान मुक्ति को प्राप्त होते हैं[53]।

सम्यक्त्व तथा व्रत और पुण्य - जीवों को देव शास्त्र गुरु की सेवा का भाव होना सदा संसार से भयभीत होकर संवेग धारण करना और सम्यग्दर्शन को बढ़ाने वाली क्रियाओं का होना पुण्य के लिए होते हैं[54]। मुनिराज सम्यग्दर्शनपूर्वक तप करते हैं, ज्ञान का अभ्यास करते हैं, यम, नियम आदि का पालन करते हैं वह सब आगे के लिए मोक्ष का कारण है और वर्तमान में अनेक प्रकार के पुण्य सम्पादन करने वाला है। बिना सम्यग्दर्शन के दान देने व व्रत पालन करने आदि से न तो पुण्य ही होता है और न मोक्ष की प्राप्ति होती है[55]।

सम्यक्त्वी श्रावक श्रेष्ठ है पर सम्यक्त्व हीन साधु श्रेष्ठ नहीं - यदि सम्यग्दर्शन न हो तो साधु होकर भी यह मनुष्य वृक्ष के समान समझना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार वृक्ष अकेला रहता है, उसी प्रकार वह साधु भी अकेला रहता है। वृक्ष हिंसा नहीं करता, वह साधु भी हिंसा नहीं करता। वृक्ष वन में रहता है, साधु भी वन में रहता है। वृक्ष भी शीत उष्ण आदि की बाधायें सहता है। साधु भी शील, उष्ण आदि की बाधायें सहता है। इसलिए जिस प्रकार वृक्ष को मोक्ष प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित साधु को भी मोक्ष प्राप्त नहीं रहता। सम्यक्त्व के साथ यदि मनुष्य यत्किचित् भी पुण्य करते हैं तो वह दान, पूजा, व्रत आदि से उत्पन्न हुआ पुण्य मुक्ति का बीज होता है सम्यग्दर्शन के बिना यह मनुष्य दान, पूजा, व्रत आदि जो कुछ पुण्य कर्म करता है वह सब व्यर्थ हो जाता है। बिना सम्यग्दर्शन के मनुष्य एकाधिकवार व्रत, दान, आदि करता है परन्तु उसके फलस्वरूप थोड़े से भोग पाकर वह इस संसार रूपी वन में परिभ्रमण करता है। सम्यग्दर्शन के बल से मुनिराज जिन कर्मों को क्षणभर में नष्ट कर देते हैं उनको बिना सम्यग्दर्शन के घोर और तीव्र तपश्चरण करने पर भी मुनिजन कभी नष्ट नहीं कर सकते। सम्यग्दर्शन से सुशोभित होने वाला गृहस्थ धर्म ही अच्छा। क्योंकि सम्यग्दर्शन सहित गृहस्थ धर्म, व्रत, दान आदि शुभ कार्यों से परिपूर्ण होता है और भावी मोक्ष का कारण होता है। सब प्रकार के परिग्रहों से रहित और व्रतों से सुशोभित मुनियों का अर्हन्तों के समान निर्ग्रन्थ रूप यद्यपि देवों के द्वारा पूजित होता है तथापि बिना सम्यग्दर्शन के वह प्रशंसनीय नहीं गिना जाता। जो जीव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे तीनों लोकों में भ्रष्ट हैं क्योंकि बिना सम्यग्दर्शन के वे किसी समय में भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर

सकते परन्तु जो भी सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं और चारित्र आदि से रहित हैं वे किसी समय भी संयम को पाकर अवश्य मोक्ष प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार नेत्रहीन मनुष्य रूप को नहीं जान सकता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित जीव भी न देव को जान सकता हैं, न धर्म-अधर्म को जानता है और न गुण अवगुणों को जान सकता है। जिस प्रकार प्राण रहित जीव को लोग मृतक कहते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित मनुष्य चलता फिरता हुआ, जीवित होकर भी मृतक कहलाता है[57]।

सम्यग्दर्शन के अतिचार - शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि प्रशंसा और अन्य दृष्टि संस्तव ये सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं[58]। अतिचार से अभिप्राय ऐसे असदाचरण विशेषों से है, जिससे उस सम्यक्तव की विराधना होती है। जीवादि तत्वों के विषय में संदेह का नाम शंका है। भिन्न-भिन्न दर्शनों के विषय में अभिलाषा रखना कांक्षा है। समीचीन पदार्थ के विषय में यह अर्थ मुझे सिद्ध होगा या नहीं इस प्रकार से फल के विषय में व्यामोह होता है, इसे विचिकित्सा कहते हैं। इस प्रकार की विचिकित्सा के वशीभूत हुआ प्राणी यह विचार करता है कि बालू कणों के ग्रास के समान महान तप जनित क्लेश और परिश्रम के जनक जो यह कनकावली आदि तप हैं उनके भविष्य में मुझे कुछ फल, सम्पत्ति प्राप्त होगी या नहीं। कारण यह है कि किसानों आदि की क्रियायें सफल और निष्फल दोनों प्रकार की देखी जाती हैं। यह सम्यग्दर्शन का तीसरा अतिचार है।

शंका - इस प्रकार के बुद्धिभ्रम को शंका से भिन्न नहीं कहा जा सकता अत: उससे इस का पृथक् निर्देश करना उचित नहीं है।

समाधान - विचिकित्सा शंका के अन्तर्गत नहीं हो सकती, इसका कारण यह है कि शंका जहाँ समस्त व असमस्त पदार्थों के आश्रित होने से द्रव्य और गुण को विषय करती है वहाँ यह विचिकित्सा क्रिया को ही विषय करती है। यह इन दोनों में भेद समझना चाहिए। वास्तव में तो मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से होने वाले ये सब जीव के परिणाम विशेष सम्यक्तव के अतिचार कहे जाते हैं अत: उनके विषय में इतना सूक्ष्म विचार करना योग्य नहीं है अथवा विचिकित्सा को विद्वत् जुगुप्सा के रूप में ग्रहण करना चाहिए। विद्वान् से अभिप्राय उन साधुओं से है जो संसार के स्वभाव को जानकर समस्त परिग्रह का परित्याग कर चुके हैं उनकी इस प्रकार से निन्दा करना कि स्नान न करने के कारण इनका शरीर पसीने के पानी से मलिन व दुर्गन्ध को फैलाने वाला है यदि ये प्रासुक जल से शरीर को धो लिया करें तो क्या दोष होगा इत्यादि। यह विद्वज्जुगुप्सा भी चूंकि सम्यक्तव को मलिन करने वाली है अत: उसका भी परित्याग करना उचित है वास्तव में तो शरीर स्वभावत: स्वयं अपवित्र है उसे स्नान आदि के द्वारा बाह्य में ही कुछ स्वच्छ किया जा सकता है भीतरी भाग में तो वह मलमूत्रादि अपवित्र पदार्थों से परिपूर्ण रहने वाला है। अपने मन द्वारा मिथ्यादृष्टि पाखण्डियों की, मिथ्यात्व क्रियाओं की सराहना करना या उनकी मिथ्यात्व क्रियाओं को अच्छा जानना सावयपण्णत्ती में इसे परपाषंड पसंसा (परपाषण्डपशंसा) कहा गया है।

मिथ्यादृष्टि पाखण्डियों की तथा उनके मिथ्याधर्म की स्तुति करना अन्य दृष्टि संस्तव है।

शंका - शंका को अतिचार क्यों माना गया ?

समाधान - शंका से चित्त की मलिनता होती है तथा सर्वज्ञ जिन के विषय में अविश्वास भी उत्पन्न होता है यह सम्यक्तव के लिए अनुचित ही है इसी कारण वह शंका सम्यग्दर्शन का अतिचार है[59]। इस शंका के रहने पर नियमत: सम्यक्तव परिणाम और उत्तम क्रिया (सदाचरण) भी नष्ट होती है इस कारण उससे बंध का दोष होता है इसलिए उसे छोड़ना चाहिए[60]।

शंका - प्रशंसा और संस्तव में क्या अन्तर है ?

समाधान - मिथ्यादृष्टि के ज्ञान और चारित्र गुणों का मन से सद्भाव उद्भावन करना प्रशंसा है और मिथ्यादृष्टि में जो गुण है या जो गुण नहीं है, इन दोनों का सद्भाव बताते हुए कथन करना

संस्तव है। इस प्रकार यह दोनों में अन्तर है।

शंका - सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग हैं इसलिए उसके अतिचार भी आठ ही होना चाहिए?

समाधान - आचार्यों ने व्रत और शील के पाँच-पाँच अतिचार कहे हैं, इसलिए अन्य दृष्टि प्रशंसा और अन्य दृष्टि संस्तव इन दो अतिचारों में शेष अतिचारों का अन्तर्भाव करके सम्यग्दृष्टि के पाँच ही अतिचार कहे हैं[61]।

शंका - ज्ञानावरणादि कर्मो के उदय जन्य फल को अवश्य भोगना पड़ता है तब उनके उदय से होने वाले उन अतिचारों को कैसे छोड़ा जा सकता है ? नहीं छोड़ा जा सकता, उन्हें सहना ही पड़ेगा और यदि बिना अनुभव किये उन्हें छोड़ा जा सकता है तो इस प्रकार से चारित्र आदि को दूषित करने वाले कर्म के भी निष्फल होने का प्रसंग दुर्निवार होगा। वैसी स्थिति में उनके परित्याग का यह उपदेश निरर्थक सिद्ध होता है ?

समाधान - किसी प्रकार से उत्पन्न हुए जीव के प्रशस्त परिणाम से उन्हें बिना फलानुभवन के भी छोड़ा जा सकता है[62]। इसी का ही समर्थन करते हुए कहा है - यदि कहीं पर जीव बलवान् होता है तो कहीं पर कर्म भी बलवान् हुआ करते हैं, यही कारण है कि जो अनन्त जीव मुक्ति को प्राप्त हो चुके हैं और अनन्त जीव संसार में ही स्थित है[63]। इसलिए उस संसार परिभ्रमण से छुटकारा पाने के लिए सम्यक्तवादि गुणों के विषय में सदा स्मरण रख लें, उनके प्रति आदरभाव रख लें, उनके प्रतिपक्ष भूत मिथ्यात्व आदि के परिणाम दुखोत्पादक हैं ऐसा विचारकर प्रमाद को दूर करना चाहिए[64]।

सम्यक्तव की महिमा - आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट भी वास्तव में भ्रष्ट है। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट का निर्वाण नहीं होता है। चारित्र से भ्रष्ट-कदाचिद् सिद्धि को प्राप्त करते हैं किन्तु सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट सिद्धि को प्राप्त नहीं करते[65]। यहाँ चारित्र की अपेक्षा दर्शन पर अधिक जोर दिया गया है। आगम में ऐसा सुना जाता है कि एक दर्शन विशुद्धि के भाव से श्रेणिक राजा ने मिथ्यात्व के प्रभाव से बाँधी हुई नरकायु की अवधि सप्तम नरक से पहले नरक की अर्थात् तैतीस सागर प्रमाण नरकायु कमकर चौरासी हजार वर्ष की आयु की थी तथा दर्शन विशुद्धि के कारण उनको तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध भी हुआ था जिसके प्रभाव से वे आगे महापद्म नामक तीर्थङ्कर होंगे[66]। सागार धर्मामृत में कहा गया है कि जिनका चित्त मिथ्यात्व से ग्रस्त है वे मनुष्य होते हुए भी पशु के तुल्य हैं और जिनकी आत्मा में सम्यक्तव प्रकट हुआ है वे पशु होते हुए भी मनुष्य के समान हैं। सम्यक्तव सब रत्नों में महारत्न है। समस्त योगों (वस्तु की सिद्धि के उपाय मंत्र, ध्यान आदि) में उत्तम योग है तथा ऋद्धियों में महा ऋद्धि है। इस प्रकार सम्यक्तव सर्व सिद्धियों को करने वाला है[67]। सम्यक्तव सहित पुरुष प्रधान है। देवों के इन्द्र तथा चक्रवर्त्यादि मनुष्यों के द्वारा वन्दित होता है। यदि वह व्रत रहित है तो भी विविध प्रकार के उत्तम स्वर्ग सुखों को पाता है[68]। सम्यक्तव में देव ही की आयु बंधता है। सम्यक्तव का ऐसा माहात्म्य है। सम्यग्दृष्टि मरकर द्वितीयादि नरकों में नहीं जाता है। ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी, नरकों में नहीं जाता है। ज्योतिषी, भवनवासी, व्यन्तर नहीं होता है तथा स्त्री पर्याय में उत्पन्न नहीं होता। सम्यक्तवी के चूंकि अनंतानुबन्धी कषाय के उदय का अभाव होता है अत: दुर्गति के कारण कषायों के स्थान रूप परिणाम उसके नहीं होते हैं, तात्पर्य यह है कि तीन लोक में तीन काल में सम्यक्तव के समान कल्याण रूप अन्य पदार्थ नहीं है। इस सम्यग्दर्शन की महिमा तीन लोक में अद्वितीय है। केवलज्ञान गम्य है। सम्यक्तव अतुल्य है, स्वाभाविक सुख का बीज है। संसार रूप सागर को पार करने के लिए जहाज है। इसका पात्र भव्य जीव है। अभव्य जीव में यह नहीं ठहरता है। यह पापरूपी वृक्ष को काटने के लिए तीक्ष्ण कुठार है। पुण्य तीर्थों में प्रधान है अपने विपक्षी मिथ्यात्व रूपी शत्रु को उसने जीता है, ऐसे सम्यक्तव को सदा अंगीकार करना चाहिए[69]।

फुटनोट

1. तत्त्वार्थ सूत्र 1/4
2. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा 204
3. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा 206
4. वही 207
5. वही 211
6. द्रव्य संग्रह 17
7. वही 18
8. वही 19
9. वही 6/2
10. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा 88
11. तत्त्वार्थ सूत्र 8/2-3
12. तत्त्वार्थ सूत्र 9/1
13. तत्त्वार्थ सूत्र 10/2
14. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा 90
15. सर्वार्थसिद्धि व्याख्या 1/7 पृ. 16-18
16. वही 1/7
17. वही 1/7, पृ. 20
18. सिद्धान्तसार 1/57
19. वही 1/87-88
20. पञ्चाध्यायी 2/258-276
21. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. 261-264
22. वही पृ. 265-266
23. पञ्चाध्यायी 2/426-430
24. पञ्चाध्यायी 2/431-445
25. पञ्चास्तिकाय : गाथा 737
26. पञ्चाध्यायी 2/446-451
27. पञ्चाध्यायी 2/452-466
28. समयसार 199-200
29. दर्शन पाहुड 4
30. अष्ट पाहुड 18
31. दर्शन पाहुड - 5
32. अष्ट पाहुड पृ. 19
33. दर्शन पाहुड 7
34. अष्ट पाहुड पृ. 20
35. दर्शन पाहुड 15
36. अष्ट पाहुड पृ. 28-29
37. दर्शन पाहुड 19
38. वही 20
39. दर्शनपाहुड पृ. 31-32
40. दर्शनपाहुड 22
41. अष्ट पाहुड पृ. 33
42. भगवती आराधना 1/32
43. वही 1/33
44. वही 1/34
45. भगवती आराधना 1/35
46. वही 1/36-39
47. भगवती आराधना 1/40-42
48. सागारधर्मामृत 8/70
49. वही 8/72
50. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा 307
51. वही 307
52. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ. 230-232
53. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ. 232-233
54. धर्म संग्रह श्रावकाचार 1/62-63
55. वही 1/64
56. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 2/72, 73
57. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 11/56-66
58. तत्त्वार्थ सूत्र 7/23
59. सावयपण्णत्ती 89
60. वही 90
61. सर्वार्थसिद्धि व्याख्या 7/23
62. सावयपण्णत्ती 100
63. सावयपण्णत्ती गाथा 101
64. सावयपण्णत्ती गाथा 104
65. दर्शन पाहुड - 3
66. सागार धर्मामृत 8/73
67. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा 325
68. वही 326
69. शुभचन्द्र: ज्ञानार्णव 6/59

❑❑❑

सम्यग्दर्शन के भेद

सम्यग्दर्शन दो प्रकार से होता है, एक तो परोपदेश के बिना स्वयं ही हो जाता है और दूसरा परोपदेश से होता है क्योंकि किसी पुरुष को तो थोड़ा सा प्रयत्न करने से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है और किसी को बहुत प्रयत्न करने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। सम्यक्त्व के अन्तरंग कारण निकट भव्यता ज्ञानावरणादिक कर्मों की हानि, संज्ञीपना और शुद्ध परिणाम है तथा बाह्य कारण उपदेश आदिक है[1]।

निसर्गज सम्यग्दर्शन - जो कोई निकट भव्य है सम्यग्दर्शन के योग्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवरूपी सम्पत्ति की जिसे प्राप्ति हो गई है, उसमें किसी तरह की रुकावट डालने वाला कोई प्रतिबन्धक नहीं रहा है, शिक्षा, क्रिया, बातचीत को ग्रहण करने में निपुण, पाँचो इन्द्रियों और मन से जो युक्त है, अर्थात् संज्ञी पंचेन्द्रिय है, नये बर्तन की तरह जिसमें दुर्वासना की गन्ध भी नहीं है, वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप दर्शाने के लिए जो स्फटिकमणि के दर्पण के समान स्वच्छ है ऐसे जीव के पूर्व भव के स्मरण से, कष्टों के अनुभव से, धर्म के श्रवण से, जिनबिम्ब के दर्शन से, महामहोत्सवों के अवलोकन से, ऋद्धिधारी आचार्यों के दर्शन करने से मनुष्य तथा देवों में सम्यक्त्व के माहात्मय से उत्पन्न हुए विभव को देखने से या अन्य किसी कारण से विचाररूपी वन में मन को भटकाकर जीव का जीवादिक पदार्थों में ज्यों का त्यों श्रद्धान होता है तो उस सम्यग्दर्शन को निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। क्योंकि जैसे धान्य कृषक द्वारा सुलभता से स्वयं ही कट जाते हैं अथवा सदाशयी स्वंय ही विनीत हो जाते हैं उसी तरह उसमें कर्त्ता को श्रम नहीं करना पड़ता[2]।

अधिगमज सम्यग्दर्शन - जब संशय विपर्यय और अनध्यवसाय से ग्रस्त ज्ञान वाले मनुष्य के श्रद्धा, युक्ति और आगम के निकट होकर प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोग के द्वारा अवगाहन करने के योग्य समस्त शास्त्रों की परीक्षा करने का कष्ट उठाकर चिरकाल के पश्चात् समस्त दुराशा रूपी रात्रि के विनाश के लिए सूर्य की किरणों के समान तत्त्व रूचि उत्पन्न होती है तो उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं क्योंकि जैसे मैंने यह हार बनाया है या मैंने यह रत्न खचित आभरण बनाया है, वैसे ही कर्त्ता के द्वारा विहित परिश्रम से उत्पन्न हुए अधिगम-ज्ञान से वह प्रकट होता है[3]। कहा भी है- अबुद्धि पूर्वक प्रयत्न के बिना अचानक जो इष्ट या अनिष्ट होता है वह अपने दैव से होता है और बुद्धि पूर्वक प्रयत्न करने से जो इष्ट या अनिष्ट होता है वह पौरुष से होता है[4]।

सम्यग्दर्शन रागी आत्माओं को भी हो सकता है और वीतरागी आत्माओं के भी हो सकता है इसलिए उसके दो भेद कर दिये गये हैं सराग सम्यग्दर्शन और (2) वीतराग सम्यग्दर्शन।

1. सराग सम्यग्दर्शन - सराग सम्यग्दर्शन प्रशम आदि रूप होता है।

2. वीतराग सम्यग्दर्शन - यह सम्यग्दर्शन आत्मा विशुद्धि रूप होता है[5]। जैसे पुरुष की शक्ति यद्यपि अतीन्द्रिय है, इन्द्रियों से उसे देखा नहीं जा सकता, फिर भी स्त्रियों के साथ सहवास से, सन्तानोत्पत्ति से, विपत्ति में धैर्य और प्रारम्भ किये गये कार्य को समाप्त करना आदि बातों से उसकी शक्ति का निश्चय किया जाता है वैसे ही सम्यक्त्व रूपी रत्न भी आत्मा का स्वभाव होने के कारण यद्यपि बहुत सूक्ष्म है फिर भी प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि के द्वारा उसका निश्चय किया जाता है[6]।

पंचाध्यायीकार के अनुसार सराग और वीतराग ये भेद ठीक नहीं है। सम्यक्त्व का धारक चाहे रागी हो चाहे वीतरागी इससे उसके सम्यक्त्व के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता। सरागता और वीतरागता यह सम्यक्त्व की विशेषता नहीं है। अत: जो कोई इस आधार से सम्यक्त्व के सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन ऐसे भेद करते हैं, वे सम्यक्त्व के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। सम्यग्दृष्टि चाहे सरागी हो चाहे वीतरागी, ज्ञान चेतना दोनों के होती है। इसके अभाव में किसी को सम्यग्दृष्टि मानना उचित नहीं है। पंचाध्यायीकार कहते हैं जिस प्रकार मिले हुए पदार्थों में से अग्नि की उष्णता अलग की जा सकती है उसी प्रकार हे आत्मन्! तू अन्य पदार्थों से अपनी आत्मा को पृथक कर सकता है। इसलिये आँख से देखकर भी अन्धा बनकर भ्रम में मत पड़[7]।

सम्यक्त्व के तीन भेद - सम्यक्त्व के तीन भेद कहे गये हैं- औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक।

औपशमिक सम्यक्त्व - जो सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम से होता है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

क्षायिक सम्यक्त्व - उपर्युक्त सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व केवली अथवा श्रुत केवली के निकट कर्म भूमियाँ मनुष्य के ही होता है[8]।

तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व तथा अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम मे जैमे निर्मली के डालने से पानी की कीचड़ नीचे बैठ जाती है उसी तरह उपशम सम्यक्त्व होता है जिसका उदय होने पर तत्त्वों का श्रद्धान नहीं होता अथवा मिथ्या तत्त्वों का श्रद्धान होता है उसे मित्यात्व मोहनीय कर्म कहते हैं। मिथ्यात्व कर्म का उदय होने पर आत्मा सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा कहे हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का मोक्षमार्ग से विमुख और तत्त्वार्थ श्रद्धान रहित तथा हित और अहित के विवेक से शून्य मित्यादृष्टि होता है। जब शुभ परिणाम के द्वारा उस मिथ्यात्व की शक्ति को घटा दिया जाता है और वह आत्मा के श्रद्धान को रोकने में असमर्थ हो जाता है तो उसे सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं और जब उसी मिथ्यात्व की शक्ति हो जाती है तो उसे सम्यगमिथ्यात्व मोहनीय कहते हैं उसके उदय से तत्त्वों के श्रद्धान और अश्रद्धान रूप मिले हुए भाव होते हैं। मिथ्यात्व का उदय रहते हुए संसार भ्रमण का अंत नहीं होता, इसलिए मिथ्यात्व को अनन्त कहा है।

जो क्रोध, मान, माया, लोभ अनन्त (मिथ्यात्व) से सम्बद्ध होते हैं उन्हें अनन्तानुबन्धी कहते हैं। इनकी शक्ति बड़ी तीव्र होती है। इसी से ये नरक गति उत्पन्न कराने के कारण हैं इन अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मोहनीय के उपशम से (उदय न होने से) प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है।

प्रश्न - जो भव्य जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व में पड़ा हुआ है और कर्मों के उदय से जिसकी आत्मा कुलषित है उसके इन सात प्रकृतियों का उपशम कैसे हो सकता है?

उत्तर- काल लब्धि आदि निमित्त कारणों के उपस्थित होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। काललब्धि आदि का स्वरूप इस प्रकार है - कर्मों से घिरे हुए भव्य जीव के संसार भ्रमण का काल अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल परावर्तन प्रमाण बाकी रहने पर वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व

को ग्रहण करने का पात्र होता है। यदि उसके परिभ्रमण का काल अर्द्ध पुद्गल परावर्तन से अधिक शेष होता है तो प्रथम सम्यक्त्व को ग्रहण करने के योग्य नहीं होता। एक काल लब्धि तो यह है दूसरी काल लब्धि यह है – जब जीव के कर्मों की उत्कृष्ट अथवा जघन्य स्थिति होती है, तब औपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता। किन्तु जब कर्म अन्त: कोटा कोटी सागर की स्थिति के साथ बांधते हैं और फिर निर्मल परिणामों के द्वारा उनकी स्थिति घटकर संख्यात हजार सागर हीन अन्त: कोटि सागर प्रमाण शेष रहती है तब यह जीव प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण के योग्य होता है। वह दूसरी काल लब्धि है। इन काल लब्धियों के होने पर जीव के जो काल लब्धि होती है उसमें पहले अध:करण, फिर अपूर्व और फिर अनिवृत्ति करण को करता है। इन करणों का मतलब एक विशेष प्रकार के परिणामों से है जिसके होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति नियम से होती है। अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में चारों गतियों में किसी भी गति का संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव पर्याप्तक जीव उक्त सात प्रकृतियों का उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करता है। कहा भी है – अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शन मोहनीय के तीन प्रकृतियाँ होती है। उदयाभाव का प्रशस्त उपशम से जिसके नीचे मल बैठा हुआ है। उस निर्मल जल की तरह जो पदार्थों का श्रद्धान होता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। उपशम सम्यक्त्व की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति जघन्य और अन्तमुर्हूत होती है। उसके बाद यदि मिथ्यात्व का उदय आ जाता है तो अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल तक संसार में रहकर वह जीव मुक्त हो जाता है। यह उपशम सम्यक्त्व का कथन है।

उक्त सात प्रकृतियों के अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्व मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। कहा भी है – दर्शन मोहनीय कर्म के क्षीण हो जाने पर जो निर्मल सम्यग्दर्शन होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व सदा कर्मों के नाश का कारण है अर्थात् प्रतिपक्षी कर्मों के नष्ट हो जाने से आत्मा का सम्यक्त्व गुण प्रकट हो जाता है, और उसके प्रकट होने से प्रति समय गुण श्रेणि निर्जरा होती है। दर्शन मोहनीय का क्षय होने पर जीव या तो उसी भव में मुक्त हो जाता है या तीसरे भव से मुक्त हो जाता है। यदि तीसरे में भी मुक्त न हुआ तो चौथे में तो अवश्य मुक्त हो जाता है। क्षायिक सम्यक्त्व और सम्यक्त्वों की तरह उत्पन्न होकर छूटता नहीं है। अत: यह आदि अनन्त होता है अर्थात् इसकी आदि तो है किन्तु अन्त नहीं है। मुक्तावस्था में भी रहता है तथा दर्शन मोहनीय के क्षय का आरम्भ कर्मभूमिया मनुष्य ही केवली भगवान के पादमूल में करता है। कदाचिद् पूर्ण क्षय होने से पहले ही मरण हो जाता है तो उसकी समाप्ति चारों गतियों में से किसी भी गति में हो सकती है। इन दोनों सम्यक्त्वों के विषय में इतना विशेष ज्ञातव्य है कि निर्मलता की अपेक्षा उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि प्रतिपक्षी कर्मों का उदय दोनों में ही नहीं है। किन्तु फिर भी विशेषता यह है कि क्षायिक सम्यक्त्व में प्रतिपक्षी कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाता है और उपशम सम्यक्त्व के प्रतिपक्षी कर्मों की सत्ता रहती है। जैसे निर्मली आदि डालने से गंदला जल ऊपर से निर्मल हो जाता है, किन्तु उसके नीचे कीचड़ जमी रहती है और किसी जल के नीचे कीचड़ रहती ही नहीं। ये दोनों जल निर्मलता की अपेक्षा समान है, किन्तु एक के नीचे कीचड़ है उसने वह पुन: गंदला हो जाता है किन्तु दूसरे के पुन: गंदला होने की कोई संभावना नहीं है[9]।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व - पूर्वोक्त सात प्रकृतियों में से छह प्रकृतियों का उदय न होने तथा जातीय प्रकृतियों के रूप में उदय न होने पर और सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। तात्पर्य यह है कि सर्वधाति स्वपर्धकों का उदय होने पर क्षायोपशमिक भाव होता है। क्षय और उपशम को क्षयोपशम कहते हैं और क्षयोपशम से जो हो, वह क्षायोपशमिक है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को ही वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व इन छः प्रकृतियों के उदय का अभाव होने से तथा सदवस्थारुप अप्रशस्त उपशम होने से और सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इसमें अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन होता है अर्थात् उसके निषेकों को सजातीय अप्रत्याख्यानावरण आदि कषाय रूप कर दिया जाता है। अतः अनन्तानुबन्धी कषाय अपने रूप से उदय में न आकर सजातीय अप्रत्याख्यानावरण रूप से उदय में आती है। इसी तरह मिथ्यात्व कर्म सम्यकत्व प्रकृति के रूप में उदय में आता है। सम्यक्त्व प्रकृति देशघाती है अतः वह सम्यक्तव का घात तो नहीं करती किन्तु उसके उदय से सम्यक्त्व में चल, मलिन, और अगाढ़ दोष होते हैं। जैसे एक ही जल अनेक तरंग रूप हो जाता है। वैसे ही जो सम्यग्दर्शन सम्पूर्ण तीर्थङ्करों में समान अनन्त शक्ति होने पर भी शान्ति के लिए शान्तिनाथ समर्थ हैं और विघ्न नष्ट करने में पार्श्वनाथ समर्थ हैं। इस तरह भेद करता है उसको चल सम्यग्दर्शन कहते हैं। जैसे शुद्ध स्वर्णमल के संसर्ग से मलिन हो जाता है, वैसे ही सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जिसमें पूर्ण निर्मलता नहीं होती उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं और जैसे वृद्ध पुरुषों के हाथ में स्थित लाठी काँपती है वैसे ही जिस सम्यग्दर्शन के होते हुए भी अपने बनवाये हुए मन्दिर वगैरह में "यह मेरा मन्दिर है" और दूसरे के बनवाये हुए मन्दिर वगैरह में यह दूसरे का है ऐसा भाव होता है वह अगाढ़ सम्यग्दर्शन है। इस तरह सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चल, मलिन और अगाढ़ होता है। इससे इसका नाम वेदक सम्यकत्व भी है क्योंकि उसमें सम्यक्त्व प्रकृति का वेदन (अनुभवन) होता रहता है। कहा भी है - दर्शन मोहनीय के उदय से अर्थात् - सर्वघाती अनन्तानुबन्धी चतुष्क मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियों के आगामी निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और वर्तमान निषेकों की बिना फल दिये ही निर्जरा होने पर तथा सम्यकत्व प्रकृति के उदय होने पर सम्यक्त्व होता है। वह सम्यक्त्व चल, मलिन और अगाढ़ होते हुए भी नित्य ही कर्मों की निर्जरा का कारण है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की जघन्य स्थिति अन्तमुर्हूत है और उत्कृष्ट स्थिति छियासठ सागर है। सौलान्तव स्वर्ग में तेरह सागर, अच्युत कल्प में बाईस सागर और उपरिम ग्रैवेयक में इकतीस सागर की आयु को मिलाने से छियासठ सागर उत्कृष्ट स्थिति होती है[10]।

औपशमिक सम्यकत्व, क्षायोपशमिक सम्यकत्व, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन और देशव्रत को प्राप्त करने और छोड़ने की संख्या - उत्कृष्ट से यह जीव ओपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यकत्व, अनन्तानुबन्धी का संयोजन और देशव्रत उनको असंख्यात बार ग्रहण करता और छोड़ता है। भव्य जीव उक्त चारों को अधिक से अधिक पल्य के असंख्यात्वें भाग ग्रहण करता और छोड़ता है अर्थात् पल्य के असंख्यातवें भाग बार उपशम सम्यक्त्व और क्षायोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करता है। पल्य के असंख्यातवें भाग बार अनन्तानुबन्धी कषाय को अप्रत्याख्यानावरण आदि रूप करता है और अधिक से अधिक पल्य के असंख्यातवें भाव बार देशव्रत ग्रहण करता है उसके बाद मुक्त हो जाता है[11]।

अनुभाग शक्ति सम्यक्त्व के भेदों का कारण नहीं - पंचाध्यायीकार के अनुसार सम्यक्त्व के मिश्र, औपशमिक और क्षायिक ये जो तीन भेद हैं इनमें बन्ध कृत ही भेद है । इस बन्ध की अपेक्षा से भेद नहीं है[12] । यहाँ स्थितिबन्ध से तात्पर्य सत्ता से है । दर्शन मोहनीय की सत्ता के सद्भाव और असद्भाव के कारण ही ये तीन भेद होते हैं । यद्यपि क्षायोपशमिक सम्यकत्व में सम्यक् प्रकृति का उदय रहता है, पर वह सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण नहीं है । इसलिए अनुभाग शक्ति को तो किसी भी दशा में सम्यक्त्व के भेदों का कारण नहीं कहा जा सकता ।

सम्यक्त्व के दस भेद - आचार्य गुणभद्र कृत आत्मानुशान में सम्यक्त्व के दस भेद किये गये हैं (1) आज्ञा सम्यकत्व (2) मार्ग सम्यकत्व (3) उपदेश सम्यकत्व (4) सूत्र सम्यकत्व (5) बीज सम्यकत्व (6) संक्षेप सम्यकत्व (7) विस्तार सम्यकत्व (8) अर्थ सम्यकत्व (9) अवगाढ़ सम्यकत्व (10) परमावगाढ़ सम्यकत्व[3] ।

1. **आज्ञा सम्यकत्व** - दर्शन मोह के उपशान्त होने से ग्रन्थ श्रमण के बिना केवल वीतराग सर्वज्ञदेव की आज्ञा से ही जो तत्त्व श्रद्धान होता है उसे आज्ञा सम्यकत्व कहते हैं।

2. **मार्ग सम्यकत्व** - दर्शनमोह का उपशम होने से ग्रन्थ श्रवण के बिना जो कल्याणकारी मोक्षमार्ग का श्रद्धान होता है उसे मार्ग सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

3. **उपदेश सम्यकत्व** - त्रेसठ शलाका पुरुषों के पुराण के उपदेश से जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करने वाले आगम रुप समुद्र में प्रवीण गणधर देवादि ने उपदेश सम्यग्दर्शन कहा है[13] ।

4. **सूत्र सम्यग्दर्शन** - मुनि के चरित्र के अनुष्ठान को सूचित करने वाले आचार सूत्र को सुनकर जो तत्त्व श्रद्धान होता है उसे सूत्र सम्यग्दर्शन कहा गया है ।

5. **बीज सम्यग्दर्शन** - जिन जीवादि पदार्थों के समूह का अथवा गणितादि विषयों का ज्ञान दुर्लभ है उनका किन्हीं बीज पदों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले भव्य जीव के जो दर्शन मोहनीय के असाधारण उपशमवश तत्त्व श्रद्धान होता है उसे बीज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

6. **संक्षेप सम्यग्दर्शन** - जो भव्य जीव पदार्थों के स्वरुप को संक्षेप से ही जानकर के तत्त्व श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) को प्राप्त हुआ है उसके उस सम्यग्दर्शन को संक्षेप सम्यग्दर्शन कहा जाता है[2] ।

7. **विस्तार सम्यग्दर्शन** - जो भव्य जीव बारह अंगों को सुनकर तत्त्व श्रद्धानी हो जाता है, उसे विस्तार सम्यग्दर्शन से युक्त जानो, अर्थात् द्वादशाङ्ग के सुनने से जो तत्त्व श्रद्धान होता है उसे विस्तार सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

8. **अर्थ सम्यग्दर्शन** - अंग बाह्य आगमों के पढ़ने के बिना भी उनमें प्रतिपादित पदार्थ के निमित्त से जो अर्थ श्रद्धान होता है उसे अर्थ सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

9. **अवगाढ़ सम्यग्दर्शन** - अंगों के साथ अंग बाह्य श्रुत का अवगाहन करके जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे अवगाढ़ सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

10. **परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन** - केवलज्ञान के द्वारा देखे गये पदार्थ के विषय में रूचि होती है, वह यहाँ परभावगाढ़ सम्यग्दर्शन इस नाम से प्रसिद्ध है[15] ।

सम्यग्दर्शन के जिन दश भेदों का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है, वे प्राय: उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त हुए हैं यथा - प्रथम आज्ञा सम्यक्त्व में जीव शास्त्राभ्यास के बिना केवल सर्वज्ञ वीतरागदेव की आज्ञा पर ही विश्वास करता है । उसे यह निश्चल श्रद्धान होता है कि जिनेन्द्र देव चूंकि सर्वज्ञ वीतराग (रागद्वेष रहित) हैं अतएव वे अन्यथा उपदेश नहीं दे सकते हैं, उन्होंने जो तत्त्व का स्वरूप बतलाया है वह सर्वथा ठीक है । दूसरे मार्ग सम्यग्दर्शन में भी जीव के आगम का अभ्यास नहीं

होता । वह केवल सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग को कल्याणकारी समझकर उस पर श्रद्धान करता है । तीसरे उपदेश सम्यग्दर्शन में प्राणी प्रथमानुयोग में वर्णित तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण एवं बलभद्र आदि महापुरुषों के चारित्र को सुनकर और उससे पुण्य पाप के फल को विचार कर तत्त्व श्रद्धान करता है । चौथे सूत्र सम्यग्दर्शन में जीव चरणानुयोग में वर्णित मुनियों के चारित्र को सुनकर तत्त्व रुचि को उत्पन्न करता है पांचवें बीज सम्यग्दर्शन में करणानुयोग से सम्बद्ध गणित आदि की प्रधानता से वर्णित जिन दुर्गम तत्त्वों का ज्ञान सर्व साधारण के लिए दुर्लभ होता है, उसे जीव किन्हीं बीज पदों के निमित्त से प्राप्त करके तत्त्व श्रद्धान करता है । छठे संक्षेप सम्यग्दर्शन में द्रव्यानुयोग में तर्क की प्रधानता से वर्णित जीवाजीवादि पदार्थों को संक्षेप में जानकर प्राणी तत्त्व रूचि को प्राप्त होता है । सातवें विस्तार सम्यग्दर्शन में जीव द्वादशाङ्ग श्रुत को सुनकर तत्त्व श्रद्धानी बनता है । आठवें अर्थ सम्यग्दर्शन में विशिष्ट क्षयोपशम से सम्पन्न जीव श्रुत के सुनने के बिना ही उसमें प्ररूपित किसी अर्थ विशेष से तत्व श्रद्धानी होता है। नौवें अवगाढ़ सम्यग्दर्शन में अंग प्रविष्ट एवं अंग बाह्य दोनों ही प्रकार के श्रुत को ज्ञात करके जीव दृढ़ श्रद्धानी बनता है । यह सम्यग्दर्शन श्रुत केवली के होता है । अन्तिम परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन सचराचर विश्व को प्रत्यक्ष देखने वाले केवली भगवान् के होता है[16] ।

फुटनोट

1. उपासकाध्ययन 6/208-209
2. उपासकाध्ययन (श्रावकाचार संग्रह भाव 9 पृ 150)
3. उपासकाध्ययन (श्रावकाचार संग्रह भाग 9 पृ. 150)
4. अबुद्धिपूर्वाऽपेक्षाया मिष्टाऽनिष्टं स्वदेवत: ।
   बुद्धिपूर्वव्यपेक्षामिष्टाऽनिशं स्व पोरुवास् ।।91।।
   (आचार्य समन्तभद्र : आप्तमीमांसा)
5 उपासकाध्ययन 6/218
6 उपासकाध्ययन (श्रावकाचार संग्रह भाग । पृ. 151)
7 पंच्चाध्यायी अध्याय 2/830
8. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 308
9. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा : गाथा 308, शुभचन्द्र विरचित टीका पृ. 217-219
10. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा : गाथा 309, शुभचन्द्र विरचित टीका पृ. 219-220
11 वही गाथा 310, वही टीका पृ. 221
12 आज्ञा मार्ग समुदभवमुपदेशात्सूत्रबीज संक्षेपात् ।
   विस्तारार्थाभ्यां भवभवपरमावादिगार्ढच ।।आत्मानुशासन : पद्य ।।
13. आत्मानुशासन : 12
14. वही 13
15. आत्मानुशासन : 14
16. आत्मानुशासन : 14 पं. बालचन्द शास्त्री कृत विशेषार्थ पृष्ठ 16-17

❑❑❑

सम्यक्त्व के आठ अङ्ग

सम्यक्त्व के आठ अङ्ग होते हैं (1) निःशङ्कित अङ्ग (2) निःकांक्षित अङ्ग (3) निर्विचिकित्सा अङ्ग (4) अमूढ़दृष्टि अङ्ग (5) उपगूहन अङ्ग (6) स्थितिकरण अङ्ग (7) वात्सल्य अङ्ग तथा (8) प्रभावना अङ्ग। जैसे एक दो अक्षर रहित अशुद्ध मंत्रविष की वेदना को निश्चय करके नष्ट नहीं करता, उसी प्रकार अंग रहित सम्यग्दर्शन भी संसार की संतति छेदने को समर्थ नहीं है[1]।

निःशङ्कित अङ्ग - सम्यग्दृष्टि जीव चूंकि शंका रहित होता है इसलिए निर्भय है और सत्यभय से रहित है, इसलिए शंका रहित है[2]। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार वस्तु का स्वरुप यही है, इस प्रकार ही है, और नहीं है, और प्रकार भी नहीं है, इस प्रकार से जैनमार्ग में तलवार के पानी के समान निश्चल श्रद्धान निःशङ्कित अङ्ग कहा जाता है[3]। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि सर्वज्ञ देवों के द्वारा यह समस्त वस्तु समुदाय अनेक धर्मात्मक कहा गया है, सो क्या यह सत्य है अथवा असत्य ऐसी शंका कदाचित् भी नहीं करना चाहिए[4]। प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में कहा गया है कि चाहे पर्वतमाला चलायमान हो जाये, अग्नि शीतल हो जाये तथापि भगवान् सर्वज्ञदेव के कहे हुए तत्त्वों में कभी अंतर नहीं पड़ सकता, इसी प्रकार सूक्ष्म तत्त्वों में धर्म के स्वरूप में अर्हन्त देव के स्वरूप में, श्रेष्ठ मुनियों में शुभज्ञान में शङ्का का त्याग कर देना, निशङ्कित अङ्ग कहलाता है। जिसे किसी प्रकार का भय नहीं है, जिसने कुदेवादि का सर्वथा त्याग कर दिया है और भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए तत्त्वों में किसी प्रकार की शंका नहीं करता, वह अवश्य ही मोक्ष लक्ष्मी को अपने वश में कर लेता है[5]। ब्रह्म नेमिदत्त के अनुसार आप्त, आगम और चारित्रधारी गुरुओं में संज्ञी भव्य जीव के जो संशयादि से रहित महारूचि (दृढ़ श्रद्धा) होती है वही जगत में सारभूत सम्पदा है और यथार्थ सुख को देने वाली है उसे ही सज्जन उत्तम सम्यग्दर्शन कहते हैं[6]।

पञ्चाध्यायीकार राजमल के अनुसार शङ्का, भी साध्वस, भीति और भय ये शब्द एकार्थ वाचक हैं। इस भय के निकल जाने से जो भाव पैदा होता है वह वास्तव में निःशङ्कित अङ्ग है। इस गुण के धारक मनीषी पुरुषों को जिनागम में शङ्का नहीं होती। क्योंकि सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ उनके आस्तिक्य गुण के विषय रहते हैं अर्थात् वे जिनागम के अनुसार इन पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इन तीन प्रकार के पदार्थों में धर्मादिक द्रव्य, कालाणु और पुद्गल परमाणु ये सूक्ष्म पदार्थ हैं, क्योंकि इन्द्रियों द्वारा इनके साधन का ज्ञान नहीं होता। द्वीप, समुद्र और भूतकाल में हुए तथा भविष्यत् काल में होने वाले राम, रावण और चक्रवर्ती दूरवर्ती पदार्थ हैं। मिथ्यादृष्टि जीव के इन पदार्थों का निःसंशय ज्ञान कभी नहीं होता, क्योंकि उसके संशय का मूल कारण दर्शन मोहनीय का उदय पाया जाता है[7]।

शङ्का - सूक्ष्म आदि पदार्थ परोक्ष हैं और उनके साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष भी संभव नहीं है, इसलिए वे सम्यग्दृष्टि के विषय कैसे हो सकते हैं ?

समाधान - यह शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि इस विषय में भी सम्यग्दृष्टियों के सम्यक्त्व का बड़ा भारी माहात्म्य है जिससे उनके इस जगत् का आस्तिकता को लिए हुए ज्ञान होता है। यह बात असंभव भी नहीं, क्योंकि स्वभाव तर्क का विषय नहीं होता। जैसे योगियों के योग शक्ति,

वचन, अगोचर है, वैसे यह सब अतिशय भी वचन अगोचर हैं। सम्यग्दृष्टि जीव के आत्मा को जानने वाला स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नाम का ज्ञान होता है जो सिद्धों के समान शुद्ध है। यद्यपि वृद्ध जनों से लेकर बालक तक सबको आत्मा का अनुभव होता है तथापि मिथ्यात्वकर्म के उदय से जीवों को इसकी अनुभूति नहीं होती। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि को जो वस्तु का स्वाद आता है उसमें भेद है किन्तु वस्तु में वास्तविक भेद नहीं होता। इसका यही तात्पर्य है कि दोनों के विषय भूत पदार्थ के एक होने पर भी जो भ्रम होता है वह शङ्का का अपराध है और वह शङ्का मिथ्यात्व के उदय के साथ होने वाली है[8]।

शङ्का - मनुष्यों के जो मिथ्या अनुभव है वह यदि शङ्काकृत दोष है सो वह शङ्का भी मिथ्यात्व कर्म के उदय से होती है यह किस युक्ति से जाना जाता है ?

समाधान - इसका उत्तर यह है कि जो मिथ्यादृष्टि है वह सात भय सहित है और जो सम्यग्दृष्टि है वह सात भयों से थोड़ा भी ग्रस्त नहीं है। भय उन्हीं को होता है जो पर में आत्मत्व का अनुभव करते हैं। इसके बिना भय कैसे हो सकता है ? वास्तव में पर्याय बुद्धि जीव है उन्हीं को भय होता है। जिसका चित्त केवल आत्म तत्व में हैं, उन्हें भय नहीं होता। इसलिए भय के सद्भाव से मिथ्याभाव का अनुमान किया जाता है और वह भय स्वानुभव के विनाश का अवश्य हेतु है, यह जिनागम से जाना जाता है। यह बात सिद्ध है कि जो पराधीन है, वह भय सहित है और आत्मानुभव मे च्युत है, क्योंकि स्वस्थ पुरुष स्वाधिकारी होता है इसलिए उसके भय का पाया जाना असंभव है।

शङ्का - सम्यग्दृष्टियों में से किसी-किसी सम्यग्दृष्टि के चारों ही संज्ञायें होती हैं, क्योंकि जिन गुणस्थानों में इनकी वुच्छित्ति होती है उससे पहले इनका अस्तित्व पाया जाता है, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव सब प्रकार से निर्भीक होता है, यह कैसे संभव है ? दूसरे अनिष्ट अर्थ का संयोग होने पर उससे बचने के लिए वह प्रयत्न भी करता है। यह बात भी हम प्रत्यक्ष से देखते हैं, इसलिए भी वह भय रहित है यह बात कैसे सम्भव है ?

समाधान - यह कहना ठीक है तो भी वह अपने को उनका स्वामी आदि नहीं मानता है, इसलिए भय सहित होकर भी वह निर्भय ही है। संसारी जीवों के सत्ता में स्थित कर्म सदा ही उदय में आते रहते हैं, जिससे यह जीव उनमें मोह, राग और द्वेष करता हुआ उनके फल को भोगने के लिए बाध्य होता है। इस कारण से ज्ञात होता है कि ज्ञानी जीव निःशंक है, क्योंकि इसके शङ्का का कारण एकदेश भी मूर्च्छा नहीं पाई जाती है[9]।

सात भय :- सम्यग्दृष्टि सातभयों से रहित होता है। सातभयों के नाम इस प्रकार हैं - 1. इहलोक का भय 2. परलोक का भय 3. वेदना का भय 4. अरक्षा का भय 5. अगुप्ति का भय 6. मृत्यु का भय 7. आकस्मिक भय[10]।

1. इहलोक का भय - मेरे इष्ट पदार्थों का कभी नाश न हो। इसी प्रकार मेरे अनिष्ट पदार्थों का भी कभी समागम न हो। इस प्रकार इस जन्म में सदा विलाप करते रहना, इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग से सदा डरते रहना इहलोक सम्बन्धी भय कहलाता है[11]।

2. पर लोक का भय - आगामी जन्मान्तर को प्राप्त होने वाले परभव सम्बन्धी आत्मा का नाम ही परलोक है। इसके कारण जीव को कम्प के समान दुःख होता है। इसलिए ऐसे भय को परलोक भय कहते हैं। आकुलित होना ही परलोक भय है। मिथ्यादृष्टि जीव के ऐसा भय अवश्य

पाया जाता है क्योंकि इसका कारण एक मात्र मिथ्याभाव है। किन्तु इससे विपरीत सम्यग्दृष्टि के यह भय नहीं पाया जाता है ? क्योंकि इसके मिथ्याभाव का अभाव होता है[12]।

3. वेदना का भय - शरीर में वातादि मलों के कुपित होने से जो बाधा उत्पन्न होती है, वह वेदना कहलाती है। इस वेदना के पहले ही शरीर में कम्प होने लगता है अथवा मोहवश यह जीव विलाप करने लगता है। इसी का नाम वेदना भय है। मैं नीरोग हो जाऊं, मुझे वेदना कभी भी न हो। इस प्रकार की मूर्च्छा का होना या इस प्रकार बार-बार चिन्तवन करना ही वेदना भय है[13]।

4. अरक्षा का भय - जिस प्रकार क्षणिक एकान्तपक्ष में चिन्तक्षण आदि की रक्षा नहीं की जा सकती, उसी प्रकार नाश से पूर्व ही अंशी के नाम की रक्षा करने में अपनी असमर्थता मानना अत्राण भय है। इसका कारण मिथ्याभाव है, इसलिए यह मिथ्या दृष्टि के नियम से होता है[14]।

5. अगुप्ति का भय - दर्शन मोहनीय के उदय से जिसकी बुद्धि एकान्तवास से मूढ़ है, उसी के निश्चय से अगुप्ति भय होता है[15]।

6. मृत्यु का भय - विस्तार से प्राण काय, वचन, पाँच इन्द्रियां, मन, स्वासोच्छ्वास और आयु ऐसे दस प्रकार के होते हैं। मेरा जीवन कायम रहे, मेरा मरण कभी न हो, देववश भी मैं मृत्यु को प्राप्त न होऊँ, इस प्रकार अपने शरीर के नाश के विषय में मानसिक चिन्ता न होना मृत्यु भय है[16]।

7. आकस्मिक भय - मैं सदा स्वस्थ रहूँ, अस्वस्थ कभी न होऊं, इस प्रकार व्याकुल चित्तवाले के जो मानसिक चिन्ता होती है, वह आकस्मिक भय है[17]।

निःकांक्षित अङ्ग - जो आत्मा कर्मों के फलों में तथा वस्तु के स्वभाव में समस्त धर्मो में कांक्षा नहीं करता उसे निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए[18]। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि कर्म का परवशपना जिसमें है अन्त सहित दुःखों से, जिसका उदय मिला हुआ है तथा जो पाप का बीजरूप है ऐसे सांसारिक सुख में अनित्य रूप श्रद्धा रखना अर्थात् सांसारिक सुख की कांक्षा नहीं करना अनाकांक्षा है[19]। आचार्य अमृत चन्द्र के अनुसार इस जन्म में ऐश्वर्य, सम्पदा आदि की और परभव में चक्रवर्ती नारायण आदि के पद पाने की तथा एकान्तवाद से दूषित अन्य मतों की भी आकांक्षा नहीं करना चाहिए[20]। स्वामी कार्तिकेय ने कहा है कि दुर्धर तप द्वारा मोक्ष की इच्छा करता हुआ जो प्राणी स्वर्ग सुख के लिए धर्म का आचरण नहीं करता, उसके निःकांक्षित गुण होता है[21]। तात्पर्य यह है कि इस लोक और परलोक में भोगों की इच्छा को त्यागकर जो केवलज्ञान आदि अनन्तगुणों की अभिव्यक्ति रूप मोक्ष के लिए दान, पूजन, तपश्चरण आदि करता हैं उसके निःकांक्षा गुण कहा है तथा निश्चय नय से रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न हुए सच्चे आत्मिक सुख रूपी अमृत से चित्तका संतप्त होना निःकांक्षित गुण है। जो मूर्ख धर्म सेवन कर अपने भोग सेवन करने की इच्छा करता है, वह स्वर्ग, मोक्ष को सिद्ध करने वाले अमूल्य रत्न को देकर कांच खरीदता है[22]। 'लाटी संहिता' में कहा गया है कि व्रतादिक क्रियाओं को करते हुए उनसे परभव के लिए भोगों की अभिलाषा करना, कर्म और कर्म के फल में आत्मीय भाव रखना और अन्यदृष्टि की प्रशंसा करना कांक्षा है। इन्द्रियों के लिए अरुचिकर विषयों में जो तीव्र उद्वेग होता है, वह भोगाभिलाषा का चिह्न है क्योंकि अपने लिए इष्ट पदार्थों में अनुराग होने से ही ऐसा होता है। जैसे - स्व पक्ष में जो रति होती है, वह भी विपक्ष में अरति हुए बिना नहीं होती। वैसे ही स्व पक्ष में जो अरति होती है वह भी उसके पक्ष में रति हुए बिना नहीं होती। जैसे कि शीत स्पर्श

से द्वेष करने वाला व्यक्ति ही उष्ण स्पर्श को चाहता है, क्योंकि जो उष्ण स्पर्श को चाहता है, वह शीत स्पर्श को नहीं चाहता है। इस प्रकार की कांक्षा रूप भाव जिसके है वह नियम से मिथ्यादृष्टि है यह बात युक्ति, अनुभव और आरम्भ से जानी जाती है। भोगाभिलाषा से परभव में इष्ट पदार्थों का संयोग होना तो दूर रहा किन्तु इससे ऐहिक पदार्थों की भी सिद्धि होती है। जैसे किसी उन्मत्त पुरुष के मन में व्यर्थ ही नाना प्रकार के विकल्प उठा करते हैं या समुद्र में वायु के निमित्त से व्यर्थ ही नाना प्रकार की तरंगें उठा करती हैं वैसे ही इस जीव के मिथ्यात्वकर्म के उदय से यह भोगाभिलाषा व्यर्थ ही उदित होती रहती है।

शंका - जब मन्द पुरुष भी कार्य का निश्चय किये बिना प्रवृत्ति नहीं करता है तब फिर ज्ञानी पुरुष भोगाकांक्षा के बिना व्रतों का आचरण कैसे कर सकता है ? क्रिया का फल एकमात्र बन्ध है यह बात भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि शुभ क्रिया का फल शुभ है और अशुभ क्रिया का फल अशुभ है। यदि कोई ऐसी आशंका करे कि सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से वीतराग के समान किसी सरागी के भी यह क्रिया बन्ध फलवाली नहीं होती है सो ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है। चाहे सरागी हो चाहे वीतरागी हो, दोनों की क्रिया औदायिकी ही होती है, इसीलिए जब तक मोहनीय की किसी एक प्रकृति का उदय रहता है, तब तक क्रिया का फल नियम से बन्ध ही है। यह कहना भी ठीक है कि कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव बुद्धि के दोष से बन्ध फल वाली क्रिया को यह जानकर ही करता है कि उसका बन्ध अबन्ध है, क्योंकि इसके सम्यक् विशेषण प्रज्ञा का (स्वानुभूति का) अविनाभावी है। उसके बिना सम्यग्दर्शन में दिव्यता कैसे आ सकती है ?

समाधान - ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह पहले ही अच्छी तरह से सिद्ध कर आये हैं कि बिना इच्छा के ही सम्यग्दृष्टि से क्रिया होती है। फिर इसके शुभ क्रिया और अशुभ क्रिया की क्या विशेषता शेष रही अर्थात् कुछ भी नहीं।

शंका - जो क्रिया अनिष्ट और इष्ट पदार्थ का संयोग रूप है वह नहीं चाहने वाले के कैसे हो सकती है ? उदाहरणार्थ व्रत रूप जो समीचीन क्रिया है वह वास्तव में बिना चाहने वाले पुरुष के नहीं होती। उसके करने में व्यक्ति स्वतन्त्र है, इसलिए कोई उसका कर्त्ता है यह बात सिद्ध होती है।

समाधान - ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि कर्म के उदय रूप जो कुछ भी है, वह सब अनिष्ट अर्थ है, इसलिए जितना कर्म और उसका फल है उसे ज्ञानी पुरुष नहीं चाहता है और प्रयोजन वश हमें जो कोई पदार्थ इष्ट रूप और अनिष्ट रूप प्रतीत होता है सो यह सब दृष्टि दोष से ही प्रतीत होता है। जैसे कोई दृष्टि दोष से शुक्ल शंख को पीला देखता है, वैसे ही दृष्टि दोष से पदार्थों में इष्टानिष्ट कल्पना हुआ करती है। किन्तु दर्शन मोहनीय का नाश हो जाने पर जो पदार्थ जैसा है, उसे उसी रूप से साक्षात् देखने वाली दृष्टि हो जाती है फिर उसकी अनिष्ट रूप कर्मों के फल में अनिष्ट पदार्थ रूप ही बुद्धि होती है। कर्म और उसका फल अनिष्ट रूप है यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि कर्म और कर्म का फल सर्वथा दु:ख का कारण है इसलिए इनका अनिष्ट रूप होना मुक्ति, अनुभव, और आगम से सिद्ध है। जैसे दुष्ट उपदेश के समान जिस दुष्ट हेतु से दुष्ट कर्म की उत्पत्ति होती है, वह दुष्ट ही कहा जाता है। वैसे ही व्रत क्रिया का फल अनिष्ट है, इसलिए वह अनिष्टार्थ ही है। यत: क्रिया कर्म का फल है इसलिए उसे स्वतन्त्र मानना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मोदय रूप हेतु के बिना क्रिया की उत्पत्ति होना असंभव है। चाहे अभीक्षण

मोह आत्मा हो, चाहे क्षीणमोह इन दोनों के जितनी भी क्रिया होती है वह सब औदायिकी मानी गई है ।

जीव का पुरुषार्थ कर्मोदय के प्रति इच्छानुसार नहीं होता और वह केवल पुरुषार्थ की अपेक्षा से होता है सो बात नहीं है, किन्तु वह (क्रिया) अवश्य ही देव की अपेक्षा से होती है । इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानी पुरुष कर्मोदय जन्य क्रिया को करता हुआ भी कांक्षा रहित है क्योंकि विरागियों का बिना इच्छा के किया हुआ कार्य राग के लिए नहीं होता । यदि कोई ऐसी आशंका करे कि सम्यग्दर्शन रूप अतिशय के बिना भी किसी अन्य कारण से सामान्य जन भी कहीं पर कांक्षा रहित हो जाता है मो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि न्याय से यह बात सिद्ध है कि सम्यग्दर्शन के बिना नि:कांक्षित गुण नहीं हो सकता है । कारण कि जो अतीन्द्रिय सुख को नहीं चाहता उसकी इन्द्रियजन्य सुख में अनिच्छा नहीं हो सकती । उस अतीन्द्रिय सुख को मोहवश मिथ्याजीव नहीं चाहता, क्योंकि उसके दर्शन मोहनीय की पाक शक्ति सदैव उसी प्रकार पाई जाती है[23] ।

निर्विचिकित्सा गुण - जो जीव वस्तु के सभी धर्मों में ग्लानि नहीं करता, उसे निश्चय से निर्विच्चिकित्सा सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए[24] । आचार्य समन्तभद्र के अनुसार स्वभाव से अपवित्र, रत्नत्रय से पवित्र धर्मात्माओं के शरीर में ग्लानि रहित गुणों में प्रीति करना निर्विचिकित्सा अंग माना गया है[25] । भूख प्यास, शीत, उष्ण आदि नाना प्रकार के भावों में तथा मल मूत्रादि द्रव्यों में ग्लानि नहीं करना चाहिए[26] । भट्टारक सकल कीर्ति के अनुसार यदि मुनिराज का शरीर रोगादि से पीड़ित हो अथवा उनके सब शरीर पर मैल लगा हो तो भी उन्हें देखकर घृणा न करना और उनके गुणों में प्रेम करना निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है । जिन मार्ग में सब जगह परीषहों का सहन करना ही उत्तम होता है ऐसा विचार कर घृणा का त्याग देना, भावपूर्वक निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है[27] । स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार दस प्रकार के धर्मो से युक्त मुनियों के स्वभाव से ही मुगन्धित और अपवित्र शरीर की जो निन्दा नहीं करता उसके निविचिकित्सा गुण होता है[28] । राजमल्ल के अनुसार अपने में अपने के उत्कर्ष की बुद्धि से उसकी प्रशंसा करना और दूसरे के अपकर्ष की बुद्धि रखना विचिकित्सा मानी गई है । जो इस प्रकार की विचिकित्सा से रहित है। वह सम्यग्दर्शन का सर्वोत्तम निर्विचिकित्सा नामक गुण कहा गया है । यथा जो पुरुष दुर्दैव के कारण दुखित हो रहा है और तीव्र असाता के कारण जो घृणास्पद है उसके विषय में जो असूया रूप चिन्ह का नहीं होना निर्विचिकित्सागुण माना गया है । मन में ऐसा अज्ञान नहीं होना चाहिए कि मैं सम्पत्तियों का घर हूँ और यह दीन, गरीब विपत्तियों का घर है । यह हमारे समान नहीं हो सकता, किन्तु इसके विपरीत मन में ऐसा ज्ञान होना चाहिए कि कर्म विपाक से जितने भी प्राणी त्रस और स्थावर योनि में हैं वे सब समान हैं जैसे शूद्र के उदय से दो बालक पैदा हुए वे दोनों वास्तव में शूद्र हैं, किन्तु भ्रमात्मा उनमें भेद करने लगता है जैसे - जल में काई होती है ठीक वैसे ही जीव में जब तक अशुचि कर्म मौजूद है तब तक मैं और वे सब संसारी जीव सामान्य रूप से कर्मों से मैले हो रहे हैं । यह निर्विचिकित्सा सम्यग्दर्शन का एक गुण है क्योंकि वह सम्यग्दर्शन के होने पर ही होता है । उसके बिना और किसी के नहीं होता किन्तु जो केवल कर्म की पर्यायों में अनुराग करता है । उसके वह गुण कैसे हो सकता है, क्योंकि कर्मकृत पर्याय यद्यपि सत् से भिन्न है तो भी मिथ्यादृष्टि जीव मोह वश उन दोनों को एक समझ बैठा है[28] ।

श्री पद्मनन्दि विरचित श्रावकाचार सारोद्धार में कहा गया है कि पूर्वोपार्जित साधन कर्मों के उदय के वश से प्राप्त हुए रोगों से कलंकित मुनि को देखकर जिसका मन ग्लानि को प्राप्त होता है वह मनुष्य समस्त आपत्तियों का आस्पद होता है। जैन साधुओं के खड़े होकर भोजन करने से, नग्न रहने से, स्नान और आचमन नहीं करने से मिथ्यादृष्टि मनुष्य निन्दा के अयोग्य निर्दोष भी जिनशासन की निन्दा करते हैं। जैन साधुओं के उक्त कार्यों के रहस्यभूत अर्थ को नहीं जानते हुए मिथ्यात्व कर्म के उदय से दूषित बुद्धि वाले वे स्वभाव से कुटिल दुर्जन लोग वृथा ही जिन शासन और उसके धारक साधुओं से ग्लानि करते हैं। अपना अथवा दूसरे का यह शरीर बाहरी शोभा से ही मनोहर दिखता है। किन्तु भीतरी स्वरूप से विचार किया गया यही शरीर उदुम्बर फल के समान बीभत्स दिखाई देगा। शरीर के दूषणों को अवलोकन करके जो पुरुष सुन्दर तत्वज्ञानी साधु से घृणा करता है वह मूढ़ बुद्धि मानों कालिमा के भय से हाथ में आये हुए सुवर्ण को छोड़ता है। जो शुद्ध आत्मा के ध्यान में संलग्न है, ब्रह्मचारी है और व्रत एवं मंत्र से पवित्र है, ऐसे साधुओं का स्नान नहीं करना दोष को प्राप्त नहीं होता है। अथवा कहा भी है शरीर का जो अंग अशुद्ध हो, वही जल से शुद्ध करने के योग्य है। (सारे शरीर को जल से शुद्ध करने की आवश्यकता नहीं है) अंगुली के सर्प द्वारा काट लिये जाने पर अंगुली ही काटी जाती है, नासिका नहीं काटी जाती है। यदि कभी कहीं शरीर में अशुचित्व जनित कोई दोष हो जाये, तो उसमें यह विधि जानने योग्य है। कापालिका, अत्रेयी (रजस्वला स्त्री) चाण्डाल, भील आदि नीच पुरुष से स्पर्श हो जाने पर शिर से दण्डवत् एक जलधारा में स्नान कर उस दिन उपवास करता हुआ मन्त्र का जाप करे। जो व्रत संयुक्त आर्यिका आदि व्रती स्त्रियाँ हैं, वे एक रात से लेकर तीन रात तक ऋतु काल में निःसन्देह अपोषित रहती हुई चौथे दिन स्नान करके शुद्ध हो जाती हैं।

नग्न पना यह प्राणी का जन्म जात सहज स्वरूप है और वस्त्र भूषणादि का ग्रहण करना तो विकार है। इसलिए सदाचार के विचार करने में कुशल कौन बुद्धिमान पुरुष इस सहजात नग्नत्व में द्वेष करेगा। विकार वाली वस्तु पर वस्त्र का आवरण करना योग्य है। किन्तु निर्विकार से युक्त पुरुष पर आवरण का होना प्रशंसास्पद नहीं है। परिग्रह को छोड़ने वालों (वीतरागता की ओर बढ़ने वालों) के द्वारा नग्नता सदा स्वीकार की जाती है। किन्तु परिग्रह रूपी ग्रह से ग्रसित सरागियों के द्वारा नग्नता की निन्दा की जाती है। खड़े होकर भोजन करना नरक के लिए कारण नहीं है और बैठकर के भोजन करना मुक्ति के लिए भी कारण नहीं है। किन्तु ज्ञान नेत्र वाले संयमी जनों की यह प्रतिज्ञा होती है कि जब तक मेरे ये दोनों हाथ परस्पर मिले हुए हैं और जब तक खड़े होकर भोजन करने की सामर्थ्य है तब तक ही मैं भोजन की क्रिया को करूंगा, अन्यथा सामर्थ्य के अभाव में परलोक की सिद्धि के लिए मैं भोजन की क्रिया को छोड़ दूंगा। यतीश्वर लोग जो यह केशों का लोंच करते हैं वह अदीनता और वैराग्य की रक्षा के लिए परीषहादि को सहन करने के लिए और अपनी प्रसिद्ध वीरचर्या के प्रकट करने तथा शरीर से निर्ममत्व प्रकाशित करने के लिए करते हैं[29]।

अमूढ़दृष्टि अङ्ग - जो जीव सब भावों में मूढ़ नहीं होता हुआ यथार्थ दृष्टि वाला होता है उसे निश्चय से अमूढ़दृष्टि सम्यग्दर्शन जानना चाहिए[30]। स्वामी समन्तभद्र के अनुसार दुखों के मार्ग कुमार्ग में और कुमार्ग में स्थित मिथ्यात्वियों में मन से सम्मत न होना, काय से सराहना नहीं करना, वचन से प्रशंसा नहीं करना अमूढ़दृष्टि नामक अंग कहा जाता है[31]। आचार्य अमृतचन्द्र

के शब्दों में - लोकाचार में मिथ्या शास्त्रों में, मिथ्याधर्मों में, मिथ्यादेवताओं में तत्त्व श्रद्धानी पुरुष को सदा ही मूढ़ता रहित दृष्टि रखना चाहिए[32] ।

अतत्त्व में तत्त्व का श्रद्धान करना, इस लक्षण के अनुसार मूढ़दृष्टि है यह, जिस जीव के नहीं होती है वह अमूढ़दृष्टि कहलाता है । दूसरे दर्शन वालों ने मिथ्या हेतु और दृष्टान्तों द्वारा मिथ्यापदार्थ की सिद्धि की है वह मिथ्या पदार्थ सम्यग्दृष्टि के दर्शन मोहनीय का उदय नहीं रहने से मोह पैदा करने में समर्थ नहीं होता । मिथ्यादृष्टियों के द्वारा सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों के दिखलाये जाने पर भी उनमें अल्प श्रुत ही जब मोहित नहीं होता तब जो बहुश्रुत हैं, वह मोहित कैसे होगा ? इस प्रकार इन सूक्ष्म आदि अर्थाभासों में भी जब सम्यग्दृष्टि के मूढ़ता नहीं रहती तब फिर स्थूल समीपवर्ती और उपात्त मिथ्या अर्थों में इसे भ्रम कैसे हो सकता है ? उदाहरणार्थ - लौकिकी रूढ़ि नाना प्रकार भी है जिसे नि:सार पुरुषों ने आश्रय दे रखा है जिसका फल अनिष्ट है, जो निष्फल है, खोटे फल वाली है जिसकी पुष्टि में कोई समुचित हेतु नहीं मिलता और जो निरर्थक है तो भी कितने ही पुरुष खोटे कर्म के उदय से उस लौकिकी रूढ़ि को छोड़ने में कठिनता का अनुभव करते हैं जीव के जो अदेव में देवबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि और अगुरु में गुरु बुद्धि होती है, वह देव मूढ़ता कही जाती है । मिथ्यादृष्टि जीव ऐहिक सुख के लिए कुदेव की आराधना करता है, यह झूठा लोकाचार है । अत: लोकमूढ़ता अकल्याणकारी मानी गई है । लोकमूढ़ता वश किन्हीं पुरुषों का ऐसा श्रद्धान है कि अम्बिका की अच्छी तरह आराधना करने पर वह धन धान्य देती है इसी तरह मिथ्यादृष्टि जीव भी अज्ञानवश सदोष देवों को भी निर्दोष देवों के समान इच्छानुसार मानते हैं । कुदेवों की आराधना के लिए जितना भी उत्तम है वह और उनके द्वारा कहे गये धर्म में वचन, काय और मन की प्रवृत्ति, यह सब अधर्म है । जिसका आचार कुत्सित है जो शल्य और परिग्रह सहित है वह कुगुरु है क्योंकि सदगुरु सम्यक्त्व और व्रत दोनों से युक्त होता है । रागादि का पाया जाना यह दोष है और ज्ञानावरणादि ये कर्म हैं । जिनके इन दोनों का सर्वथा अभाव हो गया है, वह देव कहा जाता है । उसके केवलज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक सुख और क्षायिक वीर्य यह सुविख्यात अनन्त चतुष्टय होता है । देव द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा एक प्रकार का तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा दो प्रकार का है, संज्ञा वाचक शब्दों की अपेक्षा संख्यात प्रकार का है और गुणों की अपेक्षा अनन्त प्रकार का है । शुद्धोपलब्धि रूप द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वह देव एक प्रकार का है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अर्हन्त और सिद्ध इस तरह दो प्रकार का है । जो दिव्य औदारिक देह में स्थित है चारों घातिया कर्मों से रहित है, ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख से परिपूर्ण है और धर्म का उपदेश देने वाला है, वह अर्हंत देव है । जो मूर्त शरीर से रहित है सम्पूर्ण चर और अचर पदार्थों को युगपत् जानने और देखने वाला है, लोक के अग्रभाग में स्थित है, ज्ञानादि 8 गुण सहित हैं और ज्ञानावरणादि 8 कर्मों से रहित हैं, वह सिद्ध देव हैं[33] । वास्तव में सच्चा गुरु वही है, वही मोक्षमार्ग का उपदेशक है, वही भगवान् है और वही मोक्षमार्ग का नेता है । इन अर्हन्त और सिद्धों के नीचे जो अल्पज्ञ हैं और उसी रूप अर्थात् दिगम्बरत्व, वीतरागत्व और हितोपदेशित्व को धारण करने वाले हैं वे गुरु हैं[34] । चारित्र ही धर्म है और धर्म है उसी को शुभ कहते हैं । तात्पर्य यह है कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम धर्म है[36] । इस प्रकार देव, गुरु और धर्म में यथार्थता को दिखलाने वाली दृष्टि अमूढ़दृष्टि कही गई है और इससे विपरीत दृष्टि ही मूढ़ दृष्टि है ।

उपबृंहण (उपगूहन) अङ्ग – जो सिद्ध भक्ति से युक्त हो समस्त धर्मों का उपगूहन करने वाला हो, उसे उपगूहन अंग का धारी सम्यग्दृष्टि कहते हैं[37] । स्वामी समन्तभद्र के अनुसार जो अपने आप ही पवित्र जैनमार्ग की अज्ञानी तथा असमर्थ जनों के आश्रय से उत्पन्न हुई निन्दा को दूर करते हैं उसको उपगूहन अंग कहते हैं[38] । स्वामीकार्तिकेय के अनुसार जो सम्यग्दृष्टि दूसरों के दोषों को तो ढ़कता है और अपने सुकृत को लोक में प्रकाशित नहीं करता तथा ऐसी भावना रखता है कि जो भवित्वय है, वही होता है उसे उपगूहन अंग कहते हैं[39] । किसी सम्यग्दृष्टि श्रावक मुनि के द्वारा सम्यक्त्व में कोई अतिचार लगाया गया हो या व्रत का भंग किया गया हो तो सम्यग्दृष्टि उसे लोक में प्रकाशित नहीं करता । आशय यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग स्वभाव से ही शुद्ध है किन्तु जब अज्ञानी, अथवा अश्रद्धालु मनुष्यों के निमित्त से धर्म का अपवाद होने के कारण उस मार्ग की बदनामी होती हो तो आगम के अनुसार धर्मोपदेश के द्वारा यथाशक्ति जो उस बदनामी का निवारण किया जाता है उसे व्यवहार से उपगूहन अङ्ग कहते हैं तथा अपने निरंजन निर्दोष परमात्मा को ढांकने वाले जो मिथ्यात्व राग आदि दोष हैं उन दोषों को दूर करने का उपाय करना निश्चय से उपगूहन अंग कहा है[40] । पञ्चाध्यायीकार राजमल्ल ने इस गुण का नाम उपवृंहण दिया है, आत्मिक शक्तियों की नियम से वृद्धि करना, यह इसका लक्षण है । आत्मा की शुद्धि में दुर्बलता न आने देना या उसकी पुष्टि करना उपवृंहण है । अर्थात् आत्मा को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वभाव से च्युत नहीं होने देना ही उपवृंहण है । यह भी जानता हुआ भी आत्म साक्षात्कार के विषय में पूरी तरह से पुरुषार्थ नहीं कर पाता तथापि पुरुषार्थ की प्रेरणा देता हुआ ही मानो इस विषय में प्रयत्नवान् रहता है । यह शुद्धोपयोग में रंचमात्र भी प्रमादी नहीं होता है किन्तु प्रमाद रहित होकर आदर से आत्मिक कार्यों में लगा रहता है अथवा शुद्धोप लब्धि के लिए यह उस आत्मिक कार्य में उपयोगी पड़ने वाली किन्हीं बाहरी सत्क्रियाओं का भी अभ्यास करता है। जैसे पारद भस्म को सेवन करता हुआ भी कोई पुरुष पथ्य करता है । कोई पुरुष पथ्य नहीं भी करता है । जो पथ्य करता है वह अपने रोग से मुक्ति पा लेता है और जो पथ्य नहीं करता वह अपनी निरोगता को भी खो बैठता है अथवा सम्यग्दृष्टि के बिना ही प्रयत्न के स्वभाव से उपवृंहण गुण होता है क्योंकि इसके ऊपर गुण श्रेणी निर्जरा पाई जाती है । इसके समस्त कर्मों की प्रति समय असंख्यात गुण क्रम से निर्जरा अवश्य होती रहती है इसलिए यह बात युक्ति से प्राप्त हुई कि इसके जितने रूप में कर्मो का क्षय होता है उतनी शुद्धोपयोग की वृद्धि होती है । इस प्रकार वृद्धि के बाद वृद्धि होती जाती है । इसके जैसे-जैसे विशुद्धि की भीतर प्रकाश देने वाली वृद्धि होती है वैसे-वैसे इन्द्रियों के विषय में भी इसके उपेक्षा होती जाती है । इसलिए बड़े भारी क्रियाकाण्ड में सम्यग्दृष्टि अपनी शक्ति को न छिपावे किन्तु प्रयत्न से अपनी शक्ति को बढ़ावे[41]।

स्थितिकरण अङ्ग – जो जीव न केवल पर को किन्तु उन्मार्ग में जाने वाले अपने आत्मा को भी समीचीन मार्ग में स्थापित करता है उसे स्थितिकरण अंग से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए[42]। स्वामी समन्तभद्र के अनुसार सम्यग्दर्शन से अथवा सम्यग्चारित्र से भी डिगते हुए पुरुषों को धर्मात्मा पुरुषों के द्वारा जो उसी रुप में स्थिर कर देना है । स्थितिकरण अंग स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा के टीकाकार शुभचन्द्र के अनुसार मुनि, आर्यिका और श्रावक, श्राविका के भेद से चार प्रकार के संघ में से जब कोई व्यक्ति दर्शन मोहनीय अथवा चारित्र मोहनीय के

उदय से सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्र को छोड़ना चाहता हो तो यथा शक्ति आगमानुकूल धर्म का उपदेश देकर या धन की सहायता देकर या शक्ति का प्रयोग करके अथवा अन्य उपाय से जो उसे धर्म में स्थिर किया जाता है उसे व्यवहार से स्थितिकरण गुण कहते हैं और मिथ्यात्व राग वगैरह समस्त विकल्प जाल को त्यागकर अपने आत्म स्वभाव में स्थिर होना निश्चय से स्थितिकरण गुण है[44]। राजमल्ल के अनुसार जो धर्म से च्युत हो गया है उसको धर्म में स्थित करना स्थितिकरण है किन्तु अधर्म से च्युत हुए जीव को अधर्म में स्थित करना स्थितिकरण नहीं है । कितने ही अल्पज्ञानी भावी धर्म की आशा से सावध का उपदेश देते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुषों ने धर्म के लिए अधर्म का सेवन करना प्रमाण नहीं माना है । अधर्म के सेवन करने से परम्परा धर्म होता है । इस पक्ष को यहाँ थोड़ा भी अवकाश नहीं है क्योंकि मूर्ख को छोड़कर कोई भी प्राणी मोहवश शीत के लिए अग्नि में प्रवेश नहीं करता है । पहले अधर्म का सेवन करना यह धर्म का पूर्व रूप नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर व्याप्ति पक्ष धर्म से रहित हो जाती है और हेतु व्याभिचारी हो जाता है । प्रति समय जब तक कर्मों का उदयरूप हेतु मौजूद है तब तक स्वत: धर्म भी हो सकता है और अधर्म भी हो सकता है । यह सर्वत्र नियम है । स्थितिकरण स्व और पर के भेद से दो प्रकार का है । अपनी आत्मा को अपने आत्मतत्व में स्थित करना स्व-स्थितिकरण है और अन्य की आत्मा को उसके आत्मतत्व में स्थित करना यह पर-स्थितिकरण है । मोह के उदय की तीव्रतावश आत्मस्थिति से डिगे हुए आत्मा को फिर से अपनी आत्मा में स्थित करना स्व-स्थितिकरण है । आशय यह है कि कभी दैववश वह जीव सम्यग्दर्शन से नीचे गिर जाता है और कभी दैववश सम्यग्दर्शन को पाकर ऊपर चढ़ता है अथवा कभी अनुकूल कारण सामग्री के मिलने पर सम्यग्दर्शन से नहीं गिरता हुआ भी भावों की शुद्धि को नीचे-नीचे के अंशों से ऊपर-ऊपर को बढ़ाता है । कभी यह जीव वाह्य शुभाचार को स्वीकार करके भी छोड़ देता है और कदाचित् नहीं भी छोड़ता है या कदाचित् छोड़कर पुन: ग्रहण कर लेता है अथाव बाह्य क्रियाचार में अवस्थानुसार स्थित रहता हुआ भी कदाचित् अन्तरंग भावों से दैदीप्यमान होता हुआ स्थित रहता है । यह बात असंभव भी नहीं क्योंकि इसके अपने तारतम्य रूप अंशों के कारण हीनाधिक अवस्था को प्राप्त होने वाला चारित्र मोहनीय का उदय पाया जाता है । यहां इतना ही अभिप्राय है कि स्व-स्थितिकरण में अन्य कोई कारण नहीं है यदि किसी नीतिवश इसमें किसी अन्य कारण की कल्पना की जाती है तो अनवस्था दोष आता है । अपने पद से भ्रष्ट हुए अन्य जीवों को सद् अनुग्रह भाव से किसी पद में फिर स्थापित कर देना पर-स्थितिकरण है । धर्म के आदेश और उपदेश द्वारा ही दूसरे का अनुग्रह करना चाहिए, किन्तु अपने व्रत को छोड़कर दूसरे जीवों की रक्षा करने में तत्पर होना उचित नहीं है[45]।

वात्सल्य अङ्ग - जो जीव आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओं में और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग में वत्सलता करता है उसे वात्सल्य भाव से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए[46]। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार अपने सहधर्मी भाइयों के प्रति समीचीन भावों सहित छलकपट रहित यथायोग्य आदर सत्कार करना वात्सल्य नामक अंग है[47]। आचार्य सोमदेव के अनुसार धर्मात्मा पुरुषों के प्रति उदार होना, उनकी भक्ति करना, मिष्ट वचन बोलना, आदर सत्कार तथा अन्य उचित क्रियायें करना वात्सल्य है । स्वाध्याय, संयम, संघ, गुरु और सहाध्यायी का यथायोग्य आदर सत्कार करने को कृती पुरुष विनय कहते हैं । जो मानसिक व शारीरिक पीड़ा से पीड़ित हैं, निर्दोष विधि से उनकी सेवा, सुश्रूषा करना वैयावृत्य कहा जाता है । यह वैयावृत्य मुक्ति का कारण है । जिन भगवान् में, जिन भगवान् के द्वारा कहे हुए शास्त्रों में, आचार्य में और तप तथा स्वाध्याय में लीन मुनि आदि में विशुद्ध भाव पूर्वक जो अनुराग होता है । उसे भक्ति कहते हैं । जो हर्षित होकर चार प्रकार के संघ में यथायोग्य वात्सल्य नहीं करता वह धर्मात्मा कैसे हो

सकता है ? इसलिए व्रतों के द्वारा, विद्या के द्वारा, धन के द्वारा, शरीर के द्वारा और सम्पन्न साधनों के द्वारा शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक रोगों से पीड़ित संयमी जनों का उपकार करना चाहिए। राजमल्ल के अनुसार जिस प्रकार उत्तम सेवक स्वामी के कार्य में दास भाव रखता है उसी प्रकार सिद्ध प्रतिमा, जिनबिम्ब, जिन मन्दिर, चार प्रकार का संघ और शास्त्र इन सब में दयाभाव रखना वात्सल्य अंग है। अभिप्राय यह है कि सिद्ध प्रतिमा आदि में से किसी एक पर घोर उपसर्ग आने पर वह सम्यग्दृष्टी जीव इनके दूर करने के लिए सदा तत्पर रहता है। अथवा यदि आत्मिक सामर्थ्य नहीं है तो जब तक यन्त्र, तलवार और धन है तब तक वह उन सिद्ध प्रतिमा आदि पर आई हुई बाधा को न तो देख ही सकता है और न सुन ही सकता है। स्व और पर के भेद से वह वात्सल्य दो प्रकार का है। इनमें से अपनी आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला वात्सल्य प्रधान है और अन्य आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला वात्सल्य गौण है। परीषह और उपसर्ग आदि से कहीं पर पीड़ित होकर भी शुभ आचार में, ज्ञान में और ध्यान में शिथिलता का न लाना यह पहला स्व वात्सल्य है। पर वात्सल्य के विषय में कहा ही गया है कि वह भी सम्यग्दृष्टी का प्रकट गुण है। क्योंकि शुद्ध ज्ञान के बल से ही बाधा दूर की जा सकती है[48]। प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में कहा गया है कि जिस प्रकार सद्यः प्रसूता गाय अपने बछड़े पर प्रेम करती है उसी प्रकार जो विद्वान धर्मात्मा भाइयों में, मुनियों में और जैनधर्म में प्रेम करते हैं वह सबसे उत्तम वात्सल्य अंग है। जो भव्य मुनियों में जैनधर्म और धर्मात्माओं में सुख देने वाले, धर्म रूप प्रेम को करते हैं वे तीर्थङ्कर की विभूति को पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। जो अधर्म स्त्री पुत्र आदि सन्तानों में पाप उत्पन्न करने वाला प्रेम करते हैं वे अनेक दुःखों को पाकर अवश्य ही दुर्गतियों में जन्म लेते हैं[49]। पं गोविन्द विरचित पुरुषार्थानुशासन गत श्रावकाचार में कहा गया है कि जो सारभूत श्रेष्ठ आचरण करने वाले मुनियों का और गृहस्थों का यथायोग्य कुशल क्षेम का कार्य किया जाता है वह वात्सल्य कहा गया है। आद्वति (आदर) व्यावृति (वैयावृत्य) भक्ति, सत्कार, उपकार और स्तुति इत्यादि सर्व भेद वत्सल पुरुषों को वात्सल्य अंग को जानना चाहिए। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के साधक साधुजनों पर जो निश्छल बुद्धि से विनय रखता है वह आदृति मानी गई है। आचार्य, उपाध्याय आदि में रोगादिक के होने पर जो ज्ञानियों के द्वारा रोग दूर करने की नित्य क्रिया विधि की जाती है, वह व्यावृत्ति कही जाती है। वीतराग सर्वज्ञदेव में सूक्ति और युक्ति से युक्त शास्त्र में और परिग्रह विमुक्त गुरु में जो अनुराग किया जाता है वह भक्ति कही जाती है। जो मनुष्यों द्वारा पुलाक, वकुश आदि पाँच भेद वाले निर्ग्रन्थों में भक्ति से पूजन किया जाता है वह यहाँ सत्कृति कही गई है। जो स्वयं विद्या, धन और सामर्थ्य द्वारा या दूसरे के द्वारा अन्य का प्रतिकार किया या कराया जाता है वह उपकार कहा जाता है। जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं की गुणावली का कृतीजन सदा कीर्तन करते हैं। वह स्तुति मानी गई है। इस प्रकार इन उपर्युक्त एवं अन्य योगों से जो गुणीजनों पर वात्सल्य का धारक होता है वह वत्सल पुरुष सुधर्मा सभा में सौधर्म के द्वारा स्तुति को प्राप्त होता है[50]।

प्रभावना अङ्ग - जो जीव विद्या रूपी रथ पर आरूढ़ होकर मन रूपी रथ के मार्ग में भ्रमण करता है, उसे जिनेन्द्र देव के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए[51]। चूंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण ज्ञान की समस्त शक्ति को प्रकट करने, विकसित करने, फैलाने के द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता है, इसलिए प्रभावना करने वाला है। अतः उसे ज्ञान की प्रभावना के अपकर्ष से (ज्ञान की प्रभावना न बढ़ाने से) होने वाला बन्ध नहीं, अपितु निर्जरा ही है[52]। स्वामी समन्तभद्र के अनुसार अज्ञान रूपी अन्धकार के विस्तार को जिस प्रकार बने उस प्रकार दूरकर जिनमार्ग का प्रभाव प्रकट कर देना प्रभावना गुण और निश्चय प्रभावना नामक अंग है[53]। प्रभावना गुण दो प्रकार का होता है। व्यवहार प्रभावना गुण और निश्चय प्रभावना अनेक

प्रकार की युक्तियों के द्वारा मिथ्यावादियों का निराकरण करके अथवा अनेक प्रकार के शास्त्रों की रचना करके या जिनपूजा प्रतिष्ठा यात्रा वगैरह का आयोजन करके अथवा घोर तपश्चरण करके लोक में जैनधर्म का महत्त्व प्रकट करना व्यवहार से प्रभावना गुण है और उसी व्यवहार गुण के बल से मिथ्यात्व विषय कषाय वगैरह समस्त विभाव परिणामों के प्रभाव को हटाकर शुद्धोपयोग रूप स्वसंवदेन के द्वारा विशुद्ध ज्ञान, दर्शन स्वरूप अपनी आत्मा का अनुभव करना निश्चय प्रभावना गुण है[53]। पञ्चाध्यायी में कहा गया है कि प्रभावना का लक्षण उत्कर्ष करना है। हिंसा असद्धर्म है, इसलिए इस पक्ष का थोड़ा भी पोषण नहीं करना चाहिए, क्योंकि अधर्म के उत्कर्ष का पोषण करने से धर्म पक्ष की हानि होती है। पहले अंगों के समान यह अङ्ग भी स्वात्मा और परात्मा के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से पहला अच्छी तरह से उपादेय है और इसके बाद दूसरा भी उपादेय है। क्योंकि धर्म को हानि पहुँचाने वाले असमीचीन कारणों के रहने पर अधिक बल लगाकर धर्म की वृद्धि करना ही उत्कर्ष है। ऐसा उत्कर्ष किसी भी दशा में कारण नहीं है। कोई जीव मोहरूपी शत्रु का नाश होने से शुद्ध हो जाता है। कोई शुद्ध से शुद्धत्तर हो जाता है और कोई शुद्धतम हो जाता है। इस प्रकार अपना उत्कर्ष करना स्वात्म प्रभावना है। यह सब पौरुषाधीन नहीं है किन्तु स्वभाव से ही ऐसा होता है, क्योंकि ऊपर-ऊपर जैसे गुण श्रेणी निर्जरा बढ़ती जाती है तदनुसार आगे-आगे उसकी सिद्धि होती है। विद्या और मन्त्र आदि के बल द्वारा तथा तप और दानादि के द्वारा जैन धर्म का उत्कर्ष करना बाह्य प्रभावना अङ्ग है। जो अन्य लोग मिथ्यात्व का उत्कर्ष चाहते हैं उनका अपकर्ष करने के लिए महापुरुषों को कुछ ऐसे कार्य करने चाहिए, जो चमत्कार पैदा करने वाले हो[54]। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में कहा है कि रत्नत्रय के तेज से निरन्तर ही अपनी आत्मा को प्रभावित करना चाहिए तथा दान, तप, जिनपूजन और विद्या के अतिशय के द्वारा जिन धर्म की प्रभावना करना चाहिए[55]। आचार्य सोमदेव ने कहा है जिन बिम्ब और जिनालयों की स्थापना के द्वारा, ज्ञान के द्वारा, तप के द्वारा तथा अनेक प्रकार की महाध्वज आदि पूजाओं के द्वारा जैनधर्म की प्रभावना करना चाहिए। जो मुनियों के ज्ञान, तप और पूजा की निन्दा करता है, उनमें झूठा दोष लगाता है उससे स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी भी नियम से उससे द्वेष करती है अर्थात् उसे न स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति होती है और न मोक्ष ही मिलता है। इस लोक में बुद्धि और धन में समर्थ होने पर भी जो जिनशासन की प्रभावना नहीं करता वह बुद्धि और धन से समर्थ होने पर भी परलोक में अपना कल्याण नहीं करता। अत: ऐहिक सुख की इच्छा न करके दान, ज्ञान, विज्ञान और महापूजा आदि महोत्सवों के द्वारा सम्यग्दर्शन का प्रकाश करना चाहिए[57]। पं. गोविन्द विरचित पुरुषार्थानुशासनगत श्रावकाचार में कहा गया है कि मोक्ष धारण करके शीत ऋतु में जो चतुष्पथ पर स्थित रहते हैं। ग्रीष्मकाल में पर्वतों के शिखर पर और वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे विराजते हैं। जो परीषहों के द्वारा दुर्धर व्रत भार से चलायमान नहीं होते। जो पक्ष मास आदि के अन्तर से शुद्ध भोजन ही करते हैं, इस प्रकार के तप से और इसी प्रकार के अन्य गुणों से सम्पन्न धीरवीर पुरुषों के द्वारा ही जिनेन्द्र देव के शासन की सत्प्रभावना की जाती है। जो पुरुष तीन प्रकार के सुपात्रों को नय और विनय से सदा दान देते हैं, वे धर्म के प्रभावक हैं, महाव्रती उत्तम पात्र हैं। अणुव्रती मध्यम पात्र हैं और अविरत सम्यग्दृष्टी जघन्य पात्र हैं। इन तीनों प्रकार के पात्रों को आहार, अभय, शास्त्र और औषधरूप चार प्रकार का दान देने के योग्य माना गया है तथा पात्र के अनुसार अन्य वस्त्र धनाधिक भी देना चाहिए तथा पात्रदान, दयादान, समदान और अन्वयदान ये चार प्रकार का और भी दान कहा गया है। तीन प्रकार के सुपात्रों के लिए त्रियोग की शुद्धिपूर्वक उनके गुणों में प्रीति के साथ जो आहार आदि[58] प्रकार का दान दिया जाता है वह पात्रदान कहा जाता है। रोग, बन्धन, दरिद्रता, आपत्ति आदि से पीड़ित दुखी जीवों को जो दया, बुद्धि से दान दिया जाता है, वह दयादान कहा जाता है। पुण्य आदि के हेतु गृहस्थों के द्वारा परस्पर जो ताम्बूल, आहार, वस्त्र आदि दिया जाता है वह समदान कहा जाता है। मोक्ष के लिए उद्यत

होता हुआ गृहस्थ जो अपने पुत्र के लिए कुटुम्ब पोषणार्थ अपनी सम्पदा देता है वह अन्वय दान कहा जाता है। जो अपनी आय का चतुर्थांश दान में देता है वह उत्तम दाता है। जो षष्ठांश दान में देता है वह मध्यम दाता है और जो दशम भाग देता है, वह जघन्य दाता है। इस प्रकार से ज्ञानियों ने तीन प्रकार के दाता कहे हैं। जो चतुर्थांश से अधिक का दान देता है वह दानशौण्ड (दानशूर या दानवीर) कहा जाता है और जो दशम भाग से भी अल्प दान देता है वह अल्प दाता है। इस प्रकार ज्ञानियों को यथाकाल, यथादेश, यथापात्र यथोचित दान देकर निजशासन की प्रभावना करनी चाहिए। जो वीतराग सर्वज्ञ देव हैं उनका जो महान उत्साह से बुद्धिमानों के द्वारा पूजन, विधान किया जाता है वह भी धर्म की प्रभावना है। ज्ञानियों ने पूजन के चार भेद कहे हैं - 1 नित्य पूजा 2. आष्टान्हिकी पूजा 3. कल्पद्रुम पूजा और 4 चतुर्मुख पूजा तथा नित्य पूजन और नैमित्तिक पूजन। इस प्रकार अर्हन्त पूजन के दो भेद कहे गये हैं। इस प्रकार भक्त जनों के द्वारा जो यथाशक्ति देवपूजा की जाती है उसके द्वारा जिनधर्म की भारी प्रभावना होती है तथा जो वक्तृत्व कला, काव्य कुशलता के द्वारा विद्वत्जन शासन का प्रकाशन करते हैं वह विद्या जनित प्रभावना कही जाती है। इसी प्रकार विद्याधरों के द्वारा विद्याओं की सामर्थ्य से और ज्योतिष निमित्त आदि के द्वारा जो प्रभावना की जाती है वह भी विद्या प्रभावना है इसी प्रकार जो अपने विभव और शक्ति के अनुसार धर्म की प्रभावना करता है उस सम्यग्दृष्टि के गुणों की इन्द्र भी स्वर्ग में प्रशंसा करते हैं1।

सम्यक्त्व के आठ अङ्ग सम्बन्धी प्रसिद्ध कथायें - आचार्य समन्तभद्र ने निःशङ्कित अङ्ग में अंजन चोर, निःकांक्षित अंग में अनन्तमती, निर्विचिकित्सा अंग में उद्दायन राजा, अमूढ़दृष्टि अंग में रेवती रानी, उपगूहन अंग में जिनेन्द्र देव भक्त नाम का सेठ, स्थितीकरण अंग में वारिषेण, वात्सल्य अंग में विष्णु कुमार और प्रभावना अंग में वज्रकुमार मुनि की प्रसिद्धि के उदाहरण नामोल्लेख पूर्वक दिये हैं[59]। वसुनन्दि श्रावकाचार[60] तथा धर्म पीयूषवर्ष श्रावकाचार[61] उमास्वामि श्रावकाचार, व्रतोद्योतन श्रावकाचार[62], श्रावकाचार सारोद्धार[63] पुरुषार्थानुशासन में भी उपर्युक्त कथाओं का उल्लेख है। ये कथायें कहीं संक्षेप में, कहीं विस्तार से दी गई हैं। कहीं केवल प्रसिद्ध पुरुषों के नाम ही दिये गये हैं। इन कथाओं को आचार्य सोमदेव ने भी अपने उपासकाध्ययन में दिया है।

सम्यक्त्व के आठ अङ्गों की महत्ता - सम्यक्त्व के आठ अंगों का अत्यधिक महत्व है। जैसे-एक दो अक्षर रहित अशुद्ध मंत्र विष की वेदना को निश्चित रूप से नष्ट नहीं करता, वैसे की अङ्ग रहित सम्यग्दर्शन भी संसार की संतति को छेदने में समर्थ नहीं है[65]। भट्टारक श्री सकलकीर्ति ने कहा है कि जिस प्रकार अपनी सेना के साथ होने से राजा अपने शत्रुओं को नष्ट कर देता है उसी प्रकार इन आठ अंगों से परिपूर्ण और सारभूत सम्यग्दर्शन समस्त कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर देता है। इस सम्यग्दर्शन के एक-एक अंग को पालन करके ही भव्य जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है। फिर जो समस्त अंगों का पालन करते हैं वे क्यों नहीं मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् वे अवश्य मोक्ष प्राप्त करते हैं। यह सम्यग्दर्शन शुभ है, अनेक कर्म समूह को नष्ट करने वाला है और मोक्ष का साधन है। यह अनुपम गुणों की निधि है स्वर्ग सुख की जड़ है। तीनों लोकों के स्वामी तीर्थङ्कर भी इसकी सेवा करते हैं। यह कर्मरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुठार के समान है। संसाररूपी महासागर से पार होने के लिए जहाज के समान है, पुण्य रूप है, तीर्थ रूप है और अत्यन्त पवित्र है[66]। व्रतोद्योतन श्रावकाचार में कहा गया है कि जिसके चित्त में अष्टांग सम्यग्दर्शन विद्यमान नहीं है उसका चारित्र से युक्त उत्पन्न हुआ ज्ञान निरर्थक है। चारित्र पाँच महाव्रतों से संयुक्त हो, तीन गुप्तियों से सुगुप्त भी हो और पाँच समितियों से सम्पन्न भी हो, फिर भी यदि वह सम्यग्दर्शन रहित है तो वह निरर्थक होता है। जैसे-पृथ्वी पर राजा के बिना उसका आदेश शोभा नहीं पाता है उसी प्रकार जिनशासन में श्रद्धान से रहित व्रती पुरुष भी शोभा नहीं पाता है[67]।

फुटनोट

1. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 21
2 समयसार : गाथा 228
3. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : श्लोक 11
4. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय : 24
5. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 4/33-35
6. धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार 1/17-18
7. पन्चाध्यायी 2/421-485
8. वही 2/486 से 492
9. पन्चाध्यायी 2/493-502
10. लाटी संहिता 3/28-29
11. वही 3/30
12. लाटी संहिता 3/40-42
13 वही 3/48-49
14. वही 3/54-55
15 वही 3/59
16. वही 3/62-63
17. वही 3/67
18. समयसार : गाथा 230
19. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : श्लोक 18
20. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय 24
21. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा 416
22. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 4/37
23. लाटी संहिता 3/70-97
24. समयसार : गाथा - 231·
25. रत्नकरण्ड श्रावकाचार - श्लोक 13
26. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय : 25
27. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 39-40
28. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा : 417
29. लाटी संहिता 3/100-108
30. श्रावकाचार सारोद्धार 300-314
31. समयसार : गाथा 232
32. कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेप्यसंम्मति।
    असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥ 14
33. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय : 26
34. लाटी संहिता 111-130
35. वही 3/142-143
36. प्रवचन सार : 21
37. समयसार : 233
38. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : 15
39. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा : 419
40. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा : 419
41. पञ्चाध्यायी 2/775-785
42. समयसार : 234
43. रत्नकरण्ड श्रावकाचार - 16
44 स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा : 420
45. समयसार : 235
46. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : 17
47. सोमदेव उपासकाध्ययन 212-217
48. पञ्चाध्यायी 2/803-808
49. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 4/53
50. पुरुषार्थनुशासन 3/96-104
51. समयसार - 236
52. वही 236 (अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका)
53. रत्नकरण्ड श्रावकाचार - 218
54. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा : 423
    (शुभचन्द्रविरचित टीका)
55. पञ्चाध्यायी 2/809-816
56. पुरुषार्थसेद्धयुपाय 30
57. सोमदेव उपासकाध्ययन 15/203-206
58. पुरुषार्थनुशासन 3/107-128
59. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 19-20
60. वसुनन्दि श्रावकाचार 52-56
61 धर्मपीयूष वर्ष श्रावकाचार 1/27-28
62. व्रतोद्योतन श्रावकाचार 324-331
63. श्रावकाचार सारोद्धार 1/179-734
64. पुरुषार्थानुशासन, तृतीय अवसर
65. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 21
66. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार : 4/57-61
67. व्रतोद्योतन श्रावकाचार : 335-337

❑❑❑

सम्यग्ज्ञान

सम्यग्ज्ञान का लक्षण - सम्यग्दर्शन धारण कर सम्यग्ज्ञान का सेवन करना चाहिए। यह सम्यग्ज्ञान अनेक धर्मात्मक स्व-पर पदार्थों का ज्ञान कराने में सूर्य के समान है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान यद्यपि दोनों एक साथ होते हैं तो भी लक्षण की अपेक्षा दोनों में भेद हैं। उन दोनों के लक्षण क्रमशः श्रद्धा करना और जानना है। सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। सम्यग्दर्शन निमित्त कारण है और सम्यग्ज्ञान नैमित्तिक कार्य है। इस प्रकार उन दोनों में कारण-कार्य भाव से अन्तर है। जिस प्रकार दीपक और प्रकाश दोनों युगपत् होते हैं तथापि दीपक हो तो प्रकाश होता है इसलिए दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है। उसी प्रकार ज्ञान श्रद्धान भी है[1]। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनता रहित तथा अधिकता रहित, विपरीतता रहित, जैसा का तैसा सन्देहरहित जानता है उसे आगम के ज्ञाता सम्यग्ज्ञान कहते हैं[2]। आचार्य सोमदेव ने कहा है कि यह सम्यग्ज्ञान मनुष्यों का तीसरा नेत्र है। जैसे जन्म से अच्छे मनुष्य को लाठी ऊंची-नीची जगह को बतला कर उसे चलने और रुकने में मदद देती है, वैसे ही सम्यग्ज्ञान हित और अहित का विवेचन करके धर्मात्मा पुरुषों को हित कारक कार्यों में लगाता है और अहित करने वाले कामों से रोकता है। मतिज्ञान तो विषयभूत पदार्थो को ही जानता है किन्तु शास्त्र इन्द्रयों के विषयभूत और अतीन्द्रिय दोनों प्रकार के पदार्थों का ज्ञान कराता है। अतः यदि ज्ञाता का मन ईर्ष्या द्वेष आदि दुर्भावों से रहित है तो उसे तत्व का ज्ञान होना दुर्लभ नहीं है। यदि तत्व के जान लेने पर भी मनुष्य की बुद्धि अन्धकार में रहती है तो जैसे उल्लू के लिए प्रकाश व्यर्थ होता है वैसे ही उस मनुष्य का ज्ञान भी व्यर्थ है। स्पष्ट वस्तु में भी बुद्धि का विपरीत होना ज्ञाता के ही दोष को बतलाता है। जैसे चन्द्रमा के विषय में कचि, कामलादि रोग से ग्रस्त नेत्र वाले मनुष्य को विपरीत ज्ञान होता है - एक के दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं यह ज्ञाता का ही दोष है चन्द्रमा का नहीं[3]।

गुणभूषण श्रावकाचार में कहा गया है जो ज्ञान सन्देह, विपर्यास और अनध्यवसाय से रहित स्व - पर का निश्चय कराने वाला होता है वह सम्यग्ज्ञान कहा जाता है[4]। सम्यग्ज्ञान के बिना तत्त्वों का निश्चय संभव नहीं। तत्त्वों के निश्चय के बिना कर्मों का विनाश नहीं हो सकता, कर्मों के विनाश के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए मनुष्य को सम्यग्ज्ञान की आराधना करना चाहिए। जैसे प्रकाश के बिना मनुष्य अभीष्ट स्थान को जानने का पात्र नहीं है उसी प्रकार ज्ञान के बिना सद्गति का भाजक नहीं हो सकता। जो पुरुष निर्मल सम्यग्ज्ञान गुण से विभूषित है उसको तत्त्वों की प्राप्ति होना इस लोक में दूर नहीं है और न कर्मो का नाश होना दूर है, प्रत्युत वह इसी भव में कर्म नाश करने के लिए समर्थ है। सम्यग्ज्ञानी पुरुष के लिए मोक्ष लक्ष्मी भी अप्राप्य नहीं है अर्थात् वह शीघ्र ही निश्चय से प्राप्त होती है। सम्यग्ज्ञान से युक्त कनिष्ठ भी पुरुष वरिष्ठ है और गुणों से आभूषित है किन्तु सम्यग्ज्ञान से रहित श्रेष्ठ भी पुरुष कनिष्ठ है और उत्तम गुणों से रहित है[5]।

धर्मपीयूषवर्ष श्रावकाचार में कहा गया है कि जो पूर्वापर विरोध से रहित और निर्मल है वही ज्ञान संसार में भव्य जीवों का परम नेत्र है जिसमें सर्व जीवों को सुख देने वाली उत्तम दया की स्थापना की गई है और जो समस्त सम्पदाओं का विधायक है। ज्ञानियों ने उसे ही सद्ज्ञान कहा है जिसमें जीवों को सैकड़ों दुःखों को देने वाली हिंसा का विधान है उसे सन्तों ने महापाप

का कारण कुज्ञान कहा है जिसके द्वारा जीवों से हिंसादिक पाप सदा छुड़ाये जाते हैं और जो सब जीवों को सुख देने वाला है वह सम्यग्ज्ञान है जिसके द्वारा जड़बुद्धि पुरुष भी लोक-अलोक को और हित अहित को निःसन्देह जानता है वही जिनोबल उत्तम सत्य ज्ञान है[6]। श्रावकाचार सारोद्धार में कहा गया है कि जो जीवों को त्रिकाल और त्रिजगत में तत्त्वों के हेय और उपादेय का प्रकाश करता है वह सम्यग्ज्ञान कहा जाता है[7]। भट्टारक ज्ञानभूषण ने कहा है कि मोह के सर्वथा नाश हो जाने पर बाह्य, आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित पुरुष का जो आत्मिक शुद्ध चिद्रूप का अनुभव करना है वही वास्तविक रूप से परम ज्ञान है। भगवान् जिनेन्द्र ने व्यवहार नय से आठ प्रकार के आचारों से युक्त ज्ञान बतलाया है और उससे समस्त पदार्थों का भली प्रकार प्रतिभास होता है परन्तु जिससे स्व स्वरुप का ज्ञान हो, जो शुद्ध चिद्रूप को जाने वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है। यह निश्चय सम्यग्ज्ञान समस्त कर्मों का नाशक है और मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति में परम कारण है इससे मोक्ष सुख अवश्य प्राप्त होता है[8]।

सम्यग्ज्ञान के भेद - सम्यग्ज्ञान चार प्रकार का होता है -

1. प्रथमानुयोग2. करणानुयोग

3. चरणानुयोग4 द्रव्यानुयोग

1. प्रथमानुयोग - जिसमें त्रेसठ शलाका पुरुषों में से किसी एक उत्तम पुरुष का पुण्य चरित होता है। उसे प्रथमानुयोग कहते हैं[9]।

2. करणानुयोग - जिसमें लोक और अलोक की स्थिति का, काल के परिवर्तन का तथा चारों गतियों के भेद का लक्षण विद्यमान है, उसे करणानुयोग कहते हैं[10]।

3. चरणानुयोग - जिसमें मुनियों और श्रावकों के लोकोत्तम चरित्र का वर्णन है और जिसमें चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि एवं उसके उत्तम सुख रूप महान् फल भव्यों के द्वारा निरन्तर विस्तार से अच्छी तरह जाने जाते हैं वह चरणानुयोग है[11]।

4. द्रव्यानुयोग - जिसमें जीव अजीव आदि 7 तत्त्वों का निश्चय किया गया है। जिसमें पुण्य और पाप इन दोनों के भेदों के सुख-दुखादि का वर्णन विस्तार से विद्यामान है वह द्रव्यानुयोग नाम का जिनागम है[12]।

सम्यग्ज्ञान के आठ अङ्ग - सम्यग्ज्ञान के आठ अङ्ग होते हैं जो निम्न प्रकार हैं -

1. ग्रन्थाकार 2. अर्थाचार

3. उभयाचार 4. कालाचार

5. विनयाचार 6 उपधानाचार

7 बहुमानाचार 8 अनिन्हवाचार[13]।

1. ग्रन्थाचार - व्याकरण के अनुसार अक्षर, पद, मात्रादिक का शुद्धतापूर्वक पठन, पाठन करने को शब्दाचार या ग्रन्थाचार कहते हैं।

2. अर्थाचार - निश्चय करने को अर्थाचार कहते हैं।

3. उभयाचार - शब्द और अर्थ दोनों के शुद्ध पठन-पाठन और धारण करने को उभयाचार कहते हैं।

4. कालाचार - उत्तम योग्य काल में पठन-पाठन कर ज्ञान के विचार करने को कालाचार कहते हैं।

5. विनयाचार – शुद्ध जल से हाथ, पांव धोकर शुद्ध निर्मल स्थान में पद्मासन बैठकर नमस्कार पूर्वक शास्त्रादिक के पढ़ने को विनयाचार कहते हैं ।

6. उपधानाचार – धारणा सहित ज्ञान की आराधना करने को उपधानाचार कहते हैं।

7. बहुमानाचार – ज्ञान का, पुस्तक का और पढ़ाने वाले का पूर्ण आदर करना बहुमानाचार है ।

8. अनिन्हवाचार – जिस गुरु से या जिस शास्त्र से ज्ञान प्राप्त हो उसके न छिपाने को अनिन्हवाचार कहते हैं ।

इन आठ अङ्गों के सहित ही सम्यग्ज्ञान अंगीकार करना योग्य है[14] ।

सम्यग्ज्ञान की महिमा

सम्यग्ज्ञान होने पर जीव अपने को स्वभाव का कर्त्ता और कर्म का अकर्त्ता जानने लगता है -

आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है – इस लोक में मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा तो एक कर्त्ता हूँ और यह क्रोधादि भाव मेरे कर्म हैं । ऐसी अज्ञानियों के जो कर्त्ता कर्म की प्रवृत्ति है उसे सब ओर से शमन करती हुई ज्ञान ज्योति स्फुरायमान होती है, वह ज्ञान ज्योति परम उदात्त है अर्थात् किसी के आधीन नहीं है अत्यन्त धीर है अर्थात् किसी भी प्रकार से आकुलता रूप नहीं है और पर की सहायता के बिना भिन्न-भिन्न द्रव्यों मे प्रकाशित करने का उसका स्वभाव है इसीलिए वह समस्त लोकालोक को प्रत्यक्ष जानती है[15] ।

सम्यग्ज्ञान मे आत्म स्वरूप की पहचान होती है – सम्यग्ज्ञानी विचार करता है कि जैसे कोई तमाशगीर चौराहे पर ढोल बजावे और अनेक स्वाँग बनाकर ठग विद्या से लोगों को भ्रम में डाल दे उसी प्रकार मैं अनादिकाल से मिथ्यात्व के झकोरों से भ्रम में भूला रहा और अनेक शरीरों को अपनाया अब ज्ञान ज्योति का उदय हुआ, जिससे मिथ्यादृष्टि हट गई । सब स्व पर वस्तुओं की पहचान हुई और उस ज्ञान कला के प्रकट होते ही ऐसी अवस्था प्राप्त हुई कि हमने असली आत्म ज्योति पहचान ली[16] ।

सम्यग्ज्ञान निरास्रवी रहता है – भावास्रवों के अभाव को प्राप्त और द्रव्यास्रवों से स्वभाव से भिन्न यह ज्ञानी जो कि सदा एक ज्ञानमय भाव वाला है, निरास्रव ही है, मात्र एक ज्ञायक ही है[17] । आत्मा जब ज्ञानी होता है तब स्वयं अपने समस्त बुद्धिपूर्वक राग को निरन्तर छोड़ता हुआ और जो अबुद्धिपूर्वक राग है उसे भी जीतने के लिए बारम्बार स्व शक्ति को स्पर्श करता हुआ समस्त पर परिणति को उखाड़ता हुआ ज्ञान के पूर्ण भाव रूप होता हुआ वास्तव में सदा निरास्रव है[18]। सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र निःसार है । आचार्य अमृत चन्द्र ने कहा है कि मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बंध नहीं होता, ऐसा मानकर जिनका मुख गर्व से ऊंचा और पुलकित हो रहा है । ऐसे रागी जीव भले ही महाव्रत आदि का आचरण करे तथा समितियों की उत्कृष्टता का आलंबन करें तथापि वे पापी ही हैं क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से सम्यक्त्व से रहित हैं[19] ।

ज्ञानी का चिंतन – ज्ञानी चिंतन करता है कि हमें वह उत्कृष्ट तेज प्राप्त हो, जो कि सदाकाल चैतन्य के परिणमन से परिपूर्ण है । जैसे - नमक की डली एक छार रस की लीला का आलम्बन करती है उसी प्रकार जो तेज एक ज्ञान रस स्वरुप का आलंबन करता है, जो तेज अखंडित है अर्थात्

जो ज्ञेयों के आकार रूप खण्डित नहीं होता, जो अनाकुल है अर्थात् जिसमें कर्मों के निमित्त से होने वाले रागादि से उत्पन्न आकुलता नहीं है, जो अविनाशी रूप से अन्तरंग में और बाहर में प्रगट, दैदीप्यमान है अर्थात् जानने में आता है, जो स्वभाव से हुआ है, जिसे किसी ने रचा नहीं है और सदा जिसका विलास उदयरूप है, जो एक रूप प्रतिभासमान है[20] ।

ज्ञानी का लक्षण - जो धीरज के धरने वाले हैं, समुद्र तिरने वाले हैं, सब प्रकार के भय नष्ट करने वाले हैं, महायोद्धा के समान धर्म में उत्साहित रहते हैं, विषय वासनाओं को जलाते हैं, आत्महित का चिंतन करते हैं, सुख शान्ति की चाल चलते हैं, सब गुणों की ज्योति से जगमगाते हैं । आत्म स्वरूप में रूचि रखते हैं । सब नयों का रहस्य जानते हैं, क्षमावान् हैं, सब के छोटे भाई बनकर रहते हैं व उनकी खरी-खोटी बातें सहते हैं, हृदय की कुटिलता छोड़कर सरल चित्त हुए हैं, दुख सन्ताप की राह नहीं चलते, आत्म स्वरूप में विश्राम किया करते हैं, ऐसे महानुभाव ज्ञानी कहलाते हैं[21] ।

ज्ञानी की उन्नति का क्रम - ज्ञानी जन अविरलपने से, कर्म से और कर्मफल से विरति को निरन्तर भाकर समस्त अज्ञान चेतना के नाश को स्पष्टतया बचाकर निजरस से प्राप्त अपने स्वभाव को पूर्ण करके अपनी ज्ञान चेतना को आनन्दपूर्वक नचाते हुए सदाकाल प्रशम रस को पीते हैं[22]।

भेद विज्ञान - इस लोक में आत्मा किसी प्रकार भी अनात्मा के साथ कदापि तादात्म्य वृत्ति को प्राप्त नहीं होता क्योंकि आत्मा एक है वह अन्य द्रव्य के साथ एकता रूप नहीं होता है[23] । जिनके अन्तरंग में सम्यग्ज्ञान का उदय हुआ है, जिनकी आत्म ज्योति जाग्रत हो चुकी है और बुद्धि निर्मल रहती है, जिनकी शरीर आदि से आत्म बुद्धि हट गई है, जो आत्मध्यान में निपुण हैं, जो जड़ और चेतन के गुणों की परीक्षा करके उन्हें जुदा-जुदा मानते हैं, वे मोक्षमार्ग को अच्छी तरह समझकर रूचिपूर्वक आत्म अनुभव करते हैं[24] । जो राग की उत्पत्ति में पर द्रव्य का निमित्तत्व (कारणत्व मानते हैं, अपना कारणत्व नहीं मानते, वे जिनकी बुद्धि शुद्ध ज्ञान से रहित अन्ध है, ऐसे मोह नदी को पार नहीं कर सकते[25] ।) पूर्ण एक, अच्युत और ज्ञान जिसकी महिमा है, ऐसा यह ज्ञायक आत्मा ज्ञेय पदार्थों से किंचित्मात्र भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता, तब फिर जिसकी बुद्धि ऐसी वस्तु स्थिति के ज्ञान से रहित है ऐसे यह अज्ञानी जीव अपनी सहज उदासीनता को क्यों छोड़ते हैं तथा रागद्वेष मय क्यों होते हैं[36] ?

भेद विज्ञान का परिणाम - जिस प्रकार आरा काष्ठ के दो खंड कर देता है अथवा जिस प्रकार राजहंस क्षीर, नीर का पृथक्करण कर देता है उसी प्रकार भेद विज्ञान अपनी भेदक शक्ति से जीव और पुद्‌गल को जुदा-जुदा करता है पश्चात् यह भेद विज्ञान उन्नति करते-करते अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान और परमावधिज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है और इस रीति से वृद्धि करके पूर्ण स्वरूप का प्रकाश अर्थात् केवलज्ञान स्वरुप हो जाता है जिसमें लोक, अलोक के सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं[27] ।

भेद विज्ञान संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण है - साक्षात् संवर शुद्ध आत्मतत्व की उपलब्धि से होता है । शुद्ध आत्म तत्त्व की उपलब्धि भेद विज्ञान से ही होती है, इसलिए भेद विज्ञान अत्यन्त मानने योग्य है । इसको निरन्तर मानना चाहिए । जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे भेद विज्ञान से सिद्ध हुए हैं और जो कोई बंधे हैं वे उसी के अभाव में बंधे हैं[28]। लोक में भेद विज्ञान निर्दोष है, संवर का कारण है, संवर निर्जरा का कारण है और निर्जरा मोक्ष का कारण है । इससे उन्नति के क्रम में भेद विज्ञान ही परम्परा से मोक्ष का कारण है । यद्यपि वह हेय है तो भी उपादेय है[29] ।

ज्ञानी जीव सदा अबंध है - आचार्य अमृत चन्द्रसूरि ने कहा है कि ज्ञानी निज रस से ही सर्व राग रस के त्याग रूप स्वभाव वाला है । अत: वह कर्मों के बीच पड़ा हुआ भी समस्त कर्मों से लिप्त नहीं होता[30] । आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि ज्ञानी जो कि सर्वद्रव्यों के प्रति राग को छोड़ने वाला है । वह कर्मों के मध्य में रहा हुआ हो तो भी वर्ग रूपी रज से लिप्त नहीं होता । जैसे सोना कीचड़ के बीच में पड़ा हुआ हो तो भी लिप्त नहीं होता और अज्ञानी जो कि सर्व द्रव्यों के प्रति रागी है वह कर्मों के मध्य रहा हुआ कर्म रज से लिप्त होता है । जैसे - लोहा कीचड़ के बीच रहा हुआ लिप्त हो जाता है अर्थात् उसे जंग लग जाती है[31] ।

ज्ञान के भेद - सामान्य से ज्ञान एक है प्रत्यक्ष, परोक्ष के भेद से वह दो प्रकार का है तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान के भेद से पाँच प्रकार का है । केवलज्ञान के सिवा अन्य चार ज्ञानों में से प्रत्येक के अनेक भेद हैं[32] ।

प्रत्यक्षज्ञान - जो ज्ञान इन्द्रिय वगैरह की सहायता के बिना केवल आत्मा से ही होता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं । ऐसे ज्ञान तीन है - अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान। अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान एक देश प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सर्वदेश प्रत्यक्ष है ।

परोक्षज्ञान - जो ज्ञान इन्द्रिय, मन आदि की सहायता से होता है उसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं ऐसे ज्ञान दो हैं । मति और श्रुत ।

मतिज्ञान - इन्द्रिय और मन की सहायता से यथायोग्य पदार्थ के जानने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं । भट्ट अकलंकदेव ने मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम दिया है, जो यह बतलाता है कि मतिज्ञान लोक व्यवहार की दृष्टि से प्रत्यक्ष है, किन्तु वास्तव में प्रत्यक्ष नहीं है । इसी से परीक्षा-मुख में प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये हैं - सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और मुख्य प्रत्यक्ष । इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होने वाले एक देश स्पष्ट ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है[33]। इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला मतिज्ञान अपने योग्य पुद्गल द्रव्य को जानता है और मानसज्ञान, श्रुतज्ञान के विषय को भी जानता है तथा इन्द्रियों के विषयों को भी जानता है । मतिज्ञान के कुल 336 भेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं -मतिज्ञान के मूल भेद चार हैं - अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा । इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होते ही जो सामान्य ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं। दर्शन के अनन्तर ही जो पदार्थ का ग्रहण होता है वह अवग्रह है । जैसे - चक्षु से सफेद रूप को जानना अवग्रह ज्ञान है । अवग्रह के जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से जानने की इच्छा का होना ईहा है । जैसे - सफेद रूप वाली वस्तु क्या है ? यह तो बगुलों की पंक्ति मालुम होती है यह ईहा है । विशेष चिन्हों के द्वारा यथार्थ वस्तु का निर्णय कर लेना अवाय है । जैसे - पंखों के हिलने से तथा ऊपर नीचे होने से यह निर्णय करना कि यह बगुलों की पक्तियां ही हैं यह अवाय है । अवाय से निर्णीत वस्तु को कालान्तर में नहीं भूलना धारणा है । बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव तथा अल्प, अल्पविध, अक्षिप्त, नि:सृत, उक्त, अध्रुव, इन बारह प्रकार के पदार्थों के अवग्रह आदि चारों ज्ञान होते हैं । बहुत वस्तुओं के जानने को बहुज्ञान कहते हैं बहुत तरह की वस्तुओं के जानने को बहुविध ज्ञान कहते हैं । जैसे - सेना व वन को एक समूह रूप में जानना बहु ज्ञान है और हाथी, घोड़े आदि का आम, महुआ आदि भेदों का जानना बहुविध ज्ञान है । वस्तु के एक भाग को देखकर पूरी वस्तु को जान लेना अनिसृत ज्ञान है । जैसे - जल में डूबे हुए हाथी की सूंड को देखकर हाथी को जान लेना । शीघ्रता से जाती हुई वस्तु को जानना क्षिप्रज्ञान है । जैसे-

तेज चलती हुई रेलगाड़ी को या उसमें बैठकर बाहर की वस्तुओं को जानना । बिना कहे अभिप्राय से ही जान लेना अनुक्त ज्ञान है । बहुत काल तक जैसा का तैसा निश्चल ज्ञान होना ध्रुव ज्ञान है। अल्प अथवा एक वस्तु को जानना अल्पज्ञान है । एक प्रकार की वस्तुओं को जानना एकविध ज्ञान है । धीरे-धीरे चलती हुई वस्तु को जानना अक्षिप्रज्ञान है । सामने पूरी विद्यमान वस्तु को जानना निसृत ज्ञान है । कहने पर जानना उक्त ज्ञान है । चंचल बिजली वगैरह को जानना अध्रुव ज्ञान है। इस तरह बारह प्रकार का अवग्रह, बारह प्रकार का ईहा, बारह प्रकार का अवाय और बारह प्रकार का धारणा ज्ञान होता है । ये सब मिलकर 48 भेद होते हैं तथा इनमें से प्रत्येक ज्ञान पांच इन्द्रियों और मन से होता है । अत: 48 × 6 = 288 भेद मतिज्ञान के होते हैं तथा अस्पष्ट शब्द वगैरह का केवल अवग्रह ही होता है, ईहा आदि नहीं होते, उसे व्यञ्जनावग्रह कहते हैं और व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से ही होता है । अत: बहु आदि विषयों की अपेक्षा व्यञ्जनावग्रह के 48 भेद होते हैं । 288 भेदों में इन 48 भेदों के मिलाने से मति ज्ञान के 336 भेद होते हैं[34] ।

पाँचों इन्द्रिय ज्ञानों में से एक समय एक ही ज्ञान का उपयोग होता है तथा मनोज्ञान का उपयोग होने पर इन्द्रिय ज्ञान नहीं होता[35] । तात्पर्य यह है कि स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और श्रोत्र इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञानों में से एक समय में एक ज्ञान ही अपने विषय को ग्रहण करता है । इसी तरह जिस समय मन से उत्पन्न हुआ ज्ञान अपने विषय को जानता है उस समय इन्द्रिय ज्ञान नहीं होता । सारांश यह है कि इन्द्रिय ज्ञान का उपयोग क्रम से ही होता है । एक समय में एक से अधिक ज्ञान अपने विषय को ग्रहण नहीं कर सकते, अर्थात् उपयोग रूप ज्ञान एक समय में एक ही होता है ।

शङ्का - आपने जो यह कहा है कि एक समय में एक ही इन्द्रिय ज्ञान का उपयोग होता है यह ठीक नहीं है क्योंकि हाथ में स्थित कचौरी खाने पर घ्राण इन्द्रिय उसकी गन्ध को सूंघती है, श्रोत्रेन्द्रिय कचौरी के चबाने के शब्द को ग्रहण करती है, चक्षु कचौरी को देखती है और जिह्वा उसका स्वाद लेती है, इस तरह पाँचों इन्द्रिय ज्ञान एक साथ होते हैं[36]।

समाधान - जीव के एक समय में एक ही ज्ञान का उपयोग होता है किन्तु लब्धि रूप से एक समय में अनेक ज्ञान कहे हैं[37] । तात्पर्य यह है कि प्रत्येक क्षायोपशमिक ज्ञान की दो अवस्थायें होती हैं - एक लब्धिरूप और एक उपयोग रूप । अर्थ को ग्रहण करने की शक्ति का नाम लब्धि है और अर्थ को ग्रहण करने का नाम उपयोग है । लब्धि रूप में एक साथ अनेक ज्ञान रह सकते हैं किन्तु उपयोग रूप में एक समय में एक ही ज्ञान होता है । जैसे - पाँचों इन्द्रियजन्य ज्ञान तथा मनोजन्य ज्ञान लब्धि रूप में हमारे में सदा रहते हैं, किन्तु हमारा उपयोग जिस समय जिस वस्तु की और होता है उस समय केवल उसी का ज्ञान हमें होता है । कचौरी खाते समय भी जिस क्षण में हमें उसकी गन्ध का ज्ञान नहीं होता किन्तु उपयोग की चंचलता के कारण कचौरी के गन्ध, रस वगैरह का ज्ञान इतनी द्रुतगति से होता है कि हमें क्षणभेद का भान नहीं होता और हम यह समझ लेते हैं कि पांचों ज्ञान एक साथ हो रहे हैं किन्तु यथार्थ में पांचों ज्ञान क्रम से ही होते हैं। अत: उपयोग रूप ज्ञान एक समय में एक ही होता है[38] ।

प्रश्न - चूंकि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों सहचारी हैं और एक व्यक्ति में युगपत् पाये जाते हैं अत: दोनों में कोई विशेषता न होने से दोनों को एक ही कहना चाहिए ।

उत्तर - साहचर्य तथा एक व्यक्ति में दोनों के युगपत् रहने से ही यह सिद्ध होता है कि दोनों ज्ञान जुदे-जुदे हैं, क्योंकि दोनों बातें भिन्न सत्ता वाले पदार्थों में ही होती हैं मतिज्ञान पूर्वक श्रुत होता है, इसलिए दोनों की कारण-कार्यरूप से विशेषता सिद्ध है ही।

कारण के सदृश ही कार्य होता है, श्रुत मतिपूर्वक होता है अत: उसे भी मतिज्ञान ही कहना चाहिए। सम्यग्दर्शन होने पर कुमति और कुश्रुत को युगपत् ज्ञान व्यपदेश प्राप्त होता है अत: दोनों को एक ही कहना चाहिए, यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि जिन कारण सदृशत्व और युगपद्वृत्ति हेतुओं से आप एकत्व सिद्ध करना चाहते हो उन्हीं से उनमें भिन्नता सिद्ध होती है सादृश्य और युगपद् वृत्ति पृथक् सिद्ध पदार्थों में ही होते हैं यद्यपि मति और श्रुत का विषय समान है परन्तु जानने के प्रकार जुदा-जुदा है। विषय एक होने से ज्ञानों में एकता नहीं हो सकती, अन्यथा एक घट विषयक दर्शन और स्पर्शन में भी एकत्व हो जायेगा।

प्रश्न - मति और श्रुत दोनों इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होते हैं। मति की तरह श्रुत भी वक्ता की जिह्वा और श्रोता के कान और मन से उत्पन्न होता है। अत: एक कारण जन्य होने से दोनों एक हैं।

उत्तर - एक कारणता असिद्ध है। वक्ता की जीभ शब्दोच्चारण में निमित्त होती है न कि ज्ञान में। श्रोता का कान भी शब्द प्रत्यक्ष रूप मतिज्ञान में निमित्त होता है न कि अर्थज्ञान में, अत: श्रुत में इन्द्रिय और मनोनिमित्तता असिद्ध है। शब्द सुनने के बाद जो मन से ही अर्थ ज्ञान होता है वह श्रुत है अत: श्रुत अनिन्द्रिय निमित्तक है। यद्यपि ईहादि ज्ञान भी होते हैं किन्तु वे मात्र अवग्रह के द्वारा गृहीत ही पदार्थ को जानते हैं जबकि श्रुतज्ञान अपूर्व पदार्थ को भी विषय करता है। एक घड़े को इन्द्रिय और मन से जानकर सज्जातीय विभिन्न देशकाल वर्ती घटों के सम्बन्ध जाति आदि का विस्तार भी श्रुतज्ञान से होता है। श्रुतज्ञान मति के द्वारा एक जीव को जानकर उसके सम्बन्ध में सत् संख्या, क्षेत्र आदि अनुयोगों के द्वारा नानाविध विशेषों को जानता है। सुनकर निश्चय करना श्रुत है, यह तो मतिज्ञान का लक्षण है क्योंकि वह भी शब्द को सुनकर यह गो शब्द है, ऐसा निश्चय करता ही है। किन्तु श्रुतज्ञान मन और इन्द्रिय के व्यापार के बिना ही नय आदि योजना द्वारा विभिन्न विशेषों के साथ जानता है[39]।

मतिज्ञान के नामान्तर - मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध आदि मति ज्ञान के नामान्तर है[40]।

मति - इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे मति कहते हैं।

स्मृति - पहले जानी हुई वस्तु के स्मरण को स्मृति कहते हैं।

संज्ञा - वर्तमान में किसी वस्तु को देखकर यह वही है इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोड़रूप ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। जैसे - यह वही पुरुष है जिसको पहले देखा था।

चिन्ता - व्याप्ति के ज्ञान को चिन्ता कहते हैं। जैसे - जहां धूम होता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है।

अभिनिबोध - साधन से साध्य के ज्ञान को अभिनिबोध कहते हैं। इसका दूसरा नाम अनुमान भी है। जैसे - कहीं धुआं उठता देखकर यह जान लेना कि यहाँ अग्नि है।

ये सब मतिज्ञान के क्षयोपशम से होते हैं, इसलिए निमित्त सामान्य की अपेक्षा सबको एक कहा है, परन्तु इन सब में स्वरूप भेद अवश्य है[41]।

श्रुत ज्ञान - व्यक्ति के निर्दोष और पूर्ण ज्ञानी होने से उसके द्वारा प्रतिपादित वचनों में किसी भी प्रकार की त्रुटि या भूल नहीं हो सकती । अत: प्रत्यक्ष के समान आगम अथवा श्रुतज्ञान को भी प्रमाण माना गया है । श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्य ने कहा है -

सुद केवलं च णाणं, दोण्णवि सहिसाणि होंति बोहादो ।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं ॥

समस्त द्रव्य पर्यायों को जानने की अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही समान हैं । अन्तर इतना ही है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष रूप से जानता है और श्रुतज्ञान परोक्ष रूप से । अतएव श्रुतज्ञान की प्रमाणता असंदिग्ध है ।

स्वामी समन्तभद्र ने भी केवलज्ञान और स्याद्वाद मय श्रुतज्ञान को समस्त पदार्थों का समान रूप से प्रकाशक माना है । दोनों में केवल प्रत्यक्ष और परोक्ष का ही अन्तर है :

स्याद्वाद केवलज्ञाने, सर्वतत्त्व प्रकाशने ।
भेद: साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥

तथ्य यह है कि केवलज्ञान से स्याद्वाद रूप आगम की उत्पत्ति होती है और स्याद्वाद रूप आगम के अभ्यास से केवल ज्ञान की । श्रुतज्ञान का इतना बड़ा महत्त्व है कि द्वादशाङ्ग श्रुत का पाठी श्रुतकेवली कहलाता है ।

श्रुतज्ञान का स्वरूप - चक्षु आदि इन्द्रियों मे उत्पन्न होने वाले मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है । राजवार्तिक में बताया है ।'' श्रुतवरण क्षयोपशमाद्यन्तरङ्गहिरङ्गहेतु सन्निधाने सति श्रूयते स्मेति श्रुतं कर्तरि श्रुत परिणत आत्मैव श्रणोतीति श्रुतम् । भेद विवक्षायां श्रूयतेऽनेनेति श्रुतम्, श्रवणमात्रं वा ।'' अर्थात् श्रुतावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर जो सुना जाये, वह श्रुत है। कर्तसाधन में श्रुत परिणत आत्मा श्रुत है । करण विवक्षा में जिससे सुना जाय, वह श्रुत है। भाव साधन में श्रवण क्रिया श्रुत है ।

आचार्य विद्यानन्द ने श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम रूप करण विशेष से श्रवण करना श्रुत कहा है । इनके मत से जो वाच्य अर्थ आप्तवाक्य द्वारा सुना जा चुका है वह अपने और वाच्यार्थ को जानने वाला आगमज्ञान रूप श्रुत ज्ञान है । श्रुत शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी श्रुतज्ञान के अर्थ में निहित है । यथा -

श्रुतेऽनेकार्थता सिद्धे आनमित्यनुवर्तनात् ।
श्रवणं हिं श्रुतज्ञानं न पुन: शब्दमात्रकम् ।।तत्वार्थ श्लो. 1/20/2

आशय यह है कि श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष की अपेक्षा से उत्पन्न हुआ और अविनाभावी अनेक अर्थान्तरों का निरुपण करने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है ।

यह श्रुतज्ञान अमृत के समान हितकारी है । विषय वेदना से सन्तप्त प्राणी के लिए परम औषधि है । आचार्य कुन्द-कुन्द ने बतलाया है -

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदमयं ।
जर मरण वाहि हरणं, स्वयकरणं सव्व दुक्खाणं ॥ दंसणपाहुड - गाथा 17

श्रुत के भेद - श्रुत के मूल दो भेद हैं - द्रव्य श्रुत और भाव श्रुत । आप्त के उपदेश रूप द्वादशांगवाणी को द्रव्यश्रुत और उससे होने वाले ज्ञान को भाव श्रुत कहते हैं । दूसरे शब्दों में शब्द

को द्रव्य श्रुत और उससे होने वाले ज्ञान को भाव श्रुत कहा जाता है। इसी कारण द्रव्य श्रुत को ग्रन्थ रूप और भाव श्रुत को ज्ञान श्रुत भी कहते हैं। ग्रन्थ रूप द्रव्य श्रुत के मूल दो भेद हैं – अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य। अंग बाह्य के बारह भेद हैं – 1. आचारांग 2. सुत्रकृताङ्ग 3. स्थानाङ्ग 4. समवायाङ्ग 5. व्याख्या प्रज्ञप्ति 6. ज्ञातृधर्मकथा 7. उपासकाध्ययनाङ्ग 8. अन्तःकृद्दशाङ्ग 9. अनुत्तरोपपादिकदशाङ्ग 10. प्रश्न व्याकरणाङ्ग 11. विपाक श्रुताङ्ग 12. दृष्टिवादाङ्ग। जैसे पुरुष के शरीर में दो पैर, दो जांघ, दो उरू, दो हाथ, एक पीठ, एक उदर, एक छाती और एक मस्तक ये बारह अंग होते हैं। उसी प्रकार श्रुतज्ञान रूपीपुरुष के भी बारह अङ्ग होते हैं। सर्वज्ञ वीतरागी अर्हन्त के मुखारविन्द से सुना हुआ ज्ञान होने के कारण ही यह श्रुत ज्ञान कहलाता है। तीर्थङ्कर अपने दिव्य ज्ञान द्वारा उपदेश देते हैं और गणधर उन बीज पदों का और उनके अर्थ का अवधारण करके उनका ग्रन्थ रुप में व्याख्यान करते हैं, यही द्रव्यश्रुत कहा है। इस द्रव्यश्रुत के अर्थकर्त्ता तीर्थंकर और ग्रन्थकर्त्ता गणधर माने जाते हैं। श्रुतज्ञान की यह परम्परा अनादि अनवच्छिन्नरूप से चली आ रही है। ऋषभदेव, भगवान् के तीर्थंकर काल में जो श्रुतज्ञान की परम्परा आरम्भ हुई थी, वही पार्श्वनाथ और महावीर के तीर्थंकर काल में गतिशील हुई है।

इस युग में श्रावणकृष्णा प्रतिपदा को[42] ब्रह्ममुहूर्त में तीर्थंकर महावीर की देशना पादुर्भूत हुई और गौतम गणधर ने उसे द्वादशांगरुप में निबद्ध किया। यही ज्ञान श्रुतज्ञान कहा जाता है[43]।

श्रुतज्ञान का विषय – यह ज्ञान श्रुत ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से होता है, परोक्ष है और अनन्त पदार्थों को विषय करने वाला है[44]। द्रव्य श्रुत और भाव श्रुत के भेद को प्राप्त हुआ द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान आप्त के द्वारा प्रकट होता है और आप्त वही माना गया है, जो रागादिक दोष तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन आवरणों से रहित हो। श्रुतज्ञान के 1. पर्याय 2. पर्याय समास 3. अक्षर 4. अक्षर समास 5. पद 6. पद समास 7. संघात, 8. संघात समास 9. प्रतिपत्ति 10. प्रतिपत्ति समास 11 अनुयोग 12. अनुयोग समास 13. प्राभृत प्राभृत 14. प्राभृत प्राभृत समास 15. प्राभृत 16. प्राभृत समास 17. वस्तु 18. वस्तु समास 19. पूर्व और 20 पूर्व समास ये बीस भेद हैं। श्रुतज्ञान के अनेक विकल्पों में एक विकल्प एक ह्रस्व अक्षर रूप भी है। इस विकल्प में द्रव्य की अपेक्षा अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओं से निष्पन्न स्कन्ध का संचय होता है। इस एक ह्रस्वाक्षर रूप विकल्प के अनेक बार अनन्तानन्त भाग किये जावे तो उनमें एक भाग पर्याय नाम का श्रुतज्ञान होता है। वह पर्याय ज्ञान सूक्ष्म निगोतिया लब्ध पर्याप्तक जीव के होता है और श्रुतज्ञानावरण के आवरण से रहित होता है। सभी जीवों के उतने ज्ञान के ऊपर कभी आवरण नहीं पड़ता। यदि उस पर भी आवरण पड़ जावे तो ज्ञानोपयोग का सर्वथा अभाव हो जायगा और ज्ञानोपयोग का अभाव होने से जीव का भी अभाव हो जायेगा। यह युक्ति से सिद्ध है कि जीव की उपयोग शक्ति का कभी विनाश नहीं होता। जिस प्रकार कि मेघ का आवरण होने पर भी सूर्य और चन्द्रमा की प्रभा दृष्टि कुछ अंशों में प्रकट रही आती है। उसी प्रकार श्रुतज्ञान का आवरण होने पर भी पर्याय नाम का ज्ञान प्रकट रहा आता है। जब यही पर्याय ज्ञान पर्याय ज्ञान के अनन्तवें भाग के साथ मिल जाता है तब वह पर्याय समास नाम का श्रुतज्ञान कहलाने लगता है। यह श्रुतज्ञान आवरण से सहित होता है। संख्यात भाग वृद्धि तथा अनन्त भाग हानि, असंख्यात भाग हानि एवं संख्यात भाग हानि से रहित है। पर्याय ज्ञान के ऊपर संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और

अनन्त गुण वृद्धि के क्रम से वृद्धि होते-होते जब तक अक्षर ज्ञान पूर्णता होती है, तब तक का ज्ञान पर्याय समास ज्ञान कहलाता है । उसके बाद अक्षर ज्ञान आरम्भ होता है उसके ऊपर पद ज्ञान तक एक-एक अक्षर की वृद्धि होती है । इस वृद्धि प्राप्त ज्ञान को अक्षर समास ज्ञान कहते हैं । अक्षर समास के बाद पद ज्ञान होता है । अर्थ पद, प्रमाण पद और मध्यम पद के भेद से तीन का प्रकार का है । इनमें एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात अक्षर तक का पद अर्थ पद कहलाता है । आठ अक्षर रूप प्रमाण पद होता है और मध्यम पद में सोलह सौ चौतीस करोड़ तिरासी लाख, सात हजार आठ सो अठासी अक्षर होते हैं और अङ्ग तथा पूर्वो के पद की संख्या इसी मध्यम पद से होती है । एक-एक अक्षर की वृद्धि कर पद समास से लेकर पूर्व समास पर्यन्त समस्त द्वादशाङ्ग श्रुत स्थित है । उनमें पहला आचाराङ्ग है जो मुनियों के आचार का अच्छी तरह वर्णन करता है और अट्ठारह हजार पदों से सहित है । दूसरा अङ्ग सूत्रकृताङ्ग है जो स्व समय और पर समय का विशेष रूप से वर्णन करता है तथा छत्तीस हजार पदों से सहित है । तीसरा अङ्ग स्थानाङ्ग है, जो जीव के एक से लेकर दस तक स्थानों का वर्णन करता है । और ब्यालीस हजार पदों से सहित है । चौथा अङ्ग समवायाङ्ग है यह एक लाख चौसठ हजार पदों सहित है तथा द्रव्य आदि की तुल्यता का वर्णन करता है - जैसे - धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, एक जीव द्रव्य और लोकाकाश के प्रदेश एक बराबर है। असंख्यात प्रदेशी हैं - यह द्रव्य की अपेक्षा तुल्यता समवायाङ्ग द्वारा वर्णित है । सिद्धशिला, प्रथम नरक का सीमान्तक भाग का इन्द्रक बिल, प्रथम स्वर्ग का ऋजु विमान और अढाई द्वीप ये क्षेत्र से समान है - पैतालीस लाख योजन विस्तार वाले हैं - यह क्षेत्र की अपेक्षा समानता उसी समवायाङ्ग में कही गई है । काल की अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी की समानता कही गई है और भाव की अपेक्षा केवलज्ञान तथा केवल दर्शन की तुल्यता बतलाई गई है । अर्थात् जिस प्रकार केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद हैं उसी प्रकार केवल दर्शन के भी अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद है । पाँचवां अङ्ग व्याख्या प्रज्ञप्ति अङ्ग है । उसमें पदों की संख्या दो लाख अट्ठाईस हजार है । इस अङ्ग में कुमार्ग त्यागी गणधरादि शिष्यों द्वारा विनयपूर्वक केवली से किए गये अनेक प्रश्न तथा उनके उत्तर का विस्तार के साथ वर्णन है । छठवां अङ्ग ज्ञातृकथाङ्ग है यह जिनधर्म की कथारूप अमृत का व्याख्यान करता है तथा इसमें पांच लाख छप्पन हजार पद हैं । सातवां अङ्ग उपासकाध्ययनाङ्ग है । श्रावक गण इसी अङ्ग के आश्रित है अर्थात् श्रावकाचार का वर्णन इसी अङ्ग में हैं । इस अङ्ग में ग्यारह लाख सत्रह हजार पद हैं । आठवां अङ्ग अन्तकृद्दशाङ्ग है इसमें तेईस लाख अट्ठाईस हजार पद हैं । इसमें प्रत्येक तीर्थङ्कर के तीर्थ में दश प्रकार के उपसर्ग को जीतकर संसार का अन्त करने वाले दश मुनियों का वर्णन है । नौवां अङ्ग अनुत्तरोपपादिक-दशाङ्ग है, इसमें बानवे लाख चवालीस हजार पद कहे गये हैं । इस अङ्ग में प्रत्येक तीर्थङ्कर के तीर्थ में दश प्रकार के उपसर्ग को जीतकर अनुत्तरादि विमानों में उत्पन्न होने वाले दश-दश मुनियों का वर्णन है । स्त्री, पुरुष और नपुंसक के भेद से तीन प्रकार के तिर्यञ्च तथा तीन प्रकार के मनुष्य और पुरुष के भेद से दो प्रकार के देव इन आठ चेतनों के द्वारा किये हुए आठ प्रकार के चेतन कृत एक शारीरिक, दुष्टादिक की वेदनाकृत और एक अचेतनकृत दीवाल आदि के गिराने से उत्पन्न सब मिलाकर दश प्रकार के उपसर्ग कहे गये हैं । दशवां अङ्ग प्रश्न व्याकरणाङ्ग है । इसमें आक्षेपिणी आदि कथाओं का वर्णन है तथा इसमें तिरानवे लाख सोलह हजार पद हैं । ग्यारहवां अङ्ग विपाकसूत्राङ्ग है । यह अङ्ग ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के विपाकफल का वर्णन करता है और इसमें एक करोड़ चौरासी लाख पद हैं । बारहवां दृष्टिवाद अङ्ग है इसमें पदों की संख्या एक सौ आठ

करोड़ अडसठ लाख, छप्पन हजार पांच है । इस अङ्ग में तीन सौ त्रेसठ दृष्टियों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है । मूल में 1. क्रिया दृष्टि 2. अक्रियादृष्टि 3. अज्ञानदृष्टि और 4. विनयदृष्टि के भेद से दृष्टियाँ चार प्रकार की हैं । ये दृष्टियाँ क्रम से क्रिया, अक्रिया, अज्ञान और विनय से सिद्धि की प्राप्ति होती है, ऐसा निरूपण करती है । इनमें क्रियावादी एक सौ अस्सी, अक्रियावादी चौरासी, अज्ञानवादी अडसठ और विनयवादी बत्तीस हैं । नियति, स्वभाव, काल, दैव और पौरुष इन पांच के साथ गुणा करने पर बीस भेद होते हैं औन इन बीस भेदों का जीवादि नौ पदार्थों के साथ योग करने पर क्रियावादियों के 180 भेद होते हैं । जैसे कोई मानता है कि जीव परत: है, कोई मानता है कि नित्य है, कोई मानता है कि अनित्य है, कोई मानता है कि जीव काल से स्वत: है कोई मानता है कि परत: है, कोई मानता है कि कोई नित्य है, कोई मानता है कि अनित्य है और मानता है कि जीव है व स्वत: है, कोई मानता है कि परत: है कोई मानता है कि नित्य है और कोई मानता है कि अनित्य है । जिस प्रकार नियति आदि के कारण जीव पदार्थ के बीस-बीस भङ्ग हैं । उसी प्रकार अजीवादि पदार्थों के भी बीस भङ्ग हैं । इस तरह क्रियावादियों के सब मिलाकर एक सौ अस्सी भेद होते हैं । जीवादि सात तत्त्व, नियति, स्वभाव, काल, दैव और पौरुष की अपेक्षा न स्वत: है और न परत: । इस तरह जीवादि सात तत्वों में नियति आदि पांच का गुणा करने पर पैंतीस और पैंतीस में स्वत: परत: इन दो का गुणा करने पर सत्तर भेद हुए । पुन: जीवादि सात तत्त्व नियति और काल की अपेक्षा नहीं है इसलिए सात में दो का गुणा करने पर चौदह भेद हुए । पूर्वोक्त सत्तर भेदों के साथ इन चौदह भेदों के मिला देने पर अक्रियावादियों के चौरासी भेद होते हैं । जीवादि नौ पदार्थों को 1. सत् 2. असत् 3 उभय 4. अवक्तव्य 5. सद् अवक्तव्य 6. असत् अवक्तव्य और 7. उभय अवक्तव्य इन भङ्गों से कौन जानता है ? इस प्रकार नौ पदार्थों में सात भङ्गों का गुणा करने पर आज्ञानिक मिथ्यादृष्टियों के त्रेसठ भेद होते हैं । जैसे 1. कोई कहता है कि जीव सत् रूप है, यह कौन जानता है ? 2. कोई कहता है कि जीव असद् रूप है, यह कौन जानता है ? 3. कोई कहता है कि जीव सत् असत् उभय रूप है, यह कौन जानता है ? 4. कोई कहता है कि जीव सद् अवक्तव्य रूप है, यह कौन जानता है ? 5. कोई कहता है कि जीव असद् अवक्तव्य रूप है, यह कौन जानता है ? और कोई कहता है कि जीव सत्-असत् अवक्तव्य रूप है, यह कौन जानता है ? इसी प्रकार अजीवादि पदार्थो के साथ सात-सात भङ्गों की योजना करने पर त्रेसठ भेद होते हैं। इन त्रेसठ भेदों में 1. जीव की सत् उत्पत्ति को जानने वाला कौन हैं ? 2. जीव की असत् उत्पत्ति को जानने वाला कौन है ? 3. जीव की सत्-असत् उत्पत्ति को जानने वाला कौन है और जीव की अवक्तव्य उत्पत्ति को जानने वाला कौन है ? केवल भाव की अपेक्षा स्वीकृत इन चार भेदों को और मिला देने पर अज्ञानिक मिथ्यादृष्टियों के सब भेद अड़सठ हो जाते हैं 1. माता 2. पिता 3. देव 4. राजा 5. ज्ञानी 6. बालक 7. वृक्ष 8. तपस्वी इन आठ का मन, वचन, काय और दान से विनय करना चाहिए । इसलिए मन, वचन, काय और दान इन चार का माता आदि आठ के साथ संयोग करने पर वैनयिक मिथ्यावादियों के 32 भेद हो जाते हैं । इस प्रकार अनेक मिथ्या दृष्टियों का कथन करने वाले दृष्टिवाद अङ्ग के 1. परिकर्म 2. सूत्र 3. अनुयोग 4. पूर्वगत 5. चूलिका ये पाँच भेद हैं । परिकर्म में 1. चन्द्र प्रज्ञप्ति 2. सूर्य प्रज्ञप्ति 3. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 4. द्वीप समुद्र प्रज्ञप्ति और 5 व्याख्या प्रज्ञप्ति ये पाँच प्रज्ञप्तियां कहीं गयी हैं । अर्थात् इन पांच प्रज्ञप्तियों की अपेक्षा परिकर्म के पाँच भेद हैं । इनमें चन्द्र प्रज्ञप्ति 36 लाख 5 हजार पदों के द्वारा

चन्द्रमा की भोग आदि सम्पदा का वर्णन करती है। सूर्य प्रज्ञप्ति पाँच लाख तीन हजार पदों के द्वारा सूर्य के स्त्री आदि विभव का निरुपण करती है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति तीन लाख पच्चीस हजार पदों के द्वारा जम्बूद्वीप के सर्वस्व का वर्णन करती है जिसमें बावन लाख, छत्तीस हजार पद हैं ऐसी द्वीप और सागरों का वर्णन करने वाली चौथी द्वीप समुद्र प्रज्ञप्ति है। जो चौरासी लाख छत्तीस हजार पदों से युक्त है वह पाँचवीं व्याख्या प्रज्ञप्ति कही जाती है। व्याख्या प्रज्ञप्ति रूपी द्रव्य, अरुपीद्रव्य तथा भव्य-अभव्य जीवों के समूह आदि सब का विस्तार के साथ वर्णन करती है। दृष्टिवाद के दूसरे भेद सूत्र में अट्ठासी लाख पद हैं। इसके अनेक भेदों में से प्रथम भेद अबन्धक बन्धक करने वाले भावों का वर्णन है। दूसरे भेद में श्रुति, स्मृति और पुराण के अर्थ का निरुपण है। तीसरे भेद में नियति पक्ष का कथन है और चौथे भेद में नाना प्रकार के पर समयों - अन्य दर्शनों का निरूपण है। दृष्टिवाद के तीसरे भेद अनुयोग में पांच हजार पद हैं तथा इसके अवान्तर भेद प्रथमानुयोग में त्रेसठ शलाका पुरुषों के पुराण का वर्णन है। दृष्टिवाद का चौथा भेद पूर्वगत कहा जाता है। उसके उत्पाद आदि चौदह भेद हैं और प्रत्येक भेद में निम्न प्रकार वस्तुओं की संख्या जाननी चाहिए। उन भेदों में क्रम से दश, चौदह, आठ, अट्ठारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश और दश वस्तुयें हैं तथा प्रत्येक वस्तु के बीस-बीस प्राभृत होते हैं। पहला उत्पाद पूर्व है उसमें एक करोड़ पद हैं तथा द्रव्यों के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का वर्णन है। दूसरा आग्रायणीय पूर्व पद है जिसमें छियानवे हजार पद हैं तथा स्वमल, सम्मत सात तत्व, नव पदार्थ आदि का वर्णन है। पहले आग्रायणीय पूर्व की जिन चौदह वस्तुओं का कथन किया गया है उनके नाम यथाक्रम से इस प्रकार जानना चाहिए 1. पूर्वान्त 2. अपरान्त 3. ध्रुव 4. अध्रुव 5. अच्यवनलब्धि 6. अध्रुव सम्प्रणधि 7. कल्प 8. अर्थ 9. भौमाख्य 10. सर्वार्थ कल्पक 11. निर्वाण 12. अतीतानागत 13. सिद्ध और 14. उपाध्याय। आग्रायणीय पूर्व की पञ्चम वस्तु के बीस प्राभृत (पाहुड) हैं। उनमें कर्म प्रकृति नामक चौथे प्राभृत में निम्नलिखित चौबीस योगद्वार हैं - 1. कृति 2 वेदना 3. स्पर्श 4. कर्म 5. प्रकृति 6. बन्धन 7. निबन्धन 8. प्रक्रम 9. उपक्रम 10. उदय 11. मोक्ष 12. संक्रम 13 लेश्या 14. लेश्या कर्म 15. लेश्या परिणाम 16. सातासात 17. दीर्घ ह्रस्व 18 भवधारण 19. पुद्गलात्मा 20. निधत्ता निधत्तक 21. सनिकाचित 22. अनिकाचित 23. कर्म स्थिति तथा 24. स्कन्ध। इन योगद्वारों में समस्त विषयों की हीनाधिकता यथायोग्य जाननी चाहिए। अन्य पूर्वों की वस्तु प्राभृत तथा अनुयोग आदि का भेद आगम के अनुसार जानना चाहिए। जिसमें सत्तर लाख पद हैं ऐसी वीर्यानुवाद नाम का पूर्व अतिशय पराक्रमी सत्पुरुषों का वर्णन करता है जिसमें साठ लाख पद हैं ऐसा चौथा अस्ति-नास्ति प्रवाद पूर्व स्वचतुष्टय की अपेक्षा जीवादि द्रव्यों के अस्तित्व और पर चतुष्टय की अपेक्षा उनके नास्तित्व का कथन करता है। एक कम एक करोड़ पदों से सहित जो पाँचवां ज्ञान प्रवाह नाम का पूर्व है, वह पाँच प्रकार के ज्ञान का वर्णन करता है। जिसमें छह अधिक एक करोड़ पद हैं ऐसा छठवां सत्य प्रवाद नाम का पूर्व बारह प्रकार की भाषा तथा दश प्रकार के सत्य वचन का कथन करता है। बारह प्रकार की भाषाओं के नाम और स्वरूप इस प्रकार हैं- हिंसादि पापों के करने वाले अथवा नहीं करने वाले के लिए, करना चाहिए, इस प्रकार कहना सो अभ्याख्यान भाषा है। कलह कारक वचन बोलना सो कलह भाषा है। यह प्रसिद्ध ही है कि दुष्ट मनुष्यों के द्वारा पीठ पीछे दोषों का प्रकट किया जाना सो पैशून्य भाषा है। जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार वर्गों के वर्णन से रहित है वह बद्ध प्रलाप नामक भाषा है। रति, अर्थात्

राग उत्पन्न,करने वाली भाषा को रति भाषा कहते हैं और अरति अर्थात् द्वेष उत्पन्न करने वाली भाषा को अरति कहते हैं, जिसके द्वारा श्रोता अर्थार्जन आदि कार्यों में लग जाता है वह उपाधिवाक् भाषा है । जो जीव को धोखा देही में निपुण करती है वह निवृति भाषा है । जो अपने से अधिक गुण वालों को नमस्कार नहीं करती है वह अप्रणति भाषा है । जो जीव को चोरी में प्रवृत्त करती है वह मोघ (मोघ) भाषा है जो समीचीन मार्ग मे लगाती है वह सम्यग्दर्शन भाषा है और जो मिथ्यामार्ग का उपदेश देती है वह मिथ्यादर्शन भाषा है ।इन बारह प्रकार की भाषाओं के बोलने वाले द्वीन्द्रियादिक जीव हैं । सत्य, वचन दस प्रकार के हैं । जिसमें छब्बीस करोड़ पद हैं ऐसा सातवां आत्म प्रवाद नाम का पूर्व है । इसमें अनेक युक्तियों का संग्रह है तथा कर्तत्व, भोक्तृत्व, नित्यत्व अनित्यत्व आदि जीव के धर्मों और उनके भेदों का सयुक्तिक निरुपण है जिसमें एक करोड़ अस्सी लाख पद हैं, ऐसा आठवां कर्म प्रवाद नाम का पूर्व है । यह पूर्व ज्ञानावरणादि कर्मो के बन्ध का निरूपण करने वाला है । जिसमें चौरासी लाख पद हैं ऐसा नौवां प्रत्याख्यान पूर्व कहा गया है । इस पूर्व में परिमित द्रव्य प्रत्याख्यान और अपरिमित भाव प्रत्याख्यान का निरुपण है तथा यह पूर्व मुनिधर्म को बढ़ाने वाला है । जिसमें एक करोड़ दश लाख पद हैं, ऐसा दसवाँ विद्यानुवाद नाम का पूर्व है ।इसमें अङ्गगुष्ठ, प्रसेन आदि सात सौ लघु विद्यायें कहीं गई हैं । जिसमें छब्बीस करोड़ पद प्रतिष्ठित हैं, ऐसा ग्यारहवां कल्याणवाद नाम का पूर्व है । यह सार्थक नामधारी है और सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिषी देवों के संचार तथा सुरेन्द्र असुरेन्द्र कृत त्रेसठ शलाका पुरुषों के कल्याण का विस्तार के साथ वर्णन करता है । साथ ही इसमें 1. स्वप्न 2. अन्तरिक्ष 3. भोम 4. अङ्ग 5. छिन्न । इन अष्टाङ्ग निमित्तों और अनेक शकुनों का भी वर्णन है जो तेरह करोड़ पदों से सहित है, वह प्राणावाय नाम का बारहवां पूर्व है । इसमें काय चिकित्सा आदि आठ प्रकार के आयुर्वेद का तथा प्राणायाम आदि के विभाग और उनकी पार्थिवी आदि धारणाओं का वर्णन है। तेरहवां नौ करोड़ पदों सहित क्रिया विशाल नाम का पूर्व है जिसमें छन्द शास्त्र, व्याकरण शास्त्र तथा शिल्पकला आदि अनेक गुणों का वर्णन है और जिसमें बारह करोड़ पचास लाख पद हैं ऐसा चौदहवां लोक बिन्दु सार नाम का पूर्व है ।इसमें समस्त श्रुतरुपी सम्पदा के द्वारा अंक राशि की विधि, आठ प्रकार के व्यवहार की विधि तथा परिकर्म की विधि कही गई है । पहले बारहवें दृष्टिवाद अङ्ग के पांच भेदों में एक चूलिका नामक भेद बता आये हैं, वह जलगता, स्थलगता, आकाशगता, रुपगता और माथागता के भेद से पांच प्रकार की है । चूलिका के ये भेद सार्थक नाम वाले हैं और इनमें प्रत्येक के दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पांच पद हैं।

अङ्गवाह्य श्रुत सामायिक आदि के भेद से चौदह प्रकार का है, यह प्रकीर्णक श्रुत कहलाता है और इसका प्रमाण प्रमाण पद की संख्या से ग्रहण करना चाहिए । अङ्ग बाह्य श्रुतज्ञान के समस्त अक्षरों का संग्रह आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर प्रमाण हैं । इसके समस्त पदों का जोड़ एक करोड़ तेरह हजार पांच सौ इक्कीस पद तथा शेष सात अक्षर प्रमाण है और इसके समस्त श्लोकों की संख्या पच्चीस लाख तीन हजार तीन सौ अस्सी तथा शेष पन्द्रह अक्षर प्रमाण हैं । उन चौदह प्रकीर्णकों में पहला सामायिक नाम का प्रकीर्णक है । यह प्रकीर्णक शत्रु, मित्रता सुख-दुख आदि में रागद्वेष का परित्याग कर समता भाव का वर्णन करने वाला है । दूसरा जिनस्तव नाम का प्रकीर्णक है इसमें चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन किया गया है । तीसरा वन्दना नाम का प्रकीर्णक है । इसमें वन्दना की विधि बतलाई गई है । प्रतिक्रमण नाम का चौथा प्रकीर्णक

द्रव्य, क्षेत्र, काल, आदि में किए गये पाप को शुद्ध करने वाले प्रतिक्रमण का कथन करता है। वैनियक नाम का पाँचवाँ प्रकीर्णक दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तपो विनय और उपचार विनय के भेद से पाँच प्रकार की विनय का कथन करता है। कृति कर्म का नाम छठवाँ प्रकीर्णक सामायिक के समय चारशिरोनति, मन, वचन, काय से आदि, अन्त में दो दण्डवत् नमस्कार और बारह आवर्त करना चाहिए। इस प्रकार कृतिकर्म की उत्तम विधि का वर्णन करता है। दशवैकालिक नाम का सातवाँ प्रकीर्णक मुनियों को गोचरी आदि वृत्तियों के ग्रहण करने आदि का वर्णन करता है। आठवाँ उत्तराध्ययन नाम का प्रकीर्णक महावीर भगवान के निर्वाण गमन सम्बन्धी कथन करता है। कल्प व्यवहार नामक नौवाँ प्रकीर्णक तपस्वियों के करने योग्य कार्यों के हो जाने पर उनकी प्रायश्चित् वृत्ति का वर्णन करता है। कल्पाकल्प नामक दशवाँ प्रकीर्णक करने योग्य तथा न करने योग्य दोनों कार्यों का निरूपण करता है। महाकल्प नामक ग्यारहवाँ प्रकीर्णक मुनि के द्रव्य, क्षेत्र तथा काल के योग्य कार्य का उल्लेख करता है। पुण्डरीक नामक ग्यारहवाँ प्रकीर्णक दोनों के उपपाद का, वर्णन करता है। महापुण्डरीक नामक तेरहवाँ प्रकीर्णक प्रायश्चित विधि का उत्तम वर्णन करता है।

इस प्रकार अगंबाह्य श्रुतज्ञान का विस्तार है। समस्थ श्रुत के अक्षरों का प्रमाण 18446744073709551615 अर्थात् एक लाख चौरासी हजार चार सौ सड़सठ कोड़ा कोडी, चवालीस लाख, सात हजार, तीन सौ सत्तर करौड़, पचानवें लाख इक्यावन हजार छह सो पन्द्रह है[45]।

नय – जो वस्तु के एक धर्म की विवक्षा से लोक व्यवहार को साधता है, वह नय है। नय श्रुतज्ञान का भेद है तथा लिङ्ग से उत्पन्न होता है[46]। लोक व्यवहार नय के द्वारा ही चलता है। क्योंकि दुनियाँ के लोग किसी एक धर्म की अपेक्षा से ही वस्तु का व्यवहार करते हैं। सच्चा नय वस्तु के जिस एक धर्म को ग्रहण करता है उसे युक्तिपूर्वक ग्रहण करता है। जैसे – वस्तु को यदि सत् रूप से ग्रहण करता है तो उसमें हेतु देता है कि अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा वस्तु सत् रूप है। इस तरह नय हेतु जन्य है। इसी से अष्टसहस्त्री में श्रुतज्ञान को अहेतुवाद और नय को हेतुवाद कहा है। जो बिना हेतु के किसी भी एक धर्म का स्वेच्छा से ग्रहण करता है, वह नय नहीं है[47]। नाना धर्मों से युक्त भी पदार्थ के एक धर्म को ही नय कहता है। क्योंकि उस समय उसी धर्म की विवक्षा है। शेष धर्मों की विवक्षा नहीं है[48]। यद्यपि जीवादि पदार्थ अनेक प्रकार के धर्मों से युक्त होते हैं। स्व द्रव्य आदि की अपेक्षा सत् स्वभाव है, पर द्रव्य आदि की अपेक्षा असत स्वभाव है। उत्पाद, व्यय को गौण करके ध्रुवत्व की अपेक्षा नित्य है पर्याय की अपेक्षा अनित्य हैं। इस तरह एकत्व, अनेकत्व, भेद, अभेद, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि अनेक धर्म युक्त हैं किन्तु उन अनेक धर्मों में से नय एक ही धर्म को ग्रहण करता है। जैसे जीव नित्य ही है या सत् स्वभाव ही है क्योंकि उस समय वक्ता की इच्छा उसी एक धर्म को ग्रहण करने की अथवा कहने की है किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि वस्तु में अनेक धर्म नहीं है। इसलिए वह एक धर्म को ग्रहण करता है बल्कि शेष धर्मों के होते हुए भी उनकी विवक्षा नहीं है इसी से वह विवक्षित धर्म को ही ग्रहण करता है[49]।

वस्तु का एक धर्म उस धर्म का वाचक शब्द और उन धर्म का जानने वाला ज्ञान ये तीनों ही नय के भेद हैं अर्थात् नय तीन रूप है[50]। अर्थरूप, शब्दरूप, और ज्ञानरूप। वस्तु का एक

धर्म अर्थ रूप नय है उस धर्म का वाचक शब्द शब्द रूप नय है और उस धर्म का ग्राहक ज्ञान, ज्ञान रूप नय है । वस्तु का एक धर्म नय के द्वारा ग्राह्य है । इसलिए उसे नय कहा जाता है और उसका वाचक शब्द तथा ग्राहक ज्ञान एक धर्म को ही कहता अथवा जानता है, इसलिए वह तो नय है ही ।

सापेक्ष सुनय से ही लोक व्यवहार की सिद्धि होती है - यदि कोई शंका करे कि जब एकान्तवाद मिथ्या है तो एक धर्म का ग्राहक होने से नय मिथ्या क्यों नहीं है इसका समाधान यह है कि ये नय सापेक्ष हो तो सुनय होते हैं और निरपेक्ष हों तो दुर्नय होते हैं। सुनय से ही नियमपूर्वक समस्त व्यवहारों की सिद्धि होती है[51] । जैसे- सत् अनित्य और अभेद को ग्रहण करने नय असत्, अनित्य और भेद की अपेक्षा करने से सुनय यानि सच्चे नय होते हैं और यदि ये नय निरपेक्ष होते हैं अर्थात यदि अपने विपक्षी की उपेक्षा नहीं करते। जैसे वस्तु असत् से निरपेक्ष सर्वथा सत् स्वरूप है । अनित्यत्व से निरपेक्ष सर्वथा नित्य स्वरूप है या अभेद निरपेक्ष सर्वथा भेद रूप है । ऐसा यदि मानते, अथवा कहते हैं. तो वे दुर्नय हैं । कहा भी है कि दुर्नय के विषय भूत एकान्त रूप पदार्थ वास्तविक नहीं है क्योंकि दुर्नय केवल स्वार्थिक है दूसरे नयों की अपेक्षा न करके केवल अपनी पुष्टि करते हैं और जो स्वार्थिक अथवा विपरीतग्राही होते हैं, वे नय सदोष होते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु को सर्वथा एकान्त रूप से सत् मानने पर वस्तु के नियत रूप की व्यवस्था नहीं बन सकती क्योंकि जैसे वह स्वरूप से सत् है वैसे ही पर रूप से भी सत् है । अत: घट पट चेतन-अचेतन कोई भेद नहीं रहेगा और इस तरह शंकर आदि दोष उपस्थित होंगे तथा वस्तु को एकान्त रूप से सर्वथा असत् मानने पर सब संसार शून्य रूप हो जायेगा । सर्वथा नित्य रूप वस्तु को मानने पर उसमें अर्थक्रिया नहीं बनेगी । और अर्थ क्रिया के अभाव में वस्तु का ही अभाव हो जायेगा। सर्वथा अनित्य मानने पर वस्तु वन निरन्वय विनाश होने से उसमें भी अर्थ क्रिया नहीं बनेगी और अर्थक्रिया के अभाव में वस्तु का भी अभाव हो जायेगा । वस्तु को सर्वथा एक रूप मानने पर उसमें विशेष धर्मो का अभाव हो जायेगा क्योंकि बिना विशेष के सामान्य गधे के सींग की तरह असंभव है और बिना सामान्य के विशेष भी गधे के सींग की तरह संभव नहीं है अर्थात् सामान्य विशेष के बिना नहीं रहता और विशेष सामान्य के बिना नहीं रहता अत: निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं। इसलिए सापेक्ष सुनय से ही लोक व्यवहार की सिद्धि होती है[52] ।

नय के भेद - संग्रह अर्थात् सामान्य से नय एक है । द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से दो प्रकार का है । उन्हीं दोनों के भेद नैगम आदि ज्ञान है[53] ।

द्रव्यार्थिक नय - जिस नय का विषय केवल द्रव्य ही है, वह द्रव्यार्थिक नय है । स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार जो नय वस्तु के विशेष रूपों मे अविनाभूत सामान्य रूप को नाना युक्तियों के बल से साधता है वह द्रव्यार्थिक नय है[54] । आलाप पद्धति में इसके दश भेद बतलाये हैं जो निम्न प्रकार हैं -

1- कर्मो को उपाधि से निरपेक्ष, शुद्ध द्रव्य का विषय करने वाला नय शुद्ध द्रव्यार्थिक है । जैसे -संसारी जीव सिद्ध के समान शुद्ध हैं ।

2- उत्पाद, व्यय को गौण करके सत्ता मात्र को ग्रहण करना शुद्ध द्रव्यार्थिक, जैसे- द्रव्य नित्य है ।

3- भेद कल्पना से निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक, जैसे - अपने गुण पर्याय स्वभाव से द्रव्य अभिन्न है ।

4- कर्मों की उपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्य को विषय करने वाला नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। जैसे - आत्मा कर्म जन्य क्रोधादि भाव वाला है।

5- उत्पाद व्यय सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक है। जैसे - एक समय में द्रव्य उत्पाद, व्यय ध्रौव्यात्मक है।

6- भेदकल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक, जैसे - आत्मा के दर्शन ज्ञानादि गुण हैं।

7- अन्वय द्रव्यार्थिक जैसे- द्रव्य गुण पर्याय स्वभाव है।

8- स्व द्रव्य, स्व क्षेत्र आदि का ग्राहक द्रव्यार्थिक जैसे - स्व द्रव्य आदि चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य है।

9- पर द्रव्य, पर क्षेत्र आदि का ग्राहक द्रव्यार्थिक। जैसे पर द्रव्य आदि चार की अपेक्षा द्रव्य नहीं है।

10- परम भाव का ग्राहक। जैसे - आत्मा ज्ञान स्वरूप है। यद्यपि आत्मा अनेक स्वभाव वाला है किन्तु यहाँ अनेक स्वभावों में से ज्ञान नामक परम स्वभाव को ग्रहण किया है।

इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय के दश भेद हैं। नैगम नय, संग्रह नय और व्यवहार नय ये तीन द्रव्यार्थिक नय हैं[55]।

पर्यायार्थिक नय - जो नय अनेक प्रकार के सामान्य सहित सब विशेषों को साधक लिङ्ग के बल से साधता है वह पर्यायार्थिक नय है[56]। अर्थात् जो नय युक्ति के बल से पर्यायों को ग्रहण करता है, वह पर्यायार्थिक नय है किन्तु वे पर्याय अथवा विशेष सामान्य निरपेक्ष नहीं होने चाहिए। अन्यथा वह दुर्नय हो जायेगा अत: अस्तित्व, नित्यत्व, एकत्व, भिन्नत्व आदि सामान्यों से अविनाभूत उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण रूप पर्यायों को जो हेतु पूर्वक ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिक नय है।

पर्यायार्थिक नय के भेद - पर्यायार्थिक नय के 6 भेद हैं-

1- **अनादि नित्य पर्यायार्थिक नय** - जैसे मेरू वगैरह पुद्गल की नित्य पर्याय है। अर्थात् मेरू पुद्गल की पर्याय होते हुए भी अनादि काल से अनंत काल रहता है।

2- **सादि नित्य पर्यायार्थिक नय** - जैसे सिद्ध पर्याय सादि होते हुए भी नित्य है।

3- **सत्ता को गौण करके उत्पाद, व्यय को ग्रहण करने वाला नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय** - जैसे पर्याय प्रति समय विनाशीक है।

4- **सत्ता सापेक्ष नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक** - जैसे पर्याय एक समय में उत्पाद, व्यय ध्रौव्यात्मक है।

5- **कर्म की उपाधि से निरपेक्ष नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक** - जैसे संसारी जीवों की पर्याय सिद्ध पर्याय के समान शुद्ध है।

6- **कर्मोपधि सापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक** - जैसे संसारी जीवों का जन्म मरण होता है[57]।

इस प्रकार पर्यायार्थिक नय के 6 भेद हैं। प्रकारान्तर से - ऋजूसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत ये चार पर्यायार्थिक नय हैं।

नैगम नय - जो नय अतीत भविष्यत् और वर्तमान को विकल्प रूप से साधता है वह नैगम नय है[58]। निगम का अर्थ है संकल्प विकल्प। उससे होने वाला नैगम नय है। यह नैगम नय द्रव्यार्थिक

नय का भेद है । अतः इसका विषय द्रव्य है । द्रव्य तीनों कालों की पर्यायों में अनुस्यूत रहता है। अतः जो नय द्रव्य की अतीत काल की पर्याय में भी वर्तमान की तरह संकल्प करता है । आगामी पर्याय में भी वर्तमान की तरह संकल्प करता है और वर्तमान की अनिष्पन्न अथवा किंचित् निष्पन्न पर्याय में भी वर्तमान का संकल्प करता है वह भूत नैगम नय है । जैसे आज दीपावली के दिन महावीर स्वामी मोक्ष गये । जो भावि पर्याय में भूत का संकल्प करता है वह भावि नैगम नय है जैसे अर्हन्त भगवान सिद्ध ही हैं । जो वस्तु बनाने का संकल्प किया है, वह कुछ बनी हों अथवा नहीं बनी हो, उसको बनी हुई की तरह कहना अथवा जानना वर्तमान नैगम नय है । जैसे कोई पुरुष कुठार लेकर वन को जाता है । उसे देखकर कोई पूछता है कि तुम कहाँ जाते हो ? वह उत्तर देता है कि मैं प्रस्थ (अन्न मापने का एक भाण्ड) लेने जाता हूँ । किन्तु उस समय वहाँ प्रस्थ नहीं है । अभी तो वह प्रस्थ बनाने के लिए जंगल में लकड़ी लेने जाता है । उस लकड़ी में प्रस्थ का संकल्प होने से वह प्रस्थ का व्यवहार करता है । इसी तरह एक आदमी पानी, लकड़ी वगैरह रख रहा है । उस से कोई पूछता है कि तुम क्या करते हो ? तो वह उत्तर देता है कि मैं भात पकाता हूँ । किन्तु अभी वहाँ भात कहाँ है ? परन्तु भात पकाने के लिए वह जो प्रबन्ध करता है, उसी को वह भात पकाना कहता है । इस प्रकार के संकल्प मात्र को विषय करने वाला लोक व्यवहार वर्तमान नैगम नय का विषय है[59] ।

संग्रह नय - जो नय समस्त वस्तु का अथवा उसके एक देश (भेद) का अनेक द्रव्य पर्याय सहित अन्वय लिङ्ग विशिष्ट संग्रह करता है, उसे संग्रह नय कहते है[60] । अपनी जाति के अविरुद्ध समस्त भेदों का संग्रह करने वाले नय को संग्रह नय कहते हैं जैसे - सत् कहने पर सत्ता के आधारभूत उन सब पदार्थों का, जिनमें सत् व्यवहार होता है, संग्रह हो जाता है। इस तरह द्रव्य कहने पर जीव द्रव्य, अजीव द्रव्यतथा उनके भेद प्रभेदों का संग्रह हो जाता है । इस तरह "घट" कहने पर जीव द्रव्य, अजीव द्रव्य तथा उनके भेद प्रभेदों का संग्रह हो जाता है । इस तरह "घट" कहने पर जिन पदार्थों में घट व्यवहार होता है उन सबका संग्रह हो जाता है । इस तरह अभेद रूप से वस्तु मात्र का संग्रह करने वाला नय संग्रह नय है । किन्तु वह संग्रह विरोध रहित होना चाहिए - यानी घट कहने से पट का संग्रह नहीं कर लेना चाहिए, किन्तु घट के भी भेद प्रभेदों का संग्रह होना चाहिए। संग्रह के दो भेद हैं - एक सामान्य संग्रह जैसे सत् अथवा द्रव्य और दूसरा विशेष संग्रह जीव या अजीव[61] ।

व्यवहार नय- जो नय संग्रह नय के द्वारा अभेद रूप से ग्रहीत वस्तुओं का परमाणु पर्यन्त भेद करता है वह व्यवहार नय है[62] । संग्रह नय के द्वारा संग्रहीत वस्तुओं का विधिपूर्वक भेद करके कथन करने वाले नय को व्यवहार नय कहते हैं । व्यवहार का मतलब ही व्यवहार यानी भेद करना है किन्तु वह भेद विधिपूर्वक होना चाहिए । अर्थात् जिस क्रम से संग्रह किया गया हो, उसी क्रम से भेद करना चाहिए । तात्पर्य यह है कि केवल संग्रह नय से लोक का व्यवहार नहीं चल सकता। जैसे "सत्" कहने से विरक्षित किसी एक वस्तु का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि सत् द्रव्य भी है और गुण भी है । इसी तरह केवल द्रव्य कहने से भी काम नहीं चल सकता, क्योंकि द्रव्य जीव भी है और अजीव भी है । जीव द्रव्य अथवा अजीव द्रव्य कहने से भी व्यवहार नहीं चलता । अतः व्यवहार के लिए जीव द्रव्य के नर नारकादि भेदों का और अजीव द्रव्य के घट पट आदि भेदों का आश्रय लेना पड़ता है । इस तरह यह व्यवहार नय तब तक भेद करता चला जाता है जब तक

भेद करने को स्थान रहता है। संग्रह नय की तरह व्यवहार नय के भी दो भेद हैं - एक सामान्य संग्रह का भेदक व्यवहार नय जैसे द्रव्य के दो भेद हैं जीव और अजीव और एक विशेष संग्रह का भेदक व्यवहार नय जैसे जीव के दो भेद हैं- संसारी और मुक्त[63]।

ऋजु सूत्र नय - वर्तमान काल में अर्थ पर्याय रूप परिणत अर्थ को जो सत् रूप साधता है, वह ऋजुसूत्र नय है। यह नय वर्तमान समयवर्ती पर्याय को ही ग्रहण करता है। इसका कहना है कि वस्तु की अतीत पर्याय तो नष्ट हो चुकी और अनागत पर्याय अभी है ही नहीं। इसलिए न अतीत पर्याय से काम चलता है और न भावि पर्याय से काम चलता है। काम तो वर्तमान पर्याय से ही चलता है। अत: यह नय वर्तमान पर्याय मात्र को ही ग्रहण करता है। शायद कोई कहे कि इस तरह से तो सब व्यवहार का लोप हो जायेगा। किन्तु ऐसी बात नहीं है। लोक व्यवहार सब नयों से चलता है। एक ही नय को पकड़कर बैठ जाने से लोक व्यवहार नहीं चल सकता। जैसे कोई मरा, उसे देखकर किसी ने कहा है कि संसार अनित्य है तो इसका मतलब यह नहीं है कि सारा संसार कुछ दिनों में समाप्त हो जायेगा, इसी तरह यहाँ भी समझना चाहिए। अस्तु वस्तु प्रति समय परिणमन करती है। एक समयवर्ती वर्तमान पर्याय को अर्थ पर्याय कहते हैं क्योंकि शास्त्र में प्रति समय नष्ट होने वाली सूक्ष्म क्षणवर्ती वर्तमान अर्थ पर्याय सहित वस्तु सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय का विषय है। जो स्थूल पर्याय को विषय करता है वह स्थूल ऋजुसूत्र नय है। जैसे मोटे तौर से मनुष्य आदि पर्याय आयु पर्यन्त रहती है। अत: उसको ग्रहण करने वाला नय स्थूल ऋजुसूत्र है। ये नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र नय अर्थ नय है और आगे कहे जाने वाले शेष तीन नय शब्द नय हैं, क्योंकि वे शब्द की प्रधानता से अर्थ को विषय करते हैं[64]।

शब्द नय - जो नय सब वस्तुओं को संख्या, लिङ्ग आदि भेदों की अपेक्षा से भेद रूप ग्रहण करता है वह शब्द नय है[65]। संख्या से एक वचन, द्विवचन और बहुवचन लेना चाहिए। लिङ्ग से स्त्री, पुरुष और नपुसकलिङ्ग लेना चाहिए। इनके भेद से जो सब वस्तुओं को भेद रूप ग्रहण करता है। वह शब्द नय है। वैयाकरणों के मत के अनुसार एकवचन के स्थान में बहुवचन का, स्त्रीलिङ्ग शब्द के बदले में पुल्लिंग शब्द का, एक कारक के स्थान में दूसरे कारक का, उत्तम पुरुष के स्थान में मध्यम पुरुष का और मध्यम पुरुष के स्थान में उत्तम पुरुष तथा भविष्यकाल में अतीत काल का प्रयोग किया जाता है। ये शब्दों में लिङ्ग वचन आदि का भेद होने पर भी उनके वाच्य अर्थों में कोई भेद नहीं मानते। इसलिए वैयाकरणों का यह मत व्यभिचार कहलता है। जैसे - एक ही तारे को पुष्य-नक्षत्र और तारका इन तीन लिङ्ग वाले, तीन शब्दों से कहना लिङ्ग व्यभिचार है। एक ही तारे को पुष्य, नक्षत्र और तारका इन तीन लिङ्ग वाले तीन शब्दों से कहना लिङ्ग व्यभिचार है। एक ही वस्तु को भिन्न वचन वाले शब्दों से कहना संख्या व्यभिचार है। जैसे पानी को आप (बहुवचन) कहना और जल को (एकवचन) कहना। "सेना पर्वत पर रहती है" के स्थान में "सेना पर्वत को रहती है" कहना कारक व्यभिचार है। (संस्कृत व्याकरण के अनुसार यहाँ सप्तमी के स्थान में द्वितीया विभक्ति होती है)। संस्कृत व्याकरण के अनुसार हँसी-मजाक में उत्तम पुरुष के स्थान में मध्यम पुरुष का और मध्यम पुरुष के स्थान में उत्तम पुरुष का प्रयोग होता है, यह पुरुष व्यभिचार है। उनके ऐसा पुत्र पैदा होगा, जो विश्व को देख चुका है यह काल व्यभिचार है क्योंकि भविष्यत् काल में अतीत काल की विभक्ति का प्रयोग है। इसी तरह संस्कृत व्याकरण के अनुसार धातु के पहले उपसर्ग लगने से उसका पद बदल जाता है। जैसे ठहरने के अर्थ में "स्था"

धातु परस्मैपद है किन्तु उसके पहले उपसर्ग लगने से वह आत्मनेपद हो जाती है। यह उपग्रह व्यभिचार है। शब्द नय इस प्रकार के व्यभिचार को अन्याय मानता है क्योंकि वैयाकरण लोग शब्द में परिवर्तन के साथ अर्थ में परिवर्तन नहीं मानते। यदि वाचक में परिवर्तन के साथ उसके वाच्य अर्थ में भी परिवर्तन मान लिया जाता है तो व्यभिचार का प्रसंग नहीं रहता। अत: शब्द नय शब्द में लिङ्गकारक आदि का व्यभिचार होने से उसके वाच्य अर्थ में भी भेद स्वीकार करता है। शायद कहा जाये कि शब्द नय प्रचलित व्याकरण के नियमों का विरोधी है। इसलिए विरोध उपस्थित होगा। इसका उत्तर यह है कि विरोध उपस्थित होता है तो हो ओ। तत्त्व की परीक्षा करते समय इस बात का विचार नहीं किया जाता। क्या चिकित्सक बीमार के रूचि के अनुसार औषधि देता है[66]।

समभिरूढ़ नय - जो नय प्रत्येक अर्थ को परिणाम केभेद से भेद रूप ग्रहण करता है अन्यथा एक शब्द के नाना अर्थों में से मुख्य अर्थ को ही कहता है, वह समभिरूढ़ नय है[67]। शब्द नय शब्द भेद से वस्तु को भेद रूप ग्रहण नहीं करता। किन्तु समभिरूढ़ नय भेद से वस्तु को भेद रूप ग्रहण करता है। जैसे स्वर्ग लोक के स्वामी के इन्द्र, शक्र, पुरन्दर कहते हैं। अत: यह नय स्वर्ग के स्वामी को तीन भेद रूप मानता है। अर्थात् वह आनन्द करता है, इसलिए इन्द्र है। शक्तिशाली होने से शुक्र है और नगरों के उजाड़ने वाला होने से पुरन्दर है। इस तरह नय शब्द भेद से अर्थ को भेद रूप ग्रहण करता है, अथवा एक शब्द के नाना अर्थो में जो रूढ़ अर्थ को ग्रहण करता है वह समभिरूढ़ नय है। जैसे -गौ शब्द के बहुत से अर्थ हैं। किन्तु यह नय उसका रूढ़ अर्थ गाय ही लेता है। अन्य नहीं[68]।

एवंभूत नय - वस्तु जिस समय जिस स्वभाव रूप परिणत होती है। अत: उसी परिणाम स्वरूप वस्तु को ग्रहण करने वाला नय एवंभूत नय है। यह एवंभूत नय परमार्थ रूप है[69]। जो वस्तु जिस समय जिस पर्याय रूप परिणत हो उस समय उसी रूप से उसे ग्रहण करने वाला एवंभूत नय है। जैसे स्वर्ग का स्वामी जिस समय आनन्द करता है। उसी समय इन्द्र है, जिस समय वह सामर्थ्यशाली है उसी समय शक्र है और जिस समय वह नगरों को उजाड़ रहा है उसी समय पुरन्दर है, यदि वह भगवान का अभिषेक या पूजन कर रहा है तो उसे इन्द्र वगैरह नहीं कह सकते, इसी तरह गौ का अर्थ है जो चलने वाली हो। जो तब गाय चलती हो तभी वह गौ है, बैठी हो या सोती हो तो उसे गौ नहीं कहना चाहिए। अथवा जिस समय जो आत्मा जिस ज्ञान रूप परिणत है, उस समय उसे उसी रूप में ग्रहण करना एवंभूत नय है। जैसे - इन्द्र को जानने वाला आत्मा इन्द्र है और अग्नि को जानने वाला आत्मा अग्नि है। इसी से इस नय को परमार्थ नय कहा है, क्योंकि यह यथार्थ वस्तु स्वरूप का ग्राहक है[70]।

इसी प्रकार जो पुरुष नयों के द्वारा लोक में वस्तु का व्यवहार करता है। वह पुरुष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को और स्वर्ग मोक्ष को साधता है[71]। इस प्रकार से द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक और उनके भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत नयों से तथा निश्चय नय और व्यवहार नय से वस्तु तत्त्व को जानकर जो वस्तु का व्यवहार करता है उसे ठीक रूप से जानता तथा कहता है, वही रत्नत्रय तथा स्वर्ग, मोक्ष को प्राप्त करता है[72]।

सम्यग्ज्ञान का आधार अनेकान्त दर्शन - सम्यग्ज्ञान का आधार है अनेकान्त दर्शन और

"यदैव तत् तदेव अतत् यदेवैकं तदेवा नैकम्, यदेव सत् तदेव असत् यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येक वस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुदशकिताद्वय प्रकाशन मनेकान्तः ।"

जो वस्तु तत् स्वरूप है वही वस्तु अतत स्वरूप भी है । जो वस्तु एक है वही अनेक भी है, जो वस्तु सत् है वह असत् भी है तथा जो वस्तु नित्य है वही अनित्य भी है । इस प्रकार अनेकान्त एक ही वस्तु में वस्तुत्व के कारणभूत व परस्पर विरोधी अनेक धर्म युगलों को प्रकाशित करता है ।

सदसन्नित्यादि सर्वथेकान्त प्रतिक्षेपलक्षणों नेकान्तः अष्टसहसी पृ. 286 वस्तु सर्वथा संत् ही है अथवा असत् ही है, नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, इस प्रकार सर्वथा एकान्त के निराकरण करने का नाम अनेकान्त है । अनेकान्त में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मो की मुख्यता रहती है । वस्तु में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले दो धर्मो की मुख्यता रहती है । वस्तु में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले दो धर्मों के अनेक युगल रहते हैं । जैसे -नित्य -अनित्य, एक-अनेक सत् -असत् इत्यादि । वस्तु केवल अनेक धर्मों का पिण्ड नहीं है । किन्तु परस्पर विरोधी दिखाने वाले अनेक धर्मों का पिण्ड है। यह बात भी ध्यान रखने की है कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है न कि सर्वधर्मात्मक। यह कहना ठीक है कि घट कथंचित् घट है और कथंचित् अघट । किन्तु यह कहना ठीक नहीं है कि घट कथचित् घट है और कथंचित् पट[73] ।

एकान्तवादियों की समक्ष में यह बात आती ही नहीं है कि वस्तु में अनेक विरोधी धर्म भी एक साथ रह सकते हैं । वे सोचते हैं कि वस्तु में विरोधी धर्मों का रहना तो नितान्त असंभव है। जैसे कि सिंह और गाय का एक स्थान में रहना असंभव है । उनके ऐसा मानने का कारण उनका दुराग्रह ही है । जिस प्रकार एक ही पुरुष एक ही समय में एक ही साथ भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से छोटा, बड़ा, बच्चा, बूढ़ा, जवान, पुत्र, गुरू, शिष्य आदि परस्पर विरुद्ध रूपों को धारण करता है, इसी तरह सत्व, असत्व, नित्यव, अनित्यत्व आदि धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से वस्तु में एक ही साथ पाए जाते हैं । जिस समय देवदत्त अपने लड़के का पिता है, उसी समय अपने पिता का पुत्र भी है। अपने शिष्य का गुरु है । तो अपने गुरु का शिष्य भी है । यदि किसी कम उम्र के जवान की अपेक्षा बूढ़ा है तो किसी अधिक उम्र वाले बूढ़े की अपेक्षा जवान भी है । तात्पर्य यह है कि एक ही साथ भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से एक ही वस्तु में अनेक विरोधी धर्म रहते हैं। इसलिए पदार्थो में सर्वथा अत्यन्त विरोध नहीं कहा जा सकता । कथंचित् थोड़ा बहुत विरोध तो सभी पदार्थों में पाया जाता है । जो एक वस्तु में धर्म है वह दूसरी में नहीं है। वस्तुओं में कथंचित् विरोध हुए बिना भेद नहीं हो सकता, अत: कथंचित् विरोध तो प्रयत्न करने पर भी नहीं हटाया जा सकता, इसलिए वह अपरिहार्य -अवश्यंभावी होने से दूषण रूप नहीं है[74] ।

आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने अपने वीरोदय महाकाव्य में अनेकान्त की सुन्दर व्याख्या की है । इस हेतु उन्होंने अनेक उदाहरणों का प्रयोग किया है । जैसे -

कोई एक रेखा स्वयं छोटी है और न बड़ी है । यदि उसी के पास उससे छोटी रेखा खींच दी जाय तो वह पहिली रेखा बड़ी कहलाने लगती है और यदि उसी के दूसरी ओर बड़ी रेखा खींच दी जाय तो वही छोटी कहलाने लगती है । इस प्रकार वह पहिली रेखा छोटी और बड़ी दोनों रूपों को अपेक्षा विशेष से धारण करती है । वस्तु का स्वभाव भी इसी प्रकार है[75] । अपेक्षा विशेष से वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व धर्म सिद्ध होते हैं । प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अस्ति रूप है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा नस्ति रूप है ।

दाख मिष्ट है, गुड़ मिष्ट है, खांड मिष्ट है और मिश्री मिष्ट है, इस प्रकार इन चारों में ही रहने वाले माधुर्य या मिठास को 'मिष्ट' इस एक ही शब्द से कहा जाता है, किन्तु उक्त चारों ही वस्तुओं में मिष्टता की जो तरतम भावगत विशिष्टता है, उसे कहने के लिए हमारे पास शब्द नहीं हैं। इसलिए उक्त भाव के अभिव्यक्त करने को 'अवक्तव्य' पद के कथन का ही आश्रय लेना पड़ता है[76]।

गाय, बकरी और ऊंट ये तीनों ही बेरी के पत्तों को खाते हैं, किन्तु बबूल के पत्तों को ऊंट और बकरी ही खाते हैं, गाय नहीं। मन्दार (आकड़ा) के पत्तों को बकरी ही खाती है, ऊंट और गाय नहीं, किन्तु मनुष्य बेरी, बबूल और आक इन तीनों के ही पत्तों को नहीं खाता है। जो वस्तु एक के लिए उपादेय है, वही दूसरे के लिए अभक्ष्य या हेय हो जाती है[77]।

तुरुष्क कुरान का आदर करता है, किन्तु ईसाई उसे न मानकर बाईबल को मानता है। इन दोनों का ही वेद में आदरभाव नहीं है, किन्तु ब्राह्मण वेद को ही प्रमाण मानता है, कुरान और बाइबिल को नहीं। इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त सिद्ध होता है[78]।

यद्यपि हंस बाहर से शुक्ल वर्ण है, किन्तु भीतर तो उसका रक्त लाल वर्ण का है तथा उसके पैर श्वेत और लाल दोनों ही वर्णो के होते हैं। ऐसी स्थिति में विवेकी पुरुष उसको किस रूप वाला कहे ? अतएव कथञ्चिद्-वाद के स्वीकार करने पर ही उसके ठीक निर्दोष रूप का वर्णन किया जा सकता है[79]।

द्रव्य की अपेक्षा वस्तु नित्य हे और पर्याय की अपेक्षा वह अनित्य है। यदि वस्तु को सर्वथा नित्य कूटस्थ माना जाय तो उसमें अर्थक्रिया नहीं बनती है और यदि सर्वथा क्षणभङ्गुर माना जाय तो उसमें 'यह वही है,' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। अत: वस्तु को कथञ्चित्, नित्य और कथञ्चित् अनित्य मानना पड़ता है। अन्यथा लोक कैसे सम्भव होगा। इस हेतु हम भगवान् महावीर के पवित्र अनेकान्तवाद का ही आश्रय लेते हैं[80]।

दीपक में अञ्जन, बादलों में बिजली और समुद्र में बड़वानल को देखकर हमारी बुद्धि नि:शङ्क रूप से स्वीकार करती है कि भगवान् का अनेकान्तवाद सदा जयवन्त है[81]। तात्पर्य यह है कि दीपक भासुराकार है, तो भी उससे काला काजल उत्पन्न होता है। बादल जलमय होते हैं, फिर भी उससे अग्निरूप बिजली पैदा होती है और समुद्र जल से भरा है, फिर भी उनसे बाडवाग्नि प्रकट होती है। इन परस्पर विरोधी तत्त्वों को देखने से यही मानना पड़ता है कि प्रत्येक पदार्थ में अनेक धर्म हैं।

जिसे 'सेना' इस एक नाम से कहते हैं, उसमें अनेक हाथी, घोड़े और पयादे होते हैं। जिसे 'वन' इस एक नाम से कहते हैं, उससमें नाना जाति के वृक्ष पाए जाते हैं। एक स्त्री को 'दारा' इस बहुवचन से तथा जल को 'अप' इस बहुवचन से कहते हैं। इस प्रकार एक ही वस्तु में एकत्व और अनेकत्व की प्रतीति होती है[82]।

स्याद्वाद – स्याद्वाद का पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने सुन्दर विवेचन किया है। उनके अनुसार 'स्याद्वाद' स्यात् और वाद इन दो पदों से मिलकर बना है। वाद का अर्थ है, कथन या प्रतिपादन 'स्यात्' विधिलिङ्ग से बना हुआ तिङन्त प्रतिरुपक निपात है। वह अपने में एक महान उद्देश्य और वाचन शक्ति को छिपाये हुए है। स्यात् के विधिलिङ्ग में विधि विचार आदि अनेक अर्थ होते

हैं। उनमें अनेकान्त अर्थ यहाँ विवक्षित हैं। हिन्दी में यह "शायद" अर्थ में प्रचलित सा हो गया है, परन्तु हमें उसकी उस निर्दोष परम्परा का अनुगमन करना चाहिए जिसके कारण वह शब्द "सत्यात्मा" अर्थात् सत्य का प्रतीक बना है। "स्यात्" शब्द कथन्चित् अर्थ में विशेष रूप से उपयुक्त बैठता है। कथन्चित् अर्थात् किसी सुनिश्चित अपेक्षा से वस्तु अमुक धर्म वाली है न तो यह "शायद" और न "सम्भावना" और न "कदाचित्" का प्रतिपादक है किन्तु सुनिश्चित दृष्टिकोण का वाचक है। शब्द का स्वभाव है कि वह अवधारणात्मक होता है, इसलिए अन्य के प्रतिषेध करने में वह निरंकुश रहता है। इस अन्य के प्रतिषेध पर अंकुश लगाने का कार्य "स्यात्" करता है। वह कहता है कि "रूपवान् घट:" वाक्य घड़े के रूप का प्रतिपादन भले ही करे पर वह रूपवान् ही है यह अवधारण करके घड़े में रहने वाले रस गन्ध आदि का प्रतिषेध नहीं कर सकता। वह अपने स्वार्थ को मुख्य रूप से कहे यहां तक कोई हानि नहीं पर यदि वह इससे आगे बढ़कर "अपने ही स्वार्थ" को सब कुछ मानकर शेष का निषेध करता है तो उसका ऐसा करना अन्याय है और वस्तु स्थिति का विपर्यास करना है। "स्यात्" शब्द इसी अन्याय को रोकता है और न्याय वचन पद्धति की सूचना देता है। वह प्रत्येक वाक्य के साथ अन्तर्गर्भ रहता है और गुप्त भाव से प्रत्येक वाक्य को मुख्य गौण भाव के अनेकान्त अर्थ का प्रतिपादक बनाता है।

"स्यात्" निपात है। निपात द्योतक भी होते हैं और वाचक भी। यद्यपि स्यात् शब्द अनेकान्त सामान्य का वाचक होता है फिर भी अस्ति आदि विशेष धर्मों का प्रतिपादन करने के लिए "अस्ति" आदि धर्म वाचक शब्दों का प्रयोग करना ही पड़ता है। तात्पर्य यह है कि स्यात् "अस्ति" वाक्य में अस्ति पद अस्तित्व धर्म का वाचक है तो "स्यात्" शब्द अनेकान्त का। वह उस समय अस्ति से भिन्न अन्य अशेष धर्मो का प्रतिनिधित्व करता है। जब "स्यात्" अनेकान्त का द्योतन करता है तो "अस्ति" आदि पदों के प्रयोग से जिन अस्तित्व आदि धर्मो का प्रतिपादन किया जा रहा है वे "अनेकान्त" रूप हैं, यह द्योतन "स्यात्" शब्द करता है। यदि सह पद न हो तो "सर्वथा अस्तित्व" रूप एकान्त की संज्ञा की जाती है। यद्यपि "स्यात्" और "कथन्चित्" का अनेकान्तात्मक अर्थ इन शब्दों के प्रयोग न करने पर भी कुशल वक्ता समझ लेता है परन्तु वक्ता को यदि अनेकान्त वस्तु का दर्शन नहीं है तो वह एकान्त के जाल में भटक सकता है अत: उसे आलोक स्तम्भ के समान इस "स्यात्" ज्योति की नितान्त आवश्यकता है।

स्याद्वाद वस्तु का निरूपण करने वाली विशिष्ट भाषा पद्धति है। स्यात् शब्द यह सुनिश्चित रूप से बताता है कि वस्तु केवल इसी धर्म वाली ही नहीं है, उसमें इसके अतिरिक्त धर्म भी विद्यमान है। उसके अविवक्षित गुम धर्मो के अस्तित्व की रक्षा "स्यात्" शब्द करता है। "रूपवान घट: " में स्यात् शब्द रूपवान के साथ नहीं जुटता क्योंकि रूप के अस्तित्व की सूचना तो "रूपवान्" शब्द स्वयं ही दे रहा है किन्तु अन्य अविवक्षित शेष धर्मों के साथ उसका अन्वय है वह रूपवान् को पूरे घड़े पर अधिकार जमाने से रोकता है और साफ कह देता है कि घड़ा बहुत बड़ा है उसमें अनन्त धर्म हैं। रूप भी उनमें से एक है। रूप की विवक्षा होने से अभी रूप हमारी दृष्टि में मुख्य है और वही शब्द के द्वारा वाच्य बन रहा है। पर रस की विवक्षा होने पर वह गौण राशि में शामिल हो जायेगा और रस प्रधान बन जायेगा। इस तरह समस्त शब्द गौणमुख्य भाव से अनेकान्त अर्थ के प्रतिपादक हैं इसी सत्य का उद्घाटन स्यात् शब्द सदा करता रहता है।

"स्यात्" शब्द एक सजग प्रहरी है जो उच्चरित धर्म को इधर-उधर जाने नहीं देता । वह अविवक्षित धर्मों के अधिकार का संरक्षक है । इसलिए जो लोग स्यात् का रूपवान् के साथ अन्वय करके और उसका शायद सम्भावना और कदाचिद् अर्थ करके घड़े में रूप की स्थिति को भी संदिग्ध बनाना चाहते हैं वे वस्तुत: प्रगाढ़ भ्रम में हैं । इसी तरह "स्यादस्ति घट:" यह अस्तित्व-अंश घट में सुनिश्चित रूप से विद्यमान है । "स्यात्" शब्द उस अस्तित्व की स्थिति कमजोर नहीं बनाता । किन्तु उसकी वास्तविक आंशिक स्थिति की सूचना देकर अन्य नास्ति आदि धर्मों के गौण सद्‌भाव का प्रतिनिधित्व करता है । उसे डर है कि कहीं अस्ति नाम का धर्म, जिसे शब्द से उच्चरित होने के कारण प्रमुखता मिली है, पूरी वस्तु को ही न हड़प जाय, अपने अन्य नास्ति आदि सहयोगियों के स्थान को समाप्त न कर दे । इसलिए वह प्रतिवाक्य में चेतावनी देता रहता है कि हे भाई अस्ति, तुम वस्तु के एक अंश हो तुम अपने अन्य नास्ति आदि भाईयों के हक को हड़पने की कुचेष्टा नहीं करना। इस भय का कारण है कि प्राचीन काल से नित्य ही है अनित्य ही है । आदि । हडपू प्रकृति के अंश वाक्यों ने वस्तु पर पूर्ण अधिकार जमाकर अनधिकृत चेष्टा की है और जगत् में अनेक तरह के वितण्डा और संघर्ष उत्पन्न किये हैं । इसके फलस्वरूप पदार्थ के साथ तो अन्याय हुआ ही है पर इस वाद-प्रतिवाद ने अनेक कुमत वादों की सृष्टि करके अहंकार हिंसा संघर्ष अनुदारता और असहिष्णुता आदि से विश्व को अशान्त और संघषपूर्ण हिंसा ज्वाला में पटक दिया है । स्यात् शब्द वाक्य के उस अभिप्राय को निकाल देता है जिससे अहंकार का सृजन होता है ।

"स्यात्" शब्द एक निश्चित अपेक्षा से जहाँ अस्तित्व की स्थिति सुदृढ़ और सहेतुक बनाता है वहाँ उसकी उस सर्वहारा प्रवृत्ति को भी नष्ट करता है, जिससे वह पूरी वस्तु का मालिक बनना चाहता है । वह न्यायाधीश की तरह तुरन्त कह देता है कि - हे अस्ति, तुम अपनी अधिकार सीमा को समझो । स्वद्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से जिस प्रकार तुम घट में रहते हो उसी तरह पर द्रव्य, क्षेत्रादि की अपेक्षा नास्ति नाम का तुम्हारा सगा भाई भी उसी घट में रहता है, घट का परिवार बहुत बड़ा है । अभी तुम्हारा नाम लेकर पुकारा गया है, उसका इतना ही अर्थ है कि इस समय तुमसे काम है, तुम्हारा प्रयोजन है तुम्हारी मुख्यता है तुम्हारी विवक्षा है, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि तुम अपने समानाधिकारी भाईयों के सद्‌भाव को ही उखाड़कर फेंकने का दुष्प्रयास करो । वास्तविक बात तो यह है कि यदि परकी अपेक्षा "नास्ति" धर्म न हो तो जिस घड़े में तुम रहते हो वह घड़ा ही न रह जायेगा किन्तु कपड़ा आदि पर पदार्थ रूप हो जायेगा । अत: तुम्हें अपनी स्थिति के लिए भी यह आवश्यक है कि तुम अन्य धर्मो की वास्तविक स्थिति को समझो। तुम उनकी हिंसा न कर सको इसके लिए अहिंसा का प्रतीक स्यात् शब्द तुमसे पहिले ही वाक्य में लगा दिया जाता है । भाई अस्ति, यह तुम्हारा दोष नहीं है, तुम तो बराबर अपने नास्ति आदि भाइयों के साथ हिल मिलकर अनन्त धर्मा वस्तु में रहते हो, सब धर्म भाई अपने-अपने स्वरूप के सापेक्ष भाव से वस्तु में रह रहे हैं, पर इन फूट डालने वाले वस्तुदृष्टाओं को क्या कहा जाये ? ये अपने एकांगी दृष्टि से तुम में फूट डालना चाहते हैं कि तुम में भी अहंकारपूर्ण स्थिति उत्पन्न होकर आपस में भेदभाव एवं हिंसा की सृष्टि हो । बस "स्यात्" शब्द एक अञ्जन शलाका है जो उनकी दृष्टि को विकृत नहीं होने देता । वह उसे निर्मल और पूर्णदर्शी बनाता है । इस अविवक्षित संरक्षक, दृष्टि विषापहारी, सचेतक प्रहरी, अहिंसा और सत्य के प्रतीक, जीवन्त न्याय रूप, शब्द

को सुधामय करने वाले तथा सुनिश्चित अपेक्षा के द्योतक ''स्यात्'' शब्द के स्वरूप के साथ हमारे दार्शनिकों ने न्याय तो किया ही नहीं किन्तु उसके स्वरूप का शायद सम्भव कदाचित् जैसे भ्रष्ट पर्यायों से विकृत करने का अशोभन प्रयत्न अवश्य किया है और आज तक किया जा रहा है।

सबसे थोथा तर्क तो यह दिया जाता है कि घड़ा जब अस्ति है तो नास्ति कैसे हो सकता है ? घड़ा जब एक है तो अनेक कैसे हो सकता है ? यह तो प्रत्यक्ष विरोध है, पर विचार तो करो-घड़ा आखिर घड़ा ही तो है, कपड़ा तो नहीं है, कुर्सी तो नहीं है, टैबिल तो नहीं है। तात्पर्य यह है कि वह घट भिन्न अनन्त पदार्थों रूप नहीं है। तो यह कहने में आपको क्यों संकोच होता है कि घड़ा अपने स्वरूप मे अस्ति है और स्वभिन्न पररूपों से नास्ति है। इस घड़े में अनन्त पररूपों की अपेक्षा ''नास्तित्व'' है अन्यथा दुनियाँ में कोई शक्ति ऐसी नहीं जो घड़े को कपड़ा आदि होने से रोक सके। यह नास्तित्व धर्म ही कपड़े को घड़े के रूप में कायम रखता है। इसी ''नास्ति'' धर्म की सूचना ''अस्ति'' के प्रयोग काल में स्यात् शब्द देता है। इसी तरह घड़ा समग्रभाव से एक होकर भी अपने रूप रस, गंध स्पर्श, छोटा, बड़ा, हलका भारी आदि अनन्त गुण धर्मों की दृष्टि से अनेक रूपों में दिखाई देता है या नहीं ? यह आप स्वयं बतावें। यदि अनेक रूप में दिखाई देता है तो आपको यह मानने और कहने में क्यों कष्ट होता है कि घड़ा द्रव्यरूप मे एक होकर भी अपने गुण धर्म शक्ति आदि की दृष्टि मे अनेक है। जब प्रत्यक्ष मे वस्तुयें अनेक विरोधी धर्मों का स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है, वस्तु स्वयं अनन्त विरोधी धर्मो का अविरोधी क्रीड़ास्थल है तब हमें क्यों संशय और विरोध उत्पन्न करना चाहिए। हमें उसके स्वरूप को विकृत रूप में देखने की दुर्दृष्टि तो नहीं करनी चाहिए। हम उस महान् ''स्यात्'' शब्द को, जो वस्तु के इस परिपूर्ण की झांकी सापेक्ष भाव से बताता है, विरोध संशय जैसी गलियों से दुरदुराते हैं - ''किमाश्र्वर्यमत: परम्''। यहां धर्मकीर्ति का यह श्लोकांश ध्यान में आ जाता है कि -

यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्रके वयम्।'' प्रमाण वा. 3/210

अर्थात् यदि यह चित्ररूपता अनेकधर्मता वस्तु को स्वयं रूप रही है उसके बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं है तो हम बीच में काजी बनने वाले कौन है ? जगत् का एक-एक कण इस अनन्त धर्मता का आकार है। हमें तो सिर्फ अपनी दृष्टि को ही निर्मल और विशाल बनाने की आवश्यकता है। वस्तु में विरोध नहीं है, विरोध तो हमारी दृष्टियों में है और इस दृष्टि विरोध की अमृत (गुरवेल) स्यात् शब्द है जो रोगी को तत्काल कटु तो अवश्य लगती है पर इसके बिना यह दृष्टि विष ज्वर उतर भी नहीं सकता[83]।

सप्तभङ्गी -

सप्तभङ्गी का स्वरूप - विधि और निषेध के विकल्प मे अर्थ में शब्द की प्रवृत्ति सात प्रकार से होती है। उसे ही सप्तभङ्गी कहते हैं। तत्वार्थवार्तिक में कहा है -

''प्रश्नवशात् एकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना सप्तभङ्गी'' 1/6/5

प्रश्न के वश से एक वस्तु में अविरोध रूप से विधि और निषेध की कल्पना सप्तभङ्गी है।

रत्नप्रभसूरि ने रत्नाकरावतारिका में कहा है -

एकत्रवस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयो: समस्तयोश्च विधि निषेधयो: कल्पनया स्यात्काराङ्कित सप्तधा वाक्य प्रयोग: सप्तभङ्गी ॥

एक ही जीवादि वस्तु में एक-एक सत्वादि धर्म विषयक प्रश्नवश अविरोध रूप से (प्रत्यक्षादि वाधा के परिहार से) पृथभूत और मिले हुए विधि और निषेध की कल्पना से स्यात् शब्द से युक्त आगे कहे जाने वाले सात प्रकारों से वचन का विन्यास करना सप्तभङ्गी है। भङ्ग शब्द की व्युत्पत्ति है - भज्यन्ते मिद्यन्तेऽर्था: यैस्ते भङ्गा: अर्थात् जिनसे पदार्थों का विभाग होता है वे भङ्ग या वचन प्रकार हैं। सात भङ्ग या वचन प्रकार मिलकर सप्तभङ्गी कहे जाते हैं।

नाना वस्तु का आश्रय लेने वाली विधि निषेध कल्पना से शतभङ्गी का प्रसङ्ग उपस्थित, होता है, उसके निवर्त्तन के लिए एक ही वस्तु में ऐसा कहा है। एक ही जीवादि वस्तु में विधीयमान निषिध्यमान अनन्तधर्म की पर्यालोचना से अनन्त भङ्गी के प्रसङ्ग की निवृत्ति के लिए एक-एक धर्म विषयक प्रश्नवश ऐसा कहा है।

वस्तु के अनन्त धर्मो में भी प्रतिधर्म विषयक प्रश्न सात प्रकार के ही हो सकते हैं और उनका उत्तर भी सात प्रकार का होता है, इस प्रकार एक-एक धर्म में एक-एक सप्तभङ्गी सिद्ध होती है। इस प्रकार अनन्तधर्मो की अपेक्षा अनन्त सप्तभङ्गी होती है, जो कि इष्ट है।

प्रत्यक्ष से विरुद्ध सत् आदि एकान्त यदि विधि प्रतिषेध कल्पना के द्वारा प्रवृत्त होकर वचन प्रयोग करें तो उनके भी सप्तभङ्गीपने की प्राप्ति के प्रसङ्ग उपस्थित न हो अत: "अविरोधेन" यह पद दिया है।

सप्तभङ्गी के उदाहरण स्वरूप एक ही द्रव्य का निरूपण सात प्रकार से हो सकता है -

1. स्यात् अस्ति द्रव्य - द्रव्य स्यात् है।
2. स्यात् नास्ति द्रव्यम् - द्रव्य स्यात् नहीं है।
3 स्यात् अस्ति च नास्ति च द्रव्यम् - स्यात् द्रव्य है और नहीं भी है।
4 स्यात् अवक्तव्यं द्रव्यम् - स्यात् द्रव्य अवक्तव्य है।
5. स्यात् अस्ति च अवक्तवयं च द्रव्यम् - द्रव्य स्यात् है और अवक्तव्य है।
6 स्यात् नास्ति च अवक्तव्यं च द्रव्यम् - द्रव्य स्यात् नहीं है और अवक्तव्य भी है।
7. स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च द्रव्यम् - द्रव्य स्यात् है, नहीं है और अवक्तव्य भी है।

इस प्रकार विधि निषेध की कल्पना मूलक सप्तभङ्ग निम्न प्रकार से होते हैं -

1 विधि कल्पना 2 प्रतिषेध कल्पना 3. क्रम से विधि प्रतिषेध कल्पना 4. एक साथ विधि प्रतिषेध कल्पना 5. विधि कल्पना के सात विधि प्रतिषेध कल्पना 6. प्रतिषेध कल्पना के साथ विधि प्रतिषेध कल्पना 7 क्रम से तथा एक साथ विधि प्रतिषेध कल्पना।

विधि, निषेध और अनभिलाप्यता-स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव और स्याद-वक्तव्यमेव ये एक-एक करके तीन मूल विकल्प हैं। इनके विपक्षभूत धर्म की संधि-संयोजनारूप से द्विसंयोगज विकल्प तीन स्यादस्ति - नास्त्येव, स्यादस्त्यवक्तव्यमेव, स्थान्ना-स्त्यवक्तव्यमेव होते हैं और त्रिसंयोगज विकल्प एक स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यमेव ही होता है[84]।

अवधिज्ञान - अवधि का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है अधिकतर नीचे के विषयों को जानने वाला या परिमित विषय वाला। इसके दो भेद हैं - भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय या क्षयोपशम निमित्तक।

1. भवप्रत्यय - आयु नाम कर्म के उदय का निमित्त पाकर जो जीव की पर्याय होती है उसे भव कहते हैं जिस अवधिज्ञान के होने में भव निमित्त है वह भव प्रत्यय अवधिज्ञान है। वह देव और नारकियों के होता है।

शंका – यदि ऐसा है तो इनके अवधिज्ञान होने में क्षयोपशम की निमित्ता नहीं बनती?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है क्योंकि भव के आश्रय से क्षयोपशम की सिद्धि हो जाती है। भव का आलंबन लेकर क्षयोपशम हो जाता है ऐसा समक्षकर भव प्रधान कारण है, ऐसा उपदेश दिया जाता है। जैसे पक्षियों का आकाश में गमन करना भव निमित्तक होता है, शिक्षा गुण की अपेक्षा से नहीं होता वैसे ही देव और नारकियों के व्रत और नियमादिक के अभाव में अवधिज्ञान होता है, इसलिए उसे भव निमित्तक कहते हैं। यदि ऐसा न माना जाये तो भव तो सब के साधारण रूप से पाया जाता है। अत: सब के एक सा अवधिज्ञान प्राप्त होगा परन्तु वहाँ पर अवधिज्ञान न्यूनाधिक ही कहा जाता है। इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि वहाँ पर अवधि ज्ञान होता तो क्षयोपशम से ही है पर वह क्षयोपशम भव के निमित्त से प्राप्त होता है अत: उसे भव प्रत्यय कहते हैं[85]।

गुण प्रत्यय या क्षयोपशम निमित्तक - अवधिज्ञानावरण कर्म के देश धाती स्पर्धकों का उदयाभावीक्षय और अनुदय प्राप्त इन्हीं का सदवस्थारूप उपशम इन दोनों के निमित्त से जो होता है, वह क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान है। यह मनुष्यों और तिर्यंचों के होता है। इनमें भी जिनके सामर्थ्य होता है उन्हीं के होता है। असंज्ञी और अपर्याप्तकों के यह सामर्थ्य नहीं है। संज्ञी और पर्याप्तकों में भी सबके यह सामर्थ्य नहीं होती जिनके सम्यग्दर्शन आदि निमित्तों के मिलने पर अवधिज्ञानावरण कर्म शान्त और क्षीण हो गया है उसके यह सामर्थ्य होती है। यद्यपि अवधिज्ञान मात्र क्षयोपशम के निमित्त से होता है तो भी क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान में मात्र क्षयोपशम निमित्त है भव नहीं। यह अवधिज्ञान 6 प्रकार का होता है -

1 अनुगामी 2 अननुगामी 3 वर्धमान 4. हीयमान 5. अवस्थित 6. अनवस्थित।

1. अनुगामी - कोई अवधिज्ञान जैसे सूर्य का प्रकाश उसके साथ जाता है वैसे अपने स्वामी का अनुकरण करता है।

2. अननुगामी - कोई अवधिज्ञान अनुसरण नहीं करता किन्तु जैसे विमुख हुए पुरुष के प्रश्न के उत्तर स्वरूप दूसरा पुरुष जो वचन कहता है वह वहीं छूट जाता है। विमुख पुरुष उसे ग्रहण नहीं करता है। वैसे ही यह अवधिज्ञान भी वहीं पर छूट जाता है।

3. वर्द्धमान - कोई अवधिज्ञान जंगल के निर्मंथन से उत्पन्न हुई और सूखे पत्तों से उपचीयमान ईंधन के समुदाय से वृद्धि को प्राप्त हुई अग्नि के समान सम्यग्दर्शनादि गुणों की विशुद्धि रूप परिणामों के सन्निधान वश जितने परिमाण में उत्पन्न होता है, उससे असंख्यात लोक जानने की योग्यता होने तक बढ़ता जाता है।

4. हीयमान - कोई अवधिज्ञान परिमित उपादान संतति वाली अग्नि शिखा के समान सम्यग्र्शनादि गुणों की हानि से हुए संक्लेश परिणामों के बढ़ने से जितने परिमाण में उत्पन्न होता है उससे मात्र अंगुल के असंख्यातवें मात्र प्रमाण जानने की योग्यता होने तक घटता चला जाता है।

5. अवस्थित - कोई अवधिज्ञान सम्यग्दर्शनादि गुणों के समान रूप से स्थिर रहने के कारण जितने परिमाण में उत्पन्न होता है। उतना ही बना रहता है। पर्याय के नाश होने तक या केवलज्ञान के उत्पन्न होने तक शरीर में स्थित मशा आदि चिन्ह के समान न घटता है और न बढ़ता है।

6. अनवस्थित - कोई अवधिज्ञान वायु के वेग से प्रेरित जल की तरङ्गों के समान सम्यग्दर्शनादि गुणों की कभी वृद्धि और कभी हानि होने से जितने परिमाण में उत्पन्न होता है। उससे बढ़ता है, जहाँ तक उसे बढ़ना चाहिए, और घटता है, जहाँ तक उसे घटना चाहिए[86]।

क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि और सर्वावधि के भेद से तीन भेद हैं। देशावधि और परमावधि के जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट में तीन प्रकार हैं। सर्वावधि एक ही प्रकार का है। देशावधि का जघन्य क्षेत्र उत्सेधांगुल का असंख्यात भाग है और उत्कृष्ट सर्वलोक। मध्यमक्षेत्र जघन्य और उत्कृष्ट के बीच का असंख्यात प्रकार का है। परमावधि का जघन्य क्षेत्र एक प्रदेश अधिक लोक प्रमाण है और उत्कृष्ट असंख्यात लोक प्रमाण है। मध्य के विकल्प अजघन्योत्कृष्ट क्षेत्र हैं। परमावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र से बाहर असंख्यात लोक क्षेत्र सर्वावधि का है। उपर्युक्त अनुगामी आदि छह भेदों के साथ प्रतिघाती अर्थात् बिजली की चमक की तरह विनाशशील-बीच में ही छूटने वाला और अप्रतिपाती अर्थात् केवलज्ञान होने तक नहीं छूटने वाला, ये आठों भेद देशावधि के होते हैं। परमावधि हीयमान और प्रतिपाती नहीं होती। सर्वावधि के अवस्थित, अनुगामी, अननुगामी और अप्रतिपाती ये चार ही भेद होते हैं। सर्वजघन्य देशावधि का उत्सेधांगुल का असंख्यातवां भाग क्षेत्र, आवलिका असंख्यातवां भाग काल और अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण द्रव्य हैं, अर्थात् इतने बड़े असंख्यात-स्कन्धों में ज्ञान की प्रवृति होती है। स्व विषय स्कन्ध के अनेक रुपादि भाव हैं। एक जीव के प्रदेशोत्तर क्षेत्र वृद्धि नहीं होती, नाना जीवों की अपेक्षा प्रदेशोत्तर क्षेत्र का विकल्प सम्भव है। एक जीव के मण्डूकप्लुति क्रम से अंगुल के असंख्येय भाग प्रमाण क्षेत्र वृद्धि होती है - सर्वलोक तक। काल वृद्धि एक जीव और नाना जीवों की अपेक्षा एक समय दो समय आदि आवलिके असंख्यात भाग तक होती है। द्रव्य, क्षेत्र और काल की वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुण वृद्धि और असंख्यात गुण वृद्धि और अनन्त गुण वृद्धि मिलाकर छह प्रकारों से होती है। हानि भी इसी क्रम से होती है।

अंगुल के असंख्यात भाग क्षेत्र वाली अवधि का आवलिका संख्यात भाग काल है। अंगुल के असंख्यात भाग आकाश प्रदेश बराबर द्रव्य है। भाव अनन्त असंख्यात या संख्यात रूप है। अंगुल प्रमाण क्षेत्र वाली अवधि का कुछ कम आवलि प्रमाण काल है, द्रव्य और भाव पहिले की तरह। अंगुल पृथक्त्व (तीन से ऊपर 9 से नीचे की संख्या) क्षेत्र वाली अवधि का आवली प्रमाण काल है। एक हाथ क्षेत्र वाली अवधि का आवली पृथक्त्व काल है। एक गव्यूति प्रमाण क्षेत्र वाली अवधि का कुछ अधिक उच्छ्वास प्रमाण काल है। योजना मात्र क्षेत्र वाली अवधि का अन्तर्मुहर्त काल है। पच्चीस योजन क्षेत्र वाली अवधि का कुछ कम एक दिन काल है। भरत क्षेत्र प्रमाण वाली अवधि का आधा माह काल है। जम्बूद्वीप प्रमाण क्षेत्र वाली अवधि का कुछ अधिक एक माह काल है। मनुष्य लोक प्रमाण क्षेत्र वाली अवधि का एक वर्ष काल है। रुचक द्वीप प्रमाण क्षेत्र वाली अवधि का संवत्सर पृथक्त्व काल है संख्यात द्वीप, समुद्र प्रमाण क्षेत्र वाली अवधि का संख्यात वर्ष काल है। असंख्यात द्वीप समुद्र प्रमाण क्षेत्र वाली अवधि का असंख्यात वर्ष काल है। इस तरह तिर्यच और मनुष्यों की मध्य देशावधि के द्रव्य क्षेत्र काल आदि हैं।

तिर्यंचों की उत्कृष्ट देशावधि का क्षेत्र असंख्यात द्वीप, समुद्र, काल असंख्यात वर्ष और तेज शरीर प्रमाण द्रव्य है। अर्थात् वह असंख्यात् द्वीप समुद्र प्रमाण आकाश प्रदेशों से परिमित असंख्यात तेजोद्रव्य वर्गणा से रचे गये अनन्त प्रदेशी स्कन्धों को जानता है। भाव पहिले की तरह है। तिर्यंचों और मनुष्यों के जघन्य देशावधि होता है। तिर्यंचों के केवल देशावधि ही होता है। परमावधि और सर्वावधि नहीं।

मनुष्यों की उत्कृष्ट देशावधि का क्षेत्र, असंख्यात द्वीप समुद्र काल असंख्य वर्ष और द्रव्य कार्माण शरीर प्रमाण है अर्थात् वह असंख्यात द्वीप समुद्र प्रमाण आकाश प्रदेशों से परिमिति

असंख्यात ज्ञानावरणादि कार्माण द्रव्य की वर्गणाओं को जानता है । भाव पहिले की तरह है । यह उत्कृष्ट देशावधि संयत मनुष्यों के होती है ।

परमावधि जघन्य परमावधि का क्षेत्र एक प्रदेश अधिक लोक प्रमाण काल असंख्यात वर्ष, द्रव्य प्रदेशाधिक लोकाकाश प्रमाण और भाव अनन्तादि विकल्प वाला है । इसके बाद नाना जीव या एक जीव के क्षेत्र वृद्धि असंख्यात लोक प्रमाण होगी । असंख्यात अर्थात् आवलिका के असंख्यात मात्र प्रमाण । परमावधि का उत्कृष्ट क्षेत्र अग्नि जीवों की संख्या प्रमाण लोकालोक प्रमाण असंख्यात लोक । परमावधि उत्कृष्ट चारित्र वाले संयत के ही होती है । यह वर्धमान होती है हीयमान नहीं, अप्रतिपाती होती है प्रतिपाती नहीं, अवस्थित होती है, अनवस्थित भी वृद्धि की ओर होती है, हानि की ओर नहीं । इस पर्याय में क्षेत्रान्तर में साथ जाने से अनुगामी होती है । परलोक में नहीं जाती इसलिए अननुगामी भी होती है । चरम शरीरी के होने के कारण परलोक तक जाने का अवसर ही नहीं है । सर्वावधि असंख्यात लोक से गुणित उत्कृष्ट परमावधि का क्षेत्र सर्वावधि का क्षेत्र है। काल द्रव्य और भाव पहिले की तरह । यह सर्वावधि न तो वर्धमान होता है न हीयमान, न अनवस्थित और न प्रतिपाती। केवलज्ञान होने तक अवस्थित है और अप्रतिपाती है । पर्यायान्तर को नहीं जाता इसलिए अननुगामी है । क्षेत्रान्तर को जाता है । अत: अनुगामी है ।

परमावधि का देशावधि में अन्तर्भाव करके देशावधि और सर्वावधि ये दो भेद भी अवधिज्ञान के होते हैं ।

ऊपर कहीं गई वृद्धियों में जब कालवृद्धि होती है तब चारों की वृद्धि निश्चित है। पर क्षेत्र वृद्धि होने पर कालवृद्धि भाज्य है । यह अवधिज्ञान श्रीवत्स स्वस्तिक नन्द्यावर्त आदि शरीर चिन्हों में से किसी एक से प्रकट होने पर एक क्षेत्र और अनेक से प्रकट होने पर अनेक क्षेत्र कहा जाता है । इन चिन्हों की अपेक्षा रखने के कारण इसे पराधीन अतएव परोक्ष नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इन्द्रियों को ही "पर" कहा है जैसा कि गीता में भी कहा है - इन्द्रियां पर हैं", इन्द्रियों से भी परे मन है, मन से परे बुद्धि और बुद्धि से भी परे आत्मा है । अत: इन्द्रियों की अपेक्षा न होने से परोक्ष नहीं कह सकते[87] ।

मन:पर्यय ज्ञान - दूसरे के मनोगत अर्थ को मन कहते हैं । सम्बन्ध से उसका पर्ययण अर्थात् परिगमन करने वाला ज्ञान मन:पर्यय कहलाता है[88] । वीर्यान्तराय और मन:पर्यय ज्ञानावरण के क्षयोपशम और अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के आलम्बन से आत्मा में जो दूसरे के मन के सम्बन्ध से उपयोग जन्म लेता हैं उसे मन: पर्ययज्ञान कहते हैं ।

शंका - यह ज्ञान मन की अपेक्षा से होता है अत: इसे मतिज्ञान होने का प्रसङ्ग आता है।

समाधान - यहां मन की अपेक्षा मात्र है । दूसरे के मन में अवस्थित अर्थ को यह जानता है इतनी मात्र यहाँ मन की अपेक्षा है ।

मन: पर्यय ज्ञान के दो भेद होते हैं - ऋजुमति और विपुलमति ।

ऋजुमति - ऋजु का अर्थ निर्वर्तित और प्रगुण है दूसरे के मन को प्राप्त हुए वचन, काय और मन कृत अर्थ के विज्ञान से यह निर्वर्तित होता है । जिसकी मति ऋजु है वह ऋजुमति कहलाता है ।

विपुल मति - विपुल का अर्थ अनिवर्तित और कुटिल है । यह दूसरे के मन को प्राप्त हुए वचन, काय और मनकृत अर्थ के विज्ञान से अनिवर्तित होता है जिसकी मति विपुल है वह विपुल मति कहलाता है ।

इनमें ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान काल की अपेक्षा जघन्य से जीवों के और अपने दो तीन भवों को ग्रहण करता है । उत्कृष्ट से गति और आगति सात-आठ भवों का कथन करता है क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से गव्यूति पृथक्त्व और उत्कृष्ट से योजन पृथक्त्व के भीतर की बात जानता है । इससे बाहर की नहीं । विपुल मति, काल की अपेक्षा जघन्य से सात-आठ भवों को ग्रहण करता है, उत्कृष्ट से गति और आगित की अपेक्षा असंख्यात भवों का कथन करता है क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से योजन पृथक्त्व और उत्कृष्ट से मानुषोत्तर पर्वत के भीतर की बात जानता है । इससे बाहर की बात नहीं जानता[89] ।

ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर - ऋजुमति और विपुलमति में विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा अन्तर है[90] ।

मन: पर्यय ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर जो आत्मा में निर्मलता आती है उसे विशुद्धि कहते हैं । गिरने का नाम प्रतिपात है और नहीं गिरना अप्रतिपात कहलाता है। उपशान्तकषाय जीव का पतन का कारण न होने से प्रतिपात नहीं होता । इन दोनों की अपेक्षा ऋजुमति और विपुलमति में भेद हैं । विशुद्धि यथा - ऋजुमति से विपुलमति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विशुद्धतर है ।

शंका - कैसे ?

समाधान - यहां जो कार्मण द्रव्य का अनन्तवां अन्तिम भाग सर्वावधिज्ञान का विषय है, उसके भी अनन्तभाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है, वह विपुलमति का विषय है । अनन्त के अनन्तभाग है, अत: ये उत्तरोतर सूक्ष्म विषय बन जाते हैं । इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र और काल की अपेक्षा विशुद्धि कही । भाव की अपेक्षा विशुद्धि उत्तरोत्तर सूक्ष्म द्रव्य को विषय करने वाला होने से ही जान लेनी चाहिए, क्योंकि इनका उत्तरोत्तर प्रकृष्ट क्षयोपशम पाया जाता है, इसलिए ऋजुमति से विपुल मति में विशुद्धि अधिक होती है । अप्रतिपात की अपेक्षा भी विपुलमति विशिष्ट है, क्योंकि इसके स्वामियों के प्रवर्धमान चारित्र पाया जाता है । परन्तु ऋजुमति प्रतिपाती है, क्योंकि इसके स्वामियों के कषाय के उदय से घटता हुआ चारित्र पाया जाता है[91] ।

अवधि और मन:पर्यय की विशेषता - विशुद्धि-निर्मलता क्षेत्र- जहाँ के पदार्थों को जानता है, स्वामी - ज्ञानवाला और विषय अर्थात् ज्ञेय इनसे अवधि और मन:पर्यय में विशेषता है[92] ।

यद्यपि सर्वावधिज्ञान का अनन्तवां भाग मन:पर्यय का विषय होता है अत: अल्प विषय है फिर भी वह उस द्रव्य की बहुत सी पर्यायों को जानता है जैसे बहुत शास्त्रों का थोड़ा-थोड़ा परिचय रखने वाले पल्लवग्राही पंडित से एक शास्त्र के यावत् सूक्ष्म अर्थों का तलस्पर्शी गम्भीर व्याख्याओं से जानने वाला प्रगाढ़ विद्वान् विशुद्धतर माना जाता है, उसी तरह मन:पर्यय भी सूक्ष्मग्राही होकर भी विशुद्धतर है । क्षेत्र की अपेक्षा विशेषता बताई जा चुकी है। विषय अभी ही आगे बतायेंगे । मन: पर्यय का स्वामी संयमी मनुष्य ही होता है जबकि अवधिज्ञान चारों गतियों के जीवों में होता है। आगम में कहा है कि मन:पर्यय मनुष्यों के होता है देव, नारकी और तिर्यंचों के नहीं । मनुष्यों में भी गर्भजों के ही होता है सम्मूर्च्छनों के नहीं। गर्भजों में भी कर्मभूमिजों के होता है अकर्म भूमिजों के नहीं । कर्म भूमिजों में पर्याप्तकों के पर्याप्तकों में सम्यग्दृष्टियों के, सम्यग्दृष्टियों में पूर्ण संयमियों के, संयमियों में छठवें बारहवें गुण स्थान वालों के ही, इनमें भी जिनका चारित्र प्रवर्धमान है और जिन्हें कोई ऋद्धि प्राप्त है, उनमें भी किसी को ही होता है सबको नहीं । इस तरह विशिष्ट संयम वालों के होने के कारण मन: पर्यय विशिष्ट है[93] ।

मति और श्रुत ज्ञान का विषय – मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान की प्रवृत्ति कुछ पर्यायों से युक्त सब द्रव्यों में होती है[94] ।

अवधिज्ञान का विषय – अवधिज्ञान की प्रवृत्ति रूपी पदार्थों में होती हुई भी उनकी सब पर्यायों में ही होती है[95] ।

मन:पर्यय ज्ञान का विषय – मन:पर्यय ज्ञान की प्रवृत्ति अवधिज्ञान के विषय के अनन्तवें भाग में होती है[96] । जो रूपी द्रव्य सर्वावधिज्ञान का विषय है उसके अनन्त भाग करने पर उसके एक भाग में मन:पर्यय ज्ञान प्रवृत्त होता है[97] ।

केवलज्ञान – अर्थी जन जिसके लिए बाह्य और आभ्यन्तर तप के द्वारा मार्ग का केवन अर्थात् सेवन करते हैं, वह केवलज्ञान कहलाता है । अथवा केवल शब्द असहाय वाची है इस लिए असहाय ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं[98] ।

केवलज्ञान का विषय – केवलज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्य और उसकी सब पर्यायों में होती है[99] ।

जीव द्रव्य अनन्तानन्त हैं । पुद्गल द्रव्य इनसे भी अनन्तानन्त गुणे हैं । जिनके अणु और स्कन्ध ये भेद हैं । धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन हैं और काल असंख्यात हैं । इन सब द्रव्यों की पृथक्-पृथक् तीनों कालों में होने वाली अनन्तावस्था-पर्याय है । इन सब में केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है । ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्याय समूह है जो केवलज्ञान के विषय के परे हो[100]।

एक आत्मा में एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं – एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर चार तक ज्ञान होते हैं[101] । यदि एक ज्ञान होता है तो केवलज्ञान होता है । यदि दो होते हैं तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं तीन होते हैं तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान या मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान होते हैं तथा यदि चार ज्ञान होते हैं तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान होते हैं । एक साथ पांच ज्ञान नहीं होते । क्योंकि केवलज्ञान असहाय है ।

फुटनोट

1. छहढ़ाला 4/1 से 2
2 रत्नकरण्ड श्रावकाचार - 42
3. सोमदेव उपासकाध्ययन 256-260
4. गुणभूषण श्रावकातार 2/1
5. वही 2/34-37
6. धर्मपीयूषवर्ष श्रावकाचार 2/2-6
7. श्रावकाचार सारोद्धार 2/6
8. वही 12/11-12
9. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 43
10. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 2/44
11. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 45
12. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 46
13. उमास्वामी श्रावकाचार 252
14. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय (पं. डोडरमलजी कृतभाषा टीका) - 36
15. समयसारकलश: 46
16. समयसार नाटक (कर्त्ता कर्म क्रिया द्वार 28)
17 समयसार कलश 115
18. वही 116
19. समयसार कलश : 137
20. वही 14
21. समयसार नाटक (मोक्षद्वार 46)
22. समयसार कलश : 233
23. समयसार कलश, 22
24. समयसार नाटक, निर्जरा द्वार 15
25. समसार कलश 221
26. वही 222
27. समयसार कलश, अजीवद्वार 14
28. समयसार कलश 129-131
29. समयसार नाटक (संवर द्वार 6)
30. समयसार कलश 149

31. समयसार 218-219
32. उपासकाध्ययन 261
33. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा : व्याख्या गाथा 257
34. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 258
35. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 259
36. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा 259 (शुभचन्द्रकृत टीका)
37. वही 260
38. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा 260
39. तत्त्वार्थ वार्तिक 1/9/21-19
40. तत्त्वार्थ सूत्र 1/13
41. तत्त्वार्थ सूत्र 1/13 (पं. बालचन्द शास्त्री कृत व्याख्या)
42. जयधवला 1, पृ. 84
43. गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रंथ पृ. 351-352 (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री कृत व्याख्या)
44. जिनसेन कृत हरिवंश पुराण 10/144
45. हरिवंश पुराण 10/11-143
46. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा 263
47. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 263
48. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 264 (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री कृत व्याख्या)
49. वही 264 (शुभचन्द्र टीका)
50. वही 265
51. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 266
52. वही 266 (शुभचन्द्र टीका)
53. वही 268
54. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 269
55. वही 269
56. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 270
57. वही 270 (शुभचन्द्र टीका)
58. वही 271
59. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 270 (शुभचन्द्र टीका)
60. वही 272
61. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 272
62 वही 273
63. वही 273
64 स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 274
65. वही
66. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 275 (शुभचन्द्र टीका)
67. वही 276
68. वही 276
69. वही 277
70. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 277 (शुभचन्द्र टीका)
71. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 277
72. वही 278 (शुभचन्द्र टीका)
73. सन्मति सन्देश जून 1966 पृ. 15-16
74. षड्दर्शन समुच्चय पृ. 360
75. वीरोदय 19/5
76. वीरोदय 19/9
77 वही 19/11
78 वही 19/10
79. वही 19/12
80. वही 19/21
81. वही 19/22
82 वही 19/23
83. सिद्धि विनिश्चय टीका पृ. 154-157
84. युक्त्यनुशासन-45
85. तत्त्वार्थ सूत्र 1/21 (सर्वार्थसिद्धि टीका)
86 तत्त्वार्थ सूत्र 1/12 (सर्वार्थसिद्धि टीका)
87 तत्त्वार्थ वार्तिक 1/22/4
88. सवार्थ सिद्धि 1/9
89. सर्वार्थसिद्धि 1/23
90 तत्त्वार्थ सूत्र 1/24
91. सर्वाथ सिद्धि 1/24
92. तत्त्वार्थ सूत्र 1/25
93 तत्त्वार्थ वार्तिक 1/25/1
94. तत्त्वार्थ सूत्र 1/26
95. तत्त्वार्थ सूत्र 1/27
96. तत्त्वार्थ सूत्र 1/28
97. सर्वार्थसिद्धि व्याख्या 1/28
98. वही 1/9
99. तत्त्वार्थ सूत्र 1/29
100. सर्वार्थसिद्धि व्याख्या 1/29
101. एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः 1/30

❑❑❑

सम्यक् चारित्र

चारित्र धारण करने की आवश्यकता - दर्शन मोहरूपी अन्धकार के नाश हो जाने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से हो गया है सम्यग्ज्ञान जिसको ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव रागद्वेष की निर्वृत्ति के लिए सम्यक्चारित्र को धारण करता है[1]।

चारित्र का स्वरूप - हिंसा, असत्य, चोरी तथा मैथुन सेवा और परिग्रह इन पांचों पाप की प्रणालियों से विरक्त होना सम्यग्ज्ञानी का चारित्र है[2]। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ जो मूल और उत्तर गुणों का पालन करना है, वह चारित्र है, अन्य नहीं तथा यही चारित्र मोक्ष का कारण है[3]। बाह्य, आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर नग्न मुद्रा, समता, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का धारक होकर जो शुद्ध चिद्रूप का स्मरण करता है उसी को उत्तम चारित्र होता है[4]। सम्यम्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ ही सम्यक्चारित्र सज्जनों को आचरणीय है और वह ही समस्त संसार में पूज्य तथा स्वर्ग आदि सुखों को प्राप्त कराने वाला है[5]।

निश्चय और व्यवहार चारित्र - जहां पर सावद्य हिंसा के कारण रूप पदार्थों से निर्वत्ति और शुभ कार्य में प्रवृत्ति हो उसे व्यवहार चारित्र कहते हैं और वह तेरह प्रकार का है[6]। अर्थात् पाँच प्रकार के व्रत, पांच समिति, और तीन गुप्ति इस तरह तेरह प्रकार का व्यवहार चारित्र होता है। आत्मिक शुद्ध स्वरूप में जो निश्चल रूप से स्थिति है, उसे निश्चय चारित्र कहते हैं और इस चारित्र की प्राप्ति से समस्त कर्मों का अवश्य ही नाश हो जाता है। यदि इस जीव की सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान के बल से शुद्ध चिद्रूप में निश्चल रूप से स्थिति हो जाये और पर पदार्थों से सर्वथा प्रेम हट जाये तो उसी को शुद्ध निश्चय नय से चारित्र समझना चाहिए[7]।

व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय में साधनसाध्य भाव - निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति में व्यवहार रत्नत्रय साधन है और निश्चय रत्नत्रय साध्य है तथा यह निश्चय रत्नत्रय मुनियों का उत्तम भूषण है[8]।

यह व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकार का रत्नत्रय शुद्ध चिद्रूप के स्वरूप की प्राप्ति में असाधारण कारण है। बिना दोनों प्रकार के रत्नत्रय को प्राप्त किये कदापि शुद्ध चिद्रूप के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। इस शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति बिना रत्नत्रय के आज तक कभी और किसी देश में नहीं हुई। सबको रत्नत्रय की प्राप्ति के अनन्तर ही शुद्ध चिद्रूप का लाभ हुआ है[9]।

आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि आत्म स्वरूप में चरण करना सो चारित्र है। स्व समय में प्रवृत्ति करना यह उसका तात्पर्य है, यही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है। शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना इसका अर्थ है वही यथावस्थित आत्म गुण होने से साम्य है और साम्य दर्शन मोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मोह और क्षोभ के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकार जीव का परिणाम है[10]।

चारित्र के भेद - चारित्र सकल और विकल (एक देश और सर्व देश) के भेद से दो प्रकार का है उनमें से समस्त प्रकार के परिग्रहों से विरक्त मुनियों का तो सकल चारित्र है और गृहादि सहित गृहस्थों का विकल चारित्र है[11]।

श्रावकाचार

गृहस्थों का चारित्र अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप तीन प्रकार का है और वह तीन प्रकार का चारित्र क्रम से पांच, तीन और चार इस प्रकार भेद रूप कहा गया है[12]।

अणुव्रत – हिंसा, असत्य, चोरी, काम (कुशील) और मूर्च्छा अर्थात् परिग्रह इन स्थूल पापों से विरक्त होना अणुव्रत है[13]।

अहिंसाणुव्रत – मन, वचन, काय के संकल्प से और कृत कारित अनुमोदना से त्रस अर्थात् दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों को जो नहीं हनता है, उस क्रिया को गणधरादिक निपुण पुरुष स्थूल हिंसा से विरक्त होना अर्थात् अहिंसाणुव्रत कहते हैं[14]। हिंसादिक पांच पाप एक हिंसा रूप ही हैं। चूंकि ये आत्मा के शुभोपयोग रूप परिणाम के घातने के कारण हैं अत: सब हिंसा ही हैं। असत्य, चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रह त्याग ये भेद केवल शिष्य के समझाने के लिए उदाहरण रूप कहे गये हैं[15]। अपने मन, वचन, काय में क्रोधादि कषाय प्रकट होने पर प्रथम तो अपने शुद्धोपयोग रूप भाव प्राणों का घात हुआ तथा प्रमाद व तीव्र कषायादि से अपघात कर मर गया तथा चोरी आदि हिंसा के कारण किसी ने अंगों का छेदन किया, प्राणों का घात किया, इस प्रकार द्रव्य प्राणों का घात हुआ। तथा अन्य जीवों को कुवचनादिक कहकर उसका मर्मछेदन किया, जिससे उसका अन्तरङ्ग पीड़ित हुआ। इससे अन्य जीवों को पीड़ा दी अथवा प्राणान्त ही किया। इस प्रकार दूसरे के प्राण व्यपरोपण से उसकी द्रव्यहिंसा हुई[16]। अधिक कहने से क्या, धर्म का लक्षण अहिंसा है। अहिंसा रागादि भावों का अभाव होना है। अत: जैसे बने, रागादिक घटें, यही प्रयत्न करना चाहिए। रागादिक के आवेश बिना कदाचित् किसी जीव को पीड़ा हो जाय तथा इसके शरीर आदि सम्बन्ध से घात हो जाय तो इसे हिंसा का दोष लगता है। यदि कोई जीव प्रमादी होकर गमनादि क्रियाओं में यत्नपूर्वक प्रवृति नहीं करता है, वहां जीव मरे या न मरे, किन्तु इसे तो कषायभावों से अवश्य ही हिंसा का दोष लगता है[17]। अत: मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना से श्रावक को हिंसा का त्याग करना चाहिए। मुनि तो हिंसा का त्यागी है ही। अहिंसा व्रत का पालन करने वाला जीव दया सहित हो समस्त कार्यों में प्रवृत्ति करता है तथा समस्त प्राणियों को अपने समान मानता है जिसमें त्रसहिंसा विशेष मानता है, ऐसे व्यापारादिक, बहुत आरम्भादिक कार्य को छोड़ता हुआ प्रवृत्ति करता है। यदि यत्नपूर्वक कार्य में भी हिंसा हो जाय तो उसकी अपने मन में निन्दा करता है तथा गुरूओं के पास अपने पाप को कहता है। जो पाप लगा, उसका गुरू की आज्ञानुसार प्रतिक्रमण, प्रायश्चित करता है। तात्पर्य यह है कि अहिंसा व्रत का पालन करने वाला त्रस घात स्वयं नहीं करता है, दूसरों से नहीं कराता है, करते हुए की अनुमोदना नहीं करता है। जो गृहस्थ का कार्य अवश्य करना ही पड़े उसे त्यागना चाहिए।

सत्याणुव्रत – जो स्थूल झूठ न तो आप बोलें और न दूसरों से बुलवाये तथा विपत्ति के समय अर्थात् जिस वचन से किसी को आपदा आ जावे उसके लिए यथार्थ भी न आप बोलें, न दूसरों से बुलवाये, उसको सत्पुरुष (गुणधरादिक) स्थूल झूठ वचन से विरक्त होना अर्थात् सत्याणुव्रत कहते हैं[18]।

आचार्य उमास्वामी ने अपने तत्त्वार्थ सूत्र में असत्य का लक्षण बतलाया है –

"असदभिधानमनृतम् अ 7 सू. 14 ॥"

इसका व्याख्यान करते हुए सर्वार्थसिद्धि के कर्त्ता ने कहा है "असत् का अर्थ है - अप्रशस्त और जिससे प्राणी को पीड़ा पहुंचती हो वह वचन, चाहे वह सच्चा हो या झूठा, अप्रशस्त है अत: उसका बोलना असत्य है।" जैसे - काने मनुष्य को काना कहना यद्यपि सत्य है, किन्तु है मर्मभेदी, अत: वह झूठ में ही सम्मिलित है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में असत्य के चार भेद किये हैं - विद्यमान वस्तु का विषेध करना पहला असत्य है, जैसे देवदत्त के घर में होते हुए भी यह कहना कि देवदत्त यहाँ नहीं है। अविद्यमान वस्तु को विद्यमान बतलाना दूसरा असत्य है, जैसे घटके नहीं होते हुए भी यह कहना कि घट है। कुछ का कुछ कह देना तीसरा असत्य है जैसे बैल को घोड़ा बतलाना। चौथे असत्य के भी तीन भेद हैं - गर्हित, सावद्य और अप्रिय। किसी की चुगली करना, हंसी करना, किसी को कठोर बातें कहना, बक-झक करना आदि गर्हित कहलाता है। मारो, काटो, इसके घर में आग लगा दो, इसे लूट लो, इत्यादि वचनों को सावद्य कहते हैं। जो वचन, वैर, शोक, कलह, खेद और सन्ताप करने वाला हो वह अप्रिय है। इस प्रकार के वचन चूंकि प्रमाद के कारण ही बोले जाते हैं, इसलिए ये सब हिंसा में ही सम्मिलित हैं। किन्तु जहाँ कोई हित की दृष्टि से दूसरे को कठोर शब्द कहता है वहां उसका उद्देश्य सत् होने से वे कठोर वचन उक्त वचनों में गर्भित नहीं समझे जाते।

जो लोग अपनी सांसारिक जीवन यात्रा में सहायक असत्य वचन को छोड़ने में असमर्थ हैं उन्हें भी अन्य असत्य वचनों को सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

सोमदेव सूरि ने उपासकाध्ययन में असत्य[19] का वर्णन करते हुए वचन के चार भेद दूसरे प्रकार से किये हैं। वे भेद हैं - असत्य सत्य, सत्य असत्य, सत्य सत्य और असत्य असत्य। इसका अभिप्राय यह है कि कोई वचन सत्य होते हुए भी सत्य होता है जैसे भात पकाता है, कपड़ा बुनता है। कोई वचन सत्य होते हुए भी असत्य है। जैसे किसी ने कहा कि तुम्हें मैं पन्द्रह दिन बाद तुम्हारी चीज लौटा दूँगा, किन्तु प्रतिज्ञात समय पर न लौटाकर एक माह बाद या एक वर्ष बाद लौटाता है। जो वस्तु जहां पर जिस रूप में देखी या सुनी थी उसको वैसा ही कहना सत्य-सत्य है और सर्वथा झूठ वचन असत्य-असत्य है। इसमें से पहले के तीन वचन ही लोक यात्रा में सहायक हैं। अत: चौथे प्रकार के झूठ को कभी नहीं बोलना चाहिए[20]।

अचौर्याणु व्रत - चोरी का उपाय बताना चोरी का द्रव्य लेना, राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना, अधिक मूल्य की वस्तु में हीन मूल्य की वस्तु मिलाकर चला देना और नापने तौलने के गज, बांट या तराजू आदि को हीनाधिक रखना ये पांच स्थूल चोरी के त्याग के अर्थात् अचौर्याणुव्रत के अतीचार हैं[21]।

पानी, घास आदि जो वस्तु सबके भोगने के लिए है उनके सिवाय शेष सब बिना दी हुई पर वस्तुओं को ले लेना चोरी है। यदि कोई ऐसे कुटुम्बी मर जायें जिनका उत्तराधिकार हमें प्राप्त है तो उनका धन बिना दिये हुए भी लिया जा सकता है। किन्तु यदि वह जीवित हों तो उनकी आज्ञा से ही उनका धन लिया जा सकता है। उनकी जीवित अवस्था में ही उनसे पूछे बिना उनका धन ले लेने से अचौर्याणुव्रत की क्षति होती है। अपना धन हो या दूसरों का हो, जिसमें चोरी के भाव से प्रवृत्ति की जाती है तो वह चोरी ही समझना चाहिए। रिक्त (जिसका स्वामी मर गया है, ऐसा धन) निधि और निधान से प्राप्त हुआ धन राजा का होता है किसी दूसरे का नहीं, क्योंकि

जिस धन का कोई स्वामी नहीं है उसका स्वामी राजा होता है। अपने द्वारा उपार्जित द्रव्य में भी यदि संशय हो जाये कि यह मेरा है या दूसरे का, तो वह द्रव्य ग्रहण करने के अयोग्य है अतः व्रती को अपने कुटुम्ब के सिवाय दूसरों का धन नहीं लेना चाहिए। किसी मकान में, मार्ग में, पानी में, जंगल में या पहाड़ में रखा हुआ, दूसरों का धन अचौर्याणुव्रती को नहीं लेना चाहिए[22]।

ब्रह्मचर्याणुव्रत – जो पाप के भय से न तो परस्त्री के प्रति गमन करें और न दूसरों को गमन करावे, वह परस्त्री त्याग तथा स्वदार संतोष नाम का अणुव्रत है[23]। सर्वाथ सिद्धि में लिखा है[24] कि गृहीत या अगृहीत परस्त्री के साथ रति न करना गृहस्थ का चौथा अणुव्रत है। पुरुषार्थ[25] सिद्धयुपाय में लिखा है कि जो मोहवश अपनी स्त्री को छोड़ने में असमर्थ है उन्हें भी शेष सब स्त्रियों का सेवन नहीं करना चाहिए। सोमदेव कृत[26] उपासकाध्ययन में लिखा है पत्नी और वेश्या को छोड़कर अन्य सब स्त्रियों को माता बहन और पुत्री समझना गृहस्थ का ब्रह्मचर्य है। स्वामी[27] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है कि जो मन, वचन, और काय से परस्त्री को माता, बहिन और पुत्री के समान मानता है वह स्थूल ब्रह्मचर्याणुव्रती है। अमित गति ने भी यही बतलाया है। वसुनन्दि श्रावकाचार में लिखा है कि पर्व के दिन स्त्रीभोग और अनंगक्रीड़ा को जो सदा के लिए छोड़ देता है वह स्थूल ब्रह्मचारी है। सागारधर्मामृत[28] में लिखा है जो पाप के भय से मन, वचन और काय से परस्त्री और वेश्या के पास न स्वयं जाता है और न दूसरों को भेजता है, वह स्वदार सन्तोषी है।

परिग्रह परिमाण व्रत – बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओं में यह मेरी है, इस प्रकार के संकल्प को परिग्रह कहते हैं। उसके विषय में चित्त वृत्ति को संकुचित करना चाहिए अर्थात् संकल्प को घटाकर परिग्रह का परिमाण करना चाहिए। खेत, अनाज, धन, मकान, ताँबा, पीतल आदि धातु शय्या, आसन, दास, दासी, पशु और भोजन ये दश बाह्य परिग्रह है। मिथ्यात्व, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद हास्य, शोक, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, और लोभ ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं अथवा चेतन और अचेतन के भद से बाह्य परिग्रह दो प्रकार का है और संसार के कारणभूत कर्माशय की अपेक्षा अन्तरंग परिग्रह एक ही प्रकार का है। जो धन की वांक्षा करते रहते हैं उनके मनोरथ सफल नहीं होते। क्योंकि वांक्षा करने मात्र से इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। जहां साथ पैदा होने वाला शरीर भी स्थाई नहीं वहां शरीर से भिन्न धन, स्त्री और पुत्र में महात्माओं की आस्था कैसे हो सकती है? वह मनुष्य धनी होकर भी गरीब है तथा मनुष्य होकर भी मनुष्यों में नीच है जो धन को न धर्म में लगता है और न भोगता है। जो धन को पाकर मद नहीं करते और धन के न मिलने पर उसकी इच्छा नहीं वे ही इस लोक और परलोक में लक्ष्मी के स्वामी होते हैं। मन में धन की चिन्ता करने का फल पाप के सिवाय और कुछ भी नहीं है। अस्थान में क्लेश करने से क्लेश के अतिरिक्त और क्या फल हो सकता है ? अन्तरंग और बाह्य परिग्रह में जिसका मन अनासक्त है वह महान् पुण्यशाली सर्वत्र सुख भोगता है। जो पुरुष बाह्य परिग्रह में आसक्त है उसका मन कैसे विशुद्ध हो सकता है। जो धन तुष – छिलके सहित है उसके भीतरी भाग का स्वच्छ पाया जाना दुर्लभ है। जो सत्पात्र को दान देकर धन का संग्रह करने में तत्पर है वह उस धन को परलोक में अपने साथ ले जाता है अतः वह लोभियों में परम् लोभी है, किन्तु जो धन को ही [illegible]टकर रखता है, न उसे भोगता है, न उसे किसी को देता है वह तो उसे यहीं छोड़ जाता है। अ[illegible]: सत्पात्र में धन का खर्च करना ही उत्तम है। पुण्य रूपी धन ही सच्चा धन

है। जितने धन का परिमाण किया है लोभ में आकर उससे अधिक का संचय करना गृहस्थों के परिग्रह परिमाण व्रत को हानि पहुँचाता है जिस प्राणी का मन अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह में निस्पृह है वह क्षण भर में मोक्ष और स्वर्ग की लक्ष्मी का स्वामी बन जाता है। धन की बहुत अधिक तृष्णा होने पर मनुष्यों का मन पाप के भार से दबकर संसाररूपी भंवर के गड्ढे में चला जाता है[29]।

अहिंसाणुव्रत के अतिचार - 1 छेदना, 2. बांधना, 3. पीड़ा देना तथा 4. बहुत भार लादना और 5. आहार देने में त्रुटि करना, ये पांच स्थूल हिंसा त्याग के अर्थात् अहिंसाणुव्रत के अतिचार है[30]।

सत्याणुव्रत के अतिचार - मिथ्या उपदेश देना, किसी के गुप्त रहस्य को प्रकट करना, चुगली व निंदा करना तथा झूठी बातें लिखना और किसी की धरोहर को हरना। ये पांच सत्याणुव्रत के अतिचार है[31]।

अचौर्याणुव्रत के अतिचार - चोरी का उपाय बताना, चोरी का द्रव्य लेना, राज़ा की आज्ञा का उल्लंघन करना, अधिक मूल्य की वस्तु में हीन मूल्य की वस्तु मिलाकर चला देना और नापने तौलने के गज़, बांट, तराजू आदिक हीनाधिक रखना ये पांच स्थूल चोरी के त्याग अर्थात् अचौर्याणुव्रत के अतिचार है[32]।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार - दूसरे का विवाह करना, काम सेवन के अंगों से भिन्न अंगों द्वारा कामक्रीड़ा करना, भंड वचन बोलना, स्वस्त्री के सेवन में भी अतिशय इच्छा रखना और व्यभिचारिणी स्त्री के यहाँ जाना-आना अर्थात् किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखना ये पांच परस्त्रीत्याग या ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार है[33]।

परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार - प्रयोजन से अधिक सवारी रखना, आवश्यकीय वस्तुओं का अतिशय संग्रह करना, परका विभव देख आश्चर्य करना, बहुत लोभ करना और किसी पर बहुत भार लादना ये पांच परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार कहे जाते हैं[34]।

अतिचारों की पंचरूपता का रहस्य - जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय का तीव्र उदय होता है तो व्रत, जड़ मूल से ही खंडित हो जाता है उसके लिए आचार्यो ने अनाचार नाम का प्रयोग किया है। यदि किसी व्रत के लिए सौ अंक मान लिये जावें तो एक से लेकर 99 अंक तक का व्रत खंडन अतिचार की सीमा के भीतर आता है क्योंकि व्रत धारक की एक प्रतिशत अपेक्षा व्रत, धारण में बनी हुई है। यदि वह एक प्रतिशत भी व्रत सापेक्षता न रहे और व्रत शत प्रतिशत खंड्रित हो जावें तो उसे अनाचार कहते हैं। अनेक आचार्यो ने इस दृष्टि को लक्ष्य में रखकर के अतिचारों की व्याख्या की है किन्तु कुछ आचार्यों ने अतिचार और अनाचार इन दो के स्थान पर अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार ऐसे चार विभाग किये हैं उन्होंने मन के भीतर व्रत सम्बन्धी शुद्धि की हानि को अतिक्रम, व्रत की रक्षा करने वाली शील बाढ़ के उल्लंघन को व्यतिक्रम। विषयों में प्रवृत्ति करने को अतिचार और विषय सेवन में अति आसक्ति को अनाचार कहा है। जैसा कि आचार्य अमितगति ने कहा है -

> क्षतिं मनः शुद्धि विधेरतिक्रमं, व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलंघनम्।
> प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचार मिहातिसक्तताम्॥
>
> – *सामायिक पाठ श्लोक 9.*

उस व्यवस्था के अनुसार प्रारम्भ से लेकर तेतीस अंश तक के व्रत भङ्ग को अतिक्रम 34 से लेकर 66 अंश तक के व्रत भङ्ग को व्यतिक्रम 67 से लेकर 99 अंश तक के व्रत भङ्ग को अतिचार और शत प्रतिशत व्रत भङ्ग को अनाचार समझना चाहिए।

परन्तु प्रायश्चित शास्त्रों के प्रणेताओं ने उक्त चार के साथ "आभोग" को बढ़ा करके व्रत भंग के पाँच विभाग किये हैं उनके मत से एक बार व्रत खण्डित करने का नाम अनाचार है और व्रत खण्डित होने के बाद नि:शंक होकर उत्कट अभिलाषा के साथ विषय सेवन करने का नाम आभोग है। किसी-किसी प्रायश्चित्त शास्त्रकार ने अनाचार के स्थान पर छन्नभंग नाम दिया है।

प्रायश्चित सास्त्रकारों के मत से एक अंश से लेकर पच्चीस अंश तक के व्रत भङ्ग को अतिक्रम, 26 से लेकर 50 अंश तक के व्रत को व्यतिक्रम, 51 से लेकर 75 अंश तक के व्रत को अतिचार, 76 से लेकर 99 अंश तक के व्रत भङ्ग को अनाचार और शत-प्रतिशत व्रत भङ्ग को आभोग समझना चाहिए[35]।

प्रत्येक व्रत के पांच-पांच अतिचारों में से एक-एक अतिचार अतिक्रम जनित है। एक-एक व्यतिक्रम जनित है। एक-एक अतिचार जनित है, एक-एक अनाचार जनित है और एक-एक आभोग जनित है। प्रायश्चित चूलिका के टीकाकार ने उक्त प्रकार से ही व्रत सम्बन्धी दोषों के पांच-पांच भेद किये हैं यथा -

"सर्वेऽपि व्रत दोषा: पंचषष्टिभेदा भंवति। तद्यथा -अतिक्रमो व्यतिक्रमोऽति चारोऽनाचारं आभोग इति। एषामर्थश्चायमिभधीयतेजरद्गवन्यायेन। यथा कश्चिद् जरद्गव: महाशस्यसमृद्धि-सम्पन्नं क्षेत्रं समवलोक्य तत्सीम समीप प्रदेश मववस्थितस्तत्प्रतिस्पृहां संविधत्ते सोऽतिक्रम:। पुनर्विवरोदरान्तारस्यं संप्रवेश्य ग्रासमेकं समाददामीर्त्यभिलाष-कमुष्यस्य व्यतिक्रम:। पुनरपि तद्-वृत्ति-ममुल्लंघनमस्यातिचार:। पुनरपि क्षेत्रमध्य मधि गम्य ग्राममेकं समादाय पुनरस्यापसरणमनाचार: भूयो पि नि:शंकित: क्षेत्रमध्यं प्रविश्य यथेष्टं संभक्षणं क्षेत्र प्रभुणां प्रचण्डदण्डताडनखलीकार: आभोगकार: आभोग इति*। एवं व्रतादिष्वापि योज्यम्। - प्रायश्चित चूलिका. श्लो. 146 टीका।

प्रत्येक व्रत के दोष अतिक्रम आदि के भेद से पांच प्रकार के होते हैं। इन पांचों का अर्थ एक बूढ़े बैल के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया गया है। कोई बूढ़ा बैल धान्य के हरे भरे किसी खेत को देखकर उसकी बाढ़ के समीप बैठा हुआ उसे खाने की मन में इच्छा करता है, यह अतिक्रम दोष है। पुन: वह बैठा-बैठा ही बाढ़ के किसी छिद्र से भीतर मुख डालकर एक ग्रास धान्य खाने की अभिलाषा करे तो यह व्यतिक्रम दोष है। अपने स्थान मे उठकर और खेत की बाढ़ को तोड़कर भीतर घुसने का प्रयत्न करना अतिचार नाम का दोष है। पुन: खेत में घुसकर एक ग्रास घास या धान्य को खाकर वापिस लौट जावे, तो यह अनाचार नाम का दोष है किन्तु जब वह नि:शंक होकर और खेत के भीतर घुसकर यथेच्छ घास खाता है और खेत के स्वामी द्वारा डण्डों से पीटे जाने पर भी घास खाना नहीं छोड़ता तो आभोग नाम का दोष है। जिस प्रकार अतिक्रमादि दोषों को बूढ़े बैल के ऊपर घटाया गया है, उसी प्रकार से व्रतों के ऊपर भी घटित कर लेना चाहिए।

इस बात से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि अतिक्रमादि पांच प्रकार के दोषों को ध्यान में रखकर ही प्रत्येक व्रत के पांच-पांच अतिचार बतलाये गये हैं।

श्रावक धर्म का वर्णन करने वाले जितने भी ग्रन्थ हैं। उनमें से व्रतों के अतिचारों का वर्णन और श्वेताम्बर उपासक दशांग सूत्र में ही सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है तथा श्रावकाचारों में से सर्वप्रथम रत्नकरण्ड श्रावकाचार में अतिचारों का वर्णन पाया जाता है। जब तत्त्वार्थसूत्र वर्णित अतिचारों की उपासकदशांगसूत्र से जो श्वेताम्बरों द्वारा सर्वमान्य है तुलना करते हैं तो यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि एक दूसरे पर प्रभाव ही नहीं है, अपितु एक ने दूसरे के अतिचारों का अपनी भाषा में अनुवाद किया है। यदि दोनों के अतिचारों में कहीं अन्तर है तो केवल भोगोपभोगपरिमाण व्रत के अतिचारों में है। उपास-कदशांगसूत्र में इस व्रत के अतिचार दो प्रकार से बतलाए हैं - भोगत: और कर्मत:। भोग की अपेक्षा वे ही पांच अतिचार बतलाये गये हैं जो तत्त्वार्थ सूत्र में दिये गये हैं। कर्म की अपेक्षा उपासकदशांग सूत्र में पन्द्रह अतिचार कहे गये हैं जो कि खरकर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं और पं. आशाधर जी ने सागारधमा मृत में जिनका उल्लेख किया है[36]।

गुणप्रत्यय - गुणों को बढ़ाने से दिग्व्रत, अनर्थदण्ड व्रत और भोगोपभोग परिमाण व्रत को गुणव्रत कहते हैं[37]। सागार धर्मामृत के अनुसार जो अणुव्रतों को उपकार करे, उसे गुणव्रत कहते हैं। श्वेताम्बरीय[38] ग्रन्थों में यही लक्षण पाया जाता है। गुणव्रत और शिक्षाव्रत में अन्तर बतलाते हुए लिखा है कि सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास और अतिथि संविभाग ये स्वल्प कालिक होते हैं अत: गुणव्रतों से इनका भेद है। गुणव्रत तो प्राय: जीवन पर्यन्त होते हैं इनमें से भी सामायिक और देशावकाशिक तो प्रतिदिन किये जाते हैं और प्रोषधोपवास तथा अतिथि संविभाग प्रति नियत दिन ही किये जाते हैं। प्रतिदिन नहीं किये जाते। पं आशाधर जी ने भी देशव्रत को शिक्षाव्रत बतलाते हुए यही उपपत्ति दी है। उन्होंने लिका है[39] कि शिक्षा प्रधान होने से तथा नियत काल के होने से देशव्रत शिक्षा व्रत है यह दिग्व्रत की तरह जीवन पर्यन्त के लिए नहीं होता। तत्त्वार्थ सूत्रवगैरह में जो इसे गुणव्रत बतलाया है वह केवल दिग्व्रत को संकुचित करने की दृष्टि से बतलाया है[40]।

दिग्व्रत का स्वरूप - मरण पर्यन्त सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिए दशों दिशाओं का परिमाण करके इसमे बाहर में नहीं जाऊंगा इस प्रकार संकल्प करना या निश्चय कर लेना सो दिग्व्रत है[41]।

दिग्व्रत धारण करने की मर्यादा - दशों दिशाओं के त्याग में प्रमिद्ध प्रसिद्ध समुद्र नदी, पर्वत, देश और योजन पर्यन्त की मर्यादा कहते हैं[42]।

दिग्व्रत धारण करने का फल - मर्यादा से (हृदय से) बाहर सूक्ष्म पापों की निवृत्ति (त्याग) होने से दिग्व्रत धारियों के अणुव्रत पंच महाव्रतों की सदृशता को प्राप्त हो जाते हैं[43]।

अनर्थदण्ड व्रत का स्वरूप - दिशाओं की मर्यादा के भीतर-भीतर प्रयोजन रहित पाप के कारणों से विरक्त होने को व्रतधारियों में अग्रगण्य पुरुष अनर्थदण्ड व्रत कहते हैं[44]।

अनर्थदण्ड के पांच भेद - दण्ड को नहीं धरने वाले गणधरादिक आचार्य - पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दु:श्रुति और प्रमादचर्या इन पांचों को अनर्थदण्ड कहते हैं[45]।

पापोपदेश - तिर्यंचों को क्लेश पहुंचाने वाले, वणिज का प्रसार करने वाले और प्राणियों की हिंसा के कारण भूत आरम्भ आदि के विषय में पाप बहुल वचन बोलना पापोपदेश नाम का अनर्थ दण्ड है[46]।

हिंसाप्रदान नाम का अनर्थदण्ड - विष, कांटा, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, चाबुक और लकड़ी आदि हिंसा के उपकरणों का प्रदान करना हिंसाप्रदान नाम का अनर्थदण्ड है[47]।

अपध्यान नाम का अनर्थ दण्ड - दूसरों का जय पराजय, मारना, बांधना, अंगों का छेदना और धन का अपहरण आदि कैसे किया जाय इस प्रकार मन से विचार करना अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड है[48] ।

अशुभश्रुति नाम का अनर्थदण्ड - हिंसा और रागादि को बढ़ाने वाली दुष्ट कथाओं का सुनना और उनकी शिक्षा देना अशुभश्रुति नाम का अनर्थदण्ड है[49] ।

प्रमादचर्या - नाम का अनर्थदण्ड - बिना प्रयोजन के वृक्षादि का छेदना, भूमि का कूटना, पानी का सींचना आदि पाप कार्य प्रमादाचरित नाम का अनर्थदण्ड है[50] ।

भोगोपभोग परिमाण व्रत का स्वरूप - राग, रति आदि भोगों को घटाने के लिए परिग्रह परिमाण व्रत की की हुई मर्यादा में भी प्रयोजनभूत इन्द्रियों के विषयों का प्रतिदिन परिमाण कर लेना सो भोगोपभोग[51] परिमाण नाम का गुणव्रत कहा जाता है ।

भोग और उपभोगयोग्य पदार्थों का निर्णय - भोजन-वस्त्रादिक सम्बन्धी विषय जो भोग करके त्यागने योग्य हों अर्थात् फिर भोगने में नहीं आवें, वे तो भोग हैं और भोग करके फिर भी भोगने योग्य हों अर्थात् बार-बार भोगने में आते रहें वे उपभोग हैं[52] ।

भोगोपभोग परिमाण व्रत में विशेष त्याग - जिनेन्द्र भगवान् के चरणों की शरण में आने वाले भव्यों द्वारा त्रस जीवों की हिंसा के निवारणार्थ मधु, मांस और प्रमाद दूर करने के लिए मदिरा त्याग देने योग्य है[53] ।

फल थोड़ा परन्तु त्रस हिंसा अधिक होने से सचित्त मूल, गाजर (हरित) अद्रक, मक्खन, नीम के फूल, केतकी के फूल इत्यादि वस्तुयें छोड़ने योग्य हैं[54] ।

गुणव्रतों के अतिचार

1. दिग्व्रत के अतिचार - अज्ञान व प्रमाद से ऊपर की, नीचे की तथा विदिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन करना, क्षेत्र की मर्यादा बढ़ा लेना और की हुई मर्यादाओं को भूल जाना, ये पांच दिग्व्रत के अतिचार माने जाते हैं[55] ।

2. अनर्थदण्डव्रत के अतिचार - राग से हास्यमिश्रित भंड वचन बोलना, काय की कुचेष्टा करना, वृथा बकवाद करना, व्यर्थ ही भोगोपभोग की सामग्री बढ़ाना, प्रयोजन की जांच किये बिना ही कुछ करना अथवा प्रयोजनरहित अधिकता के साथ मन वचन काय को प्रवर्त्ताना, ये पांच अनर्थदण्ड त्याग नामक गुणव्रत के अतिचार हैं[56] ।

भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतिचार - विषयरूपी विष की उपेक्षा नहीं करना अर्थात् आदर रखना, पूर्व काल में भोगे हुए विषयों का स्मरण रखना, वर्तमान के विषय भोगने में अतिशय लालसा रखना, भविष्यत् में विषय प्राप्ति की अतिशय तृष्णा रखना और विषय नहीं भोगने हुए भी विषय भोगता हूं ऐसा अनुभव करना, ये पांच भोगोपभोग परिमाण नामक व्रत के अतिचार हैं[57] ।

शिक्षाव्रत - जिन व्रतों का पालन करने से मुनिव्रत धारण करने की शिक्षा मिलती है उन्हें शिक्षा व्रत कहते हैं ।

1. आचार्य कुन्दकुन्द[58] ने दिशा, विदिशा प्रमाण, अनर्थदण्ड त्याग और भोगोपभोग परिमाण ये तीन गुणव्रत बतलाये हैं और सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिपूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं ।

2. तत्त्वार्थ सूत्र में 3 गुणव्रत और 4 शिक्षाव्रत भेद न करके सात शील बतलाये हैं – दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्ड विरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग परिमाण और अतिथि संविभाग। सल्लेखना को उसमें अलग से बतलाया है। सर्वार्थसिद्धि टीका में प्रारम्भ के तीन व्रतों को गुणव्रत बतलाया है किन्तु शेष चार को कोई नाम नहीं दिया[59]।

3. रत्नकरण्ड श्रावकाचार में दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाण व्रत ये तीन गुणव्रत बतलाये हैं और देशावकाशिक, सामायिक प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं। सल्लेखना को पृथक् बतलाया है[60]।

4. पद्मचरित में अनर्थदण्डव्रत, दिग्विदिक्त्याग, भोगोपभोग संस्थान ये तीन गुणव्रत बतालाये हैं और सामायिक, प्रोषधोपवास अतिथि संविभाग और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं। भाव संग्रह में भी यही क्रम अपनाया है[61]।

5. हरिवंश पुराण[62] में गुणव्रत तो तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार गिनाये हैं किन्तु शिक्षाव्रतों में भोगोपभोग परिमाण को न गिनाकर सल्लेखना को गिनाया है।

6. आदिपुराण[63] में दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थ दण्डव्रत को गुणव्रत बतलाकर लिखा है। कोई भोगोपभोग परिमाण व्रत को भी गुणव्रत कहते हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथि संविभाग और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं।

7. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय सोमदेव कृत उपासकाध्ययन, चारित्र सार, अमितगति श्रावकाचार, पद्मनन्दि पंचविंशतिका और लाटी संहिता में तत्त्वार्थ सूत्र का ही क्रम अपनाया गया है।

8. स्वामी[64] कार्तिकेयानुप्रेक्षा और सागारधर्मामृत श्रावकाचार के अनुसार व्रत बतलाये हैं।

9. वसुनन्दि[65] श्रावकाचार में गुणव्रत तो तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार हैं और शिक्षाव्रत इस प्रकार है – भोगविरति, परिभोगविरति, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना।

1. **देशावकाशिक शिक्षाव्रत** – दिग्व्रत में परिमाण किये हुए विशाल देश में काल के विभाग से प्रतिदिन त्याग करना अणुव्रत धारियों का देशावकाशिक व्रत होता है। इसमें क्षेत्र की मर्यादा, अमुक घर, गली, छावनी, ग्राम तथा खेत, नदी, वन और किसी योजन की होती है। इसमें काल की मर्यादा एक वर्ष दो मास छह मास, एक मास, चार मास, एक पक्ष और नक्षत्र तक होती है। सीमाओं के परे स्थूल सूक्ष्म रूप पांचों पापों का भले प्रकार त्याग हो जाने से देशावकाशिक व्रत के द्वारा महाव्रत साधे जाते हैं[66]।

2. **सामायिक शिक्षा व्रत** – तत्त्वार्थ सूत्र के टीकाकार आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में और अकलंकदेव ने तत्त्वार्थ वार्तिक में समय का अर्थ एकत्व रूपसे गमन किया है और उसे ही सामायिक बतलाया है[67]। किन्तु सोमदेव सूरि ने समय का अर्थ "आप्त सेवा का उपदेश" किया है और उसमें जो क्रिया की जाती है उसे सामायिक कहा है, तदनुसार स्नान, अभिषेक, पूजन, स्तवन, जप, ध्यान आदि सब सामायिक के अङ्ग हैं। भाव संग्रह[68] में भी विकास देवस्तवन को सामायिक कहा है।

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार सामायिक पाँच महाव्रतों के परिपूरण करने का कारण है, इसलिए उसे प्रतिदिन ही आलस्य रहित और एकाग्रचित्त से यथानियम करना चाहिए[69]। सामायिक में आरम्भ सहित सब ही प्रकार के परिग्रह नहीं होते, इस कारण उस समय गृहस्थ उपसर्ग से ओढ़ाये

गये कपड़े सहित मुनि की तरह मुनिपने को प्राप्त होता है[70]। सामायिक को प्राप्त होने वाले मौनधारी अचलयोग होते हुए शीत उष्ण डाँस मच्छर आदि की परिषह को और उपसर्ग को सहन करते हैं[71]। मैं अशरणरूप, अशुभरूप, अनित्य दु:खमय और पररूप संसार में निवास करता हूँ और मोक्ष इससे विपरीत है। इस प्रकार सामायिक में ध्यान करना चाहिए[72]।

3. प्रोषधोपवास - प्रोषधोपवास का कथन करते हुए रत्नकरण्ड (श्लोक, 106-109) में प्रोषध का अर्थ एक बार भोजन किया है और चारों प्रकार के आहार के त्याग को उपवास कहा है। जो उपवास करके एक बार भोजन करता है उसे प्रोषधोपवास कहते हैं। यह अष्टमी और चतुर्दशी के दिन किया जाता है। उपवास के दिन पाँचो पापों का, अलंकार, आरम्भ, गन्ध, पुष्प, स्नान, अजन और नस्य का त्याग किया जाता है तथा धर्मामृत का पान करते हुए ज्ञान और ध्यान में तत्पर रहा जाता है।

किन्तु सर्वार्थ सिद्धि[73] में प्रोषध का अर्थ पर्व किया है और जिसमें पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से विमुख होकर रहती है, उसे उपवास कहा है और उसका अर्थ किया है- पर्व के दिन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना। लिखा है, अपने शरीर के संस्कार के कारण स्नान, गन्ध, माला, आभरण आदि को त्याग कर शुभ स्नान में साधुओं के निवास स्थान में या चैत्यालय में अथवा अपने उपवास गृह में धर्म कथा के चिन्तन में मन लगाकर श्रावक को उपवास करना चाहिए। और किसी प्रकार का आरम्भ नहीं करना चाहिए। सोमदेव सूरि ने सर्वार्थसिद्धि के अनुसार ही कथन करते हुए प्रोषध का अर्थ पर्व ही किया है।

वसुनन्दि ने अपने श्रावकाचार में प्रोषधोपवास को शिक्षाव्रतों में स्थान नहीं दिया। प्रोषधप्रतिमा का वर्णन करते हुए प्रोषधोपवास की विधि इस प्रकार बतलायी है सप्तमी और तेरस के दिन अतिथि भोजन के अन्त में स्वयं भोजन करके वहीं मुख शुद्धि करके मुख को और हाथ पैरों को धोकर वहाँ ही उपवास का नियम लेकर जिन मन्दिर जावे और जिनेन्द्र देव को नमस्कार करके और गुरु के सामने वन्दना पूर्वक कृति कर्म को करके गुरु की साक्षीपूर्वक उपवास को ग्रहण करके शास्त्रवाचन, धर्मकथा सुनना, सुनाना, बारह भावनाओं का चिन्तन आदि के द्वारा शेष दिन बितावे। फिर सांय कालीन वन्दना करके रात्रि के समय अपनी शक्ति के अनुसार कायोत्सर्ग में स्थित होकर भूमि का शोधन करके अपने शरीर के प्रमाण सन्थारा लगाकर अपने घर में या जिन मन्दिर में सोवे। अथवा पूरी रात कायोत्सर्गपूर्वक बिताकर प्रात:काल उठकर वन्दनाविधि से जिनदेव को नमस्कार करके तथा देव शास्त्र गुरु का द्रव्य अथवा भावपूजन करके अपने घर जावे और अतिथिदान देकर भोजन करे। इस प्रकार जो करता है उसकी प्रोषधविधि उत्तम है। केवल जल ग्रहण करना मध्यम प्रोषध है। मध्यम प्रोषध वाला आवश्यक होने पर सावय रहित गृहकार्य कर सकता है। शेष विधिपूर्ववत् है। उस दिन एक बार भोजन करना या कुछ हलका योजन ले लेना जघन्य प्रोषध है[74]। आशाधर ने वसनुन्दि के अनुसार ही प्रोषधोपवास का कथन किया है[75]।

4- वैयावृत्य या अतिथि सविंभाग शिक्षाव्रत - श्रद्धा आदि गुणों से युक्त जो ज्ञानीश्रावक सदा तीन प्रकार के पात्रों को दान की नौ विधियों के साथ स्वयं दान देता है उसके अतिथि संविभाग नाम का शिक्षाव्रत होता है। यह चार प्रकार का दान सब दानों में श्रेष्ठ है तथा सब सुखों और सिद्धियों का करने वाला है[76]।

पात्र तीन प्रकार के होते हैं - उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य । जो महाव्रत और सम्यक्तव से सुशोभित हो वह उत्तम पात्र हैं, जो देशव्रत और सम्यक्तव से शोभित हों वह मध्यम पात्र हैं और जो केवल सम्यग्दृष्टि हो वह जघन्य पात्र हैं । पात्र बुद्धि से दान देने के योग्य ये तीन ही प्रकार के पात्र होते हैं । इन तीन प्रकार के पात्रों को दान देने वाला दाता भी श्रद्धा आदि सात गुणों से युक्त होना चाहिए । वे सात गुण हैं - श्रद्धा, भक्ति, अलुब्धता, दया, शक्ति, क्षमा और ज्ञान । मैं बड़ा पुण्यवान हूँ, आज मैंने दान देने के लिए वीतराग पात्र पाया है, ऐसा जिसका भाव होता है वह दाता श्रद्धावान है । पात्र के समीप में बैठकर जो उनके पैर दबाता है, वह भक्तिवान् है । मुझे इससे काम है इसलिए मैं उसे दान देता हूँ, ऐसा भाव जिसके मन में नहीं है वह दाता निर्लोभ है । जो दाता घर में चीटी वगैरह जीव व जन्तुओं को देखकर सावधानता पूर्वक सब काम करता है वह दयालु है । "यह पात्र बहुत खाऊ है, सारा भोजन खाये जाता है" ऐसा जिसके चित्त में भाव नहीं है, वह दाता शक्तिमान् है । जो स्त्री पुत्र वगैरह के अपराध करने पर भी दान के समय उन पर कुद्ध नहीं होता वह दाता क्षमावान् है । जिसे पात्र और अपात्र की समझ है, वह दाता ज्ञानी है । इन सात गुणों से सहित दाता श्रेष्ठ होता है । ऐसा जो दाता उक्त तीन प्रकार के पात्रों को यथायोग्य नवधाभक्ति पूर्वक आहारदान, अभयदान, औषध दान और शास्त्रदान देता है वह अतिथि संविभाग व्रत का धारी होता है । प्रतिग्रह, उच्च स्थान, पादोदक, अर्चन, प्रमाण, मनः शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि और भोजन शुद्धि ये दान की नौ विधियाँ हैं । प्रथम ही पात्र को अपने घर के द्वार पर देखकर अथवा अन्यत्र से खोज लाकर "नमोऽस्तु" और "तिष्ठ तिष्ठ" कहकर ग्रहण करना चाहिए । फिर अपने घर में ले जाकर ऊंचें आसन पर बैठाना चाहिए। फिर गन्ध, अक्षत, फूल, नैवेद्य, दीप धूप, और फल से उसकी पूजा करनी चाहिए । फिर चरणों के समीप नमस्कार करना चाहिए । तथा आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर मन को शुद्ध करे, निष्ठुर कर्कश आदि वचनों को छोड़कर मन को शुद्ध करे, और सब ओर से अपनी काया को संकोच कर काय शुद्धि करे । नख, जीव-जन्तु, केश, हड्डी, दुर्गन्ध, माँस, रूधिर, चर्म, कन्द, फल मूल बीज आदि चौदह मलों से रहित तथा यत्नपूर्वक शोधा हुआ भोजन संयमी मुनि को देना एषणा शुद्धि है । इस तरह दाता को सात गुणों के साथ पुण्य का उपार्जन करने वाली नौ विधिपूर्वक चार प्रकार का दान तीन प्रकार के पात्रों को देना चाहिए[77] ।

देशावकाशिक शिक्षाव्रत के अतिचार - की हुई मर्यादा के बाहर कुछ भी भेजना, शब्द करना, माँगना, अपना रूप दिखाकर इशारा करना और कंकर पत्थर फेंकना - ये पाँच देशावकाशिक शिक्षाव्रत के अतिचार कहे जाते हैं[78] ।

सामायिक के अतिचार - काय योग दुष्प्रणिधान, वचनयोग दुष्प्रणिधान, मनोयोग दुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृति का अनुपस्थान ये सामायिक व्रत के पाँच अतिचार हैं । योग का बुरी तरह से चलते रहना योग दुष्प्रणिधान है जो तीन प्रकार का है -कायदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान और मनोदुष्प्रणियान । उत्साह का न होना अनुत्साह है वही अनादर है, एकाग्रता का न होना स्मृत्यपस्थान है । इस प्रकार ये सामायिक व्रत के पाँच अतिचार हैं[79] ।

प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार - अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमि में उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित वस्तु का आदान, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तर का उपक्रमण, अनादर, और स्मृति

का अनुपस्थान ये प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार हैं । प्रोषधोपवास की प्रतिज्ञा ले जिस स्थान में बैठे उस स्थान पर जीव हैं या नहीं हैं, इस प्रकार आँख से देखना प्रत्यवेक्षण कहलाता है । तथा कोमल उपकरण से जो प्रयोजन साधा जाता है, वह प्रमार्जित कहलाता है । बिना देखी और बिना प्रमार्जित भूमि में मलमूत्र का त्याग करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग है । अरहन्त और आचार्य की पूजा में उपकरण, गन्ध माला और धूप आदि को तथा ओढ़ने आदि के वस्त्रादि पदार्थों को बिना देखे और बिना परिमार्जन किए हुए ले लेना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान है । बिना देखे और बिना परिमार्जन किए हुए प्रावरण आदि संस्तरण का बिछाना अप्रत्यवेक्षिता प्रर्मार्जनसंस्तरोपक्रमण है । भूख से पीड़ित होने के कारण आवश्यक कार्यों में अनुत्साहित होना अनादर है । एकाग्रता का न होना स्मृत्यनुपस्थान है । ये प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार है[80] ।

अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार – सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम में अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार हैं । सचित्त कमलपत्र आदि में रखना सचित्त निक्षेप है । अभिधान का अर्थ ढाँकना है । इस शब्द को भी सचित शब्द से जोड़ लेना चाहिए । जिससे सचित्त कमल पत्र आदि से ढाँकना यह अर्थ फलित हुआ है । इस दान की वस्तु का दाता अन्य है, यह कहकर देना परव्यपदेश है । दान करते हुए भी आदर का न होना या दूसरे दाता के गुणों को न सह सकना मात्सर्य है । भिक्षाकाल के सिवाय दूसरा काल अकाल है और उसमें भोजन कराना कालातिक्रम है । ये सब अतिथिसंविभाग शीलव्रत के पाँच अतिचार हैं[81] ।

श्रावक के भेद – सागार धर्मामृत में श्रावक के पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक ये तीन भेद किये गये हैं । जिसको जैनधर्म का पक्ष होता है, वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है । पाक्षिक को श्रावक धर्म का प्रारम्भक कहना चाहिए । जो उसमें अभ्यस्त हो जाता है, वह नैष्विक है । यह मध्यम अवस्था है । ग्यारह प्रतिमाओं की अपेक्षा इसके ग्यारह भेद हैं और जो आत्मध्यान में तत्पर होकर समाधिकरण का साधन करता है वह साधक है । यह परिपूर्ण अवस्था है ।

पाक्षिक श्रावक – पाक्षिक श्रावक जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा से शिरोधार्य करके, हिंसा को छोड़ने के लिए मद्य, माँस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों के सेवन करने का त्याग करता है । रात्रि भोजन नहीं करता, पानी को छानकर काम में लाता है । पाँचो पापों को सात व्यसनों को छोड़ने का यथाशक्ति अभ्यास करता है । यथाशक्ति जिनभगवान् की पूजा करता है । जिनबिम्ब, जिन मन्दिर, मुनियों के लिए वसतिका, स्वाध्यायशाला, भोजनशाला, औषधालय वगैरह का निर्माण करता है । गुरुओं की सेवा करता है । अपने सुयोग्य साधर्मी श्रावक को ही कन्या देता है मुनियों को दान देता है । इस बात का प्रत्यन करता है कि मुनियों की परम्परा बराबर चलती रहे और वे गुणवान् हों । पहले अपने आश्रितों को भोजन कराकर फिर अपने आप भोजन करता है । रात्रि में केवल पानी, औषध और पान इलायची वगैरह मुख शुद्धि कारक पदार्थ हो लेता है । ऐसा कोई आरम्भ नहीं करता जिसमें संकल्पी हिंसा हो, तीर्थयात्रा वगैरह करता है । सागार धर्मामृत के दूसरे अध्याय में पाक्षिक का कथन है[82]।

नैष्ठिक श्रावक – जो नैष्ठित श्रावक के 11 श्रेणियाँ होती हैं जिन्हें शास्त्रों में ग्यारह प्रतिमायें कहा जाता है ।

1- दर्शन प्रतिमा – आचार्य समन्तभद्र[83] के अनुसार जो श्रावक निरतिचार सम्यग्दर्शन का धारक हो, संसार, शरीर को भोगों से विरक्त हो, पञ्च परमेष्ठी की शरण में रहने वाला हो। अष्ठमूलगुण का धारी हो, वह दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक होता है।

2- व्रत प्रतिमा – जो श्रावक माया, मिथ्या व निदान इन तीन शल्यों से रहित होता हुआ निरतिचार (दोषरहित) पाँच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का पालन करता है वह व्रत प्रतिमा का धारक होता है[84]। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इन गुणों के साथ ज्ञानी होना भी व्रत प्रतिमा का लक्षण बतलाया है[85]। महापुराणकार ने व्रतोद्योत[86] शब्द से उसका कथन किया है। उपासकाध्ययन में व्रत सामान्य का ग्रहण करके इसका कथन किया गया है[87]। पाँच अणुव्रत 3 गुणव्रत तथा 4 शिक्षाव्रतों का कथन किया जा चुका है।

3- सामायिक प्रतिमा – जो श्रावक प्रत्येक दिशा में तीन-तीन आवर्त करता हो प्रत्येक दिशा में आवर्तों के बाद एक एक प्रणाम करता हो, बाहरी और भीतरी परिग्रह रहित मुनि के समान अवस्थित हो खड्गासन अथवा पद्मासन से विराजमान हो, मन, वचन, काय की शुद्धि वाला हो तथा जो प्रात: मध्यान्ह और सांयकाल अभिवंदन करता हो, वह सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक है[88]। इसका प्राचीन नाम सामायिक (सामइ)[89] है, किन्तु महापुराण के कर्त्ता ने इसके लिए समता[90] शब्दका प्रयोग किया है। उपासकाध्ययन के कर्त्ता सोमदेव ने अर्चा शब्द का प्रयोग किया है[91]। इसका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि महापुराणकार इसमें समता भाव पर तथा आचार्य सोमदेव जिनेन्द्र पूजा पर अत्यधिक जोर देना चाहते हैं। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में अपने स्वरूप का चिंतन करना अथवा जिनबिंब का चिन्तवन करना अथवा पंच परमेष्ठी में णमोकार का चिंतवन करना सामायिक प्रतिमा में बतलाया है[92]। आचार्य वसुनन्दि के अनुसार स्नान आदि से शुद्ध होकर चैत्यालय अथवा अपने ही घर में प्रतिमा के सम्मुख होकर अथवा अन्य पवित्र स्थान में पूर्वमुख या उत्तर मुख होकर जिनवाणी, जिनधर्म, जिनबिम्ब, पंच परमेष्ठी और कृत्रिम अकृत्रिम जिनालयों को जो नित्य त्रिकाल वन्दना की जाती है वह सामायिक नाम की तीसरी प्रतिमा है जो श्रावक कार्योत्सर्ग स्थित होकर लाभ अलाभ को, शत्रु मित्र को इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग को त्रण कंचन को, चन्दन को और कुठार को समभाव से देखता है और मन में पञ्च मन्त्र को धारणकर उत्तम अष्ट प्रतिहार्यों से संयुक्त अर्हन्त जिन के स्वरूप को और सिद्ध भगवान के स्वरूप का ध्यान करता है अथवा संवेग सहित अविचल अंग होकर एक क्षण को भी उत्तम ध्यान करता है उसके उत्तम सामायिक होती है[93]।

सामायिक शब्द का निरूक्त अर्थ यह है कि रागद्वेष से रहित होकर समस्त प्राणियों को जो अपने समान ही देखता है उसका नाम सम है। आय शब्द का अर्थ प्राप्ति है तदनुसार सम जीव को प्रति समय अनुपम सुख की कारणभूत अपूर्व ज्ञान दर्शन और चारित्ररूप पर्यायों से संयुक्त होता है उसे समाय कहा जाता है। यह समाय ही जिस क्रिया अनुष्ठान का प्रयोजन हो उसका नाम सामायिक है। अथवा समाये भवं सामायिकं। इस विग्रह के अनुसार समाय हो जाने पर जो अवस्था होती है उसे सामायिक का लक्षण समझना चाहिए। यह सामायिक शब्द की सार्थक संज्ञा है। अभिप्राय यह हुआ कि श्रावक जो नियत समय तक सर्व सावद्य के परित्याग पूर्वक निरुद्ध योग निष्पाप व्यापार का परिपालन करता है, यह श्रावक का सामायिक नामक प्रथम शिक्षा व्रत है[94]।

श्रावक को सामायिक कैसे करना चाहिए - श्रावक दो प्रकार का होता है। ऋद्धि प्राप्त और अनृद्धि प्राप्त इनमें जिसे ऋद्धि प्राप्त नहीं हुई है वह चैत्य गृह में साधु के समीप में घर में प्रौषध शाला में अथवा जहाँ भी वह व्यापार से रहित होकर विश्रापूर्वक स्थिर रह सकता है। वहाँ सर्वत्र सब कर सकता है। पर चैत्यगृह, साधु के मूल में, प्रौषध शाला में व घर में इन चार स्थानों में वह सब आवश्यक करता है। इनमें से यदि वह साधु के समीप में करता है तो क्या विधि है इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि यदि दूसरे से भय नहीं है यदि किसी के साथ विवाद नहीं है यदि कोई पकड़-धकड़ नहीं करता है तथा पकड़ते हुए देखकर ग्रहण नहीं करता है, भागता नहीं है। यदि व्यापार नहीं करता है तो घर पर ही सामायिक करके पाँच समितियों सहित तीन गुप्तियों से संरक्षित साधु के समान ईर्या से उपयुक्त सावधानी से गमन करता हुआ भाषा के सावद्य का परिहार करे व एषणा में काष्ठ अथवा लोष्ठ आदि का प्रतिलेखन व प्रमार्जन करे। इसी प्रकार आदान निक्षेपण में स्वेल, काय व नासिका मल को न गिरावे यदि गिराना पड़े तो प्रति लेखन व प्रमार्जन करके गिरावे, जहाँ पर स्थित हो वहाँ तीन गुप्तियों का निरोध करे इस विधि से जानकर तीन प्रकार से साधु को नमस्कार करे तत्पश्चात् सामायिक करे- जब तक साधु की उपासना करता है "हे भगवन्"। मैं सामायिक करता हूँ, दो प्रकार के सावद्य योग का तीन प्रकार से प्रत्याख्यान करता हूँ ऐसा करके पश्चात् ईर्यापथ का प्रतिक्रमण करता है, पश्चात् आलोचना करके ज्येष्ठता के क्रम से फिर से भी गुरु की वन्दना करके प्रतिलेखनापूर्वक बैठकर पूछे व पढ़े इसी प्रकार चैत्य गृह में भी करना चाहिए। विशेषता इतनी है कि अपने घर अथवा औषधशाला में गमन क्रिया नहीं है। यह अनृद्धि प्राप्त श्रावक के लिये सामायिक का विधान है। यदि श्रावक ऋद्धि प्राप्त है तो सब ऋद्धि के साथ वह आता है इससे वह उत्तम पुरुष के ग्रहण से आदर का पात्र होता है। यदि वह सामायिक को करके आता है तो घोड़ा और हाथी आदि के परिकर से अधिकरण (असंयम) बढ़ता है। इसलिए उस समय सामायिक न करे। प्राय: सामायिक करके ही आवे इसलिए यदि वह आकर के साधु के समीप में सामायिक को करता है और यदि श्रावक है तो कोई न उठे। यदि अभद्र तो यति पूजा करना चाहिए। तब पूर्व रचित आसन किया जाता है। आचार्य उत्थित ही रहते हैं। पश्चात् वह ऋद्धि प्राप्त सामायिक को इस विधि से करता है- हे भगवन्। मैं सामायिक को करता हूँ। दो प्रकार के सावद्य योग का तीन प्रकार से तब तक प्रत्याख्यान करता है जब तक कि साधु की उपासना करता है। इस प्रकार सामायिक करके प्रतिक्रमण करता हुआ वन्दना करता है। वह सामायिक करता हुआ मुकुट को दूर कर देता है तथा कुण्डलों, नाममुद्रा, पुष्प, पान और वस्त्रादि को भी हटा देता है यह सामायिक की विधि है[95]।

प्रश्न - जो सामायिक जो स्वीकार करता है वह साधु ही है। कारण यह है कि वह कुछ काल के लिए समस्त सावद्य योगको तीन प्रकार से - मन, वचन, व काय से अवश्य छोड़ देता है ?

उत्तर - श्रावक के लिए तीनों योगों से समस्त सावद्य योग का परित्याग करना सम्भव नहीं है इसलिए उसे उतने ही समय के लिए भी यथार्थ में साधु नहीं कहा जा सकता[96]।

प्रश्न - श्रावक के लिए समस्त सावद्य योग का त्याग करना क्यों सम्भव नहीं है ?

उत्तर - ये स्वर्णादि द्रव्य मेरे हैं इस से उन द्रव्यों के विषय में श्रावक का आग्रह ममत्व बुद्धि नहीं छूटती है। सामायिक के पश्चात् वह उनका पुन: उपभोग करता ही है यदि ऐसा न होता

तो सामायिक के पश्चात् भी उनका उपभोग नहीं करता । पर पश्चात् उनका उपभोग करता है क्योंकि उन्हें उसने सदा के लिए नहीं छोड़ा है। यही कारण है कि साधु और श्रावक इन दोनों में भेद बतलाया गया है[97] ।

सावय पण्णत्ति गाथा 299 में कहा गया है कि सामायिक के करने पर जिस कारण श्रावक के समान होता है इस कारण से उसे बहुत बार सामायिक करना चाहिए[98] । यहाँ पर चूंकि श्रावक को श्रमण के समान कहा गया है न कि स्वयं श्रमण कहा गया है। इसी से श्रावक की श्रमण से भिन्नता सिद्ध होती है। उदाहरण के रूप में जब यह कहा जाता है कि यह "तालाब तो समुद्र के समान है तब उसे स्वयं समुद्र न समझकर यही समझा जाता है कि वह समुद्र के समान गम्भीर व विस्तृत है। इसी प्रकार यहां भी श्रावक को साधु के समान कहने का ही अभिप्राय है कि वह स्वयं साधु न होकर सामायिक के काल में समस्त सावद्य योग का त्याग कर देने के कारण साधु जैसा है[99] ।

प्रोषधोपवास - जो श्रावक प्रत्येक माह के चारों ही पर्व के दिनों में अर्थात् दोनों अष्टमी और दोनों चुतर्दशियों में अपनी शक्ति को न छिपाकर धर्मध्यान में तत्पर होता हुआ आदि अन्त में प्रकाशन करने वाला होता है वह प्रोषध या प्रोषधोपवास प्रतिमा का धारी श्रावक है[100] । स्वामी कार्तिकेय के अनुसार सप्तमी और त्रयोदशी के दिन अपराह्न में जिन मन्दिर में जाकर सामायिक करके चारों प्रकार के आहार का त्याग कर उपवास का नियम कर ले और घर का सब काम-काज छोड़कर रात्रि धर्मध्यान पूर्वक बिताए। पश्चात् सामायिक करके उसी तरह रात्रि बिताए, फिर पात्रदान देकर भोजन करे, इसका नाम प्रोषधोपवास है[101]।

आचार्य वसुनन्दि के अनुसार उत्तम, मध्यम और जघन्य के तीन भेद से तीन प्रकार का प्रोषध विधान कहा गया है। यह श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार एक मास के चारों पर्वों में करना चाहिए। सप्तमी और त्रयोदशी के दिन अतिथिजन के भोजन के अन्त में स्वंय भोज्य वस्तु का भोजन कर वहीं पर मुख शुद्धि को करके, मुख को हाथ पैरों को धोकर वहाँ पर ही उपवास सम्बन्धी नियम करके पश्चात् जिनेन्द्र भवन जाकर और जिन भगवान् को नमस्कार करके गुरु के सामने वन्दनापूर्वक क्रम से कृतिकर्म को करके, गुरु की साक्षी से विधिपूर्वक चारों प्रकार के आहार के त्यागरुप उपवास को ग्रहण कर शास्त्र वाचन, धर्म कथा- श्रवण श्रावण, अनुप्रेक्षा चिन्तन, पठन-पाठन आदि के उपयोग द्वारा दिवस व्यतीत करके तथा आपराह्निक वन्दना करके रात्रि के समय अपनी शक्ति के अनुसार कार्योत्सर्ग से स्थित होकर, भूमि का प्रतिलेखन (संशोधन) करके अपने शरीर के प्रमाण विस्तर लगा कर रात्रि में कुछ समय तक जिनालय अथवा घर में सोकर, अथवा सारी रात्रि कार्योत्सर्ग से बिताकर प्रातः काल उठकर वन्दना विधि से जिन भगवान् को नमस्कार कर तथा देव, शास्त्र और गुरु का द्रव्य व भाव पूजन करके पूर्वोक्त विधान से उसी प्रकार सारा दिन और सारी रात्रि को फिर भी बिताकर पारणा के दिन अर्थात नवमी का पूर्णमासी कोपुनः पूर्व के समान पूजन करके तत्पश्चात् अपने घर जाकर वहाँ अतिथि को आहारदान देकर जो भोजन करता है, उसके निश्चय से उत्तम प्रोषधविधि होती है। जिस प्रकार का उत्कृष्ट प्रोषध विधान कहा गया है, उसी प्रकार का मध्यम प्रोषध विधान भी जानना चाहिए। केवल विशेषता यह है कि जल को छोड़कर शेष तीनों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए। जरूरी कार्य को समझकर सावद्य रहित अपने गृहारम्भ को यदि करना चाहे तो उसे भी कर सकता है। किन्तु शेष विधान

पूर्व के समान ही जानना चाहिए। जो अष्टमी आदि पर्व के दिन आचाम्ल, निर्विकृति, एक स्थान अथवा एक भक्त को करता है, उसे जघन्य प्रोषध विधान जानना चाहिए। प्रोषध के दिन सिर से स्नान करना, उबटन करना, सुगन्धित द्रव्य लगाना, माला पहनाना बालों आदि का सजाना देह का संस्कार करना तथा अन्य भी राग के कारणों को छोड़ देना चाहिए[102]।

हरिभद्र सूरि के अनुसार प्रोषध शब्द पूर्व के अर्थ में रूढ़ है। पर्व से अभिप्राय अष्टमी व चतुर्दशी आदि धार्मिक तिथियों का है क्योंकि इनके आश्रय से धर्म की पूर्ति (उपचय) हुआ करती है। आहार के निमित्त से - उसके परित्याग (अनशन आदि) से जो धर्म का उपचय होता है उसे आहार पौषध कहा जाता है। शरीर विषयक सत्कार स्नान आदि से उसके सुसज्जित करने के त्याग से जो धर्म का संचय होता है उसका नाम शरीर सत्कार पौषध है। ब्रह्मचर्य पौषध से अभिप्राय कुशल अनुष्ठान का है। अमुक-अमुक व्यापार को मैं नहीं करूँगा, इस प्रकार के व्रत को अव्यापार पौषध समझना चाहिए। इस प्रकार से सब पौषध को यहाँ तीसरा शिक्षापदव्रत कहा गया है[103]।

उक्त आहार पौषधादि में प्रत्येक देशविषयक और सर्वविषयक के भेद से दो प्रकार का है। देश विषयक आहार पौषधादि में सामायिक विषयक विकल्प है - कदाचित वह की जाती है और कदाचित् नहीं भी की जाती है। परन्तु सर्व विषयक पौषध में वह नियम से की जाती है[104]।

अभिप्राय इसका यह है कि आहार पौषध में जो आहार का परित्याग किया जाता है वह देश या सर्व रूप से किया जाता है। इनमें देशरूप में जैसे में अमुक विकृति (घृतादि) या आचाम्ल (भात का माड़) में एक या दो को लूँगा। अथवा एक बार या दो बार लूँगा, इस प्रकार से जो आहार विषयक नियम किया जाता है उसे देशविषयक आहार पौषध समझना चाहिए। चारों प्रकार के आहार का जो दिन-रात के लिए प्रत्याख्यान किया जाता है, यह सर्वविषयक आहार पौषध कहलाता है। शरीर सत्कार पौषध में स्नान, उद्धवर्तन (उबटन) विलेपन पुष्प, गन्ध व ताम्बूल आदि तथा वस्त्राभरण आदि का त्याग करना, यह देश अथवा र्स्वरूप में किया जाता है। उक्त शरीर संस्कारों में मैं अमुक शरीर संस्कार को नहीं करूगां, इस प्रकार से किसी विशेष शरीर संस्कार का त्याग करना, यह देश शरीर संस्कार पौषध कहलाता है। समस्त शरीर संस्कारों को सर्वरूप से शरीर सत्कार पौषध जानना चाहिए। ब्रहमचर्य पौषध में दिन में, रात्रि में अथवा एक या दो बार भोग करूँगा। इस प्रकार के नियम को ब्रह्मचर्य पौषध कहा जाता है। रात-दिन ब्रह्मचर्य के पालन का नाम सर्वब्रह्मचर्य पोषध है। अव्यापार पोषध भी देश और सर्व के भेद से दो प्रकार का है। उनमें अमुक व्यापार को मैं नहीं करूँगा। इस प्रकार के नियम का नाम देश अव्यापार पौषध और हल व गाड़ी आदि किसी भी कर्म को मैं नहीं करूँगा, इस प्रकार के नियम का नाम सर्व अव्यापार पौषध है। चार प्रकार के पौषध में जो श्रावक देश पौषध को करता है वह सामायिक करे अथवा नहीं भी करे, इसका नियम नहीं रहता। किन्तु जो सर्व पौषध को करता है वह नियम से सामायिक करता है यदि वह नहीं करता है तो स्वीकृत व्रत से वंचित होता है। पौषधोपवास व्रती को चैत्यगृह में साधु के समीप में, घर में अथवा पौषधशाला में कहीं भी मणि सुवर्ण आदि को छोड़कर सामायिक करते हुए पढ़ना चाहिए, पुस्तक का वाचन करना चाहिए, अथवा धर्म ध्यान करना चाहिए। उसे विचार करना चाहिए कि ये श्रेष्ठ गुण है, मैं अभागा उन्हें धारण करने के लिए असमर्थ हूँ। जो अनिवार्य रूप से उनका परिपालन नहीं कर पाता[105]।

जो ज्ञानी श्रावक-सचित्त पत्र, सचित्त फल. सचित्त छाल, सचित्त मूल, सचित्त कोंपल और सचित्त बीज को नहीं खाता वह सचित्त विरत है[106] । तात्पर्य यह है कि जो ज्ञानी श्रावक सचित्त अर्थात् जिसमें जीव मौजूद हैं ऐसे नागवल्ली के पत्तों को, नीबूं के पत्तों को, सरसों और चने के पत्तों को, धतूरे के पत्तों को और पत्तों की शाक वगैरह को नहीं खाता । सचित्त खरबूजे, ककड़ी, पेठा, नीम्बू, अनार, बिजौरा, आम, केला आदि फलों को नहीं खाता । वृक्ष की सचित्त छाल को नहीं खाता, सचित्त अदरक वगैरह मूलों को नहीं खाता या वनस्पतियों का मूल यदि सचित्त हो तो नहीं खाता, छोटी छोटी ताजी नई कोपलों को नहीं खाता, तथा संचित्त चने, मूँग, तिल, उड़द, अरहर जीरा, गेहूँ, जो वगैरह बीजों को नहीं खाता, वह सचित्त त्यागी कहा जाता है । कहा भी है- जो दयालु श्रावक मूल, फल, शाक, शाखा, कोंपल, वनस्पति का मूल, फूल और बीजों को अपक्व दशा में नहीं खाता वह सचित्त विरत है[107]। सचित्त विरत श्रावक को चाहिए कि जिस सचित्त जल, फल, पत्र, मूल, कोंपल बीज वगैरह को वह स्वयं नहीं खाता उसे अन्य पुरुष को भी खाने के लिये नहीं देना चाहिए । तभी सचित्त त्यागव्रत पूर्व रूप से फलता है, क्योंकि स्वयं खाना और अन्य को खिलाना एक ही है । दोनों ही सदोष हैं[108] । जिह्वा इन्द्रिय काजीतना बड़ा कठिन है । जो लोग विषय सुख से विरक्त हो जाते हैं, उन्हें भी जिह्वा का लम्पटी पाया जाता है । किन्तु सचित्त का त्यागी जिह्वा इन्द्रिय को भी जीत लेता है वैसे सचित्त के त्यागने से सभी इन्द्रियाँ वश में होती है क्योंकि सचित्त वस्तु का भक्षण मादक और पुष्टि कारक होता है । इसी से यद्यपि सचित्त को असचित्त करके खाने में प्राणि संयम नहीं पलता किन्तु इन्द्रिय संयम को पालने की दृष्टि से सचित्त त्याग आवश्यक है । सुखाने पकाने, खटाई, वगैरह के मिलाने तथा चाकू वगैरह से काट देने पर सचित्त वस्तु अचित्त हो जाता है । ऐसी वस्तु के खाने से पहला लाभ तो यह है कि इन्द्रियाँ काबू में होती हैं । दूसरे इससे दयाभाव प्रकट होता है, तीसरे भगवान की आज्ञा का पालन होता है, क्योंकि हरित काय वनस्पति में भगवान ने जीव का अस्तित्व बतलाया है । यहाँ इतना विशेष जानना कि भोगोपभोग परिमाण व्रत में सचित्त भोजन को अतिचार मानकर छुड़ाया गया है और यहाँ उसका व्रत रूप से निरतिचार त्याग होता है[109] ।

रात्रि भक्तिविरत - प्राणियों पर दयालुचित्त होता हुआ जो श्रावक रात्रि में अन्न (दाल रोटी वगैरह) (पान) (दूध दही, वगैरह) (खाद्य) लडडू पेड़ा बरफी वगैरह लेह्य (चाटने योग्य रबड़ी, मलाई आदि) पदार्थों को नहीं खाता है वह रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा का धारी है, यह स्वामी समन्तभद्र का मत है[110] । आचार्य वसुनन्दि के अनुसार रात्रि को भोजन करने वाले मनुष्य के ग्यारह प्रतिमाओं में से पहली भी प्रतिमा नहीं ठहरती है इसलिए नियम से रात्रिभोजन का परिहार करना चाहिए । भोजन के मध्य गिरा हुआ चर्म, अस्थि, कीट, पंतग, सर्प और केश आदि रात्रि के समय कुछ भी नहीं दिखाई देता है, इसलिए रात्रि भोगी पुरुष सबको खा जाता है । यदि दीपक जलाया जाता है, तो भी पतंगे आदि अगणित चतुरिन्द्रिय जीव दृष्टिराग से मोहित होकर भोजन के मध्य गिरते हैं । इस प्रकार के कीट पंतग युक्त आहार को खाने वाला पुरुष इस लोक में अपनी आत्मा का या अपने आप का नाश करता है और परभव में चतुर्गतिरूप संसार के दुखों को पाता है इस प्रकार रात्रि भोजन में बहुत प्रकार के दोष जान करके मन, वचन, काय से रात्रि भोजन का परिहार करना चाहिए[111] । महापुराण में इसे अह : "स्त्रीसङ्ग वर्जनम्" कहकर दिन में ब्रह्मचर्य का पालन बतलाया है[112]। आचार्य सोमदेव ने भी इस प्रतिमा को दिवामैथुन त्याग नाम देकर इसी मत का समर्थन किया है[113] परवर्ती आशाधरजी ने छठी प्रतिमावाले को दिवामैथुनविरत कहा है[114] ।

7- ब्रह्मचर्य प्रतिमा - जो ज्ञानी मन, वचन और काय से सब स्त्रियों की अभिलाषा नहीं करता वह दयालु ब्रह्मचर्यव्रत का धारी है[115] । स्त्रियाँ चार प्रकार की होती हैं । एक तो देवांगना, एक मानुषी, एक गाय, कुतिया वगैरह तिर्यञ्चनी और एक लकड़ी पत्थर वगैरह से बनाई गई अचेतन स्त्री आकृति । जो इन सभी प्रकार की स्त्रियों को मन, वचन, काय से और कृत कारित, अनुमोदना से नहीं चाहता । अर्थात् स्वयं अपने मन में स्त्री की अभिलाषा नहीं करता, न दूसरे को वैसा करने के लिए कहता है और न किसी स्त्री को चाहता है उसकी मन से सराहना करता है। न स्वयं स्त्रियों के सम्बन्ध में रागपूर्वक बातचीत करता है न वैसा करने के लिए किसी को कहता है और न वैसा करता है, उसकी सराहना वचन से करता है । स्वयं शरीर से स्त्री विषयक वांछा नहीं करता, न दूसरे को वैसा करने का संकेत करता है और न जो ऐसा करता हो उसकी काय से अनुमोदना करता है वह ब्रह्मचारी है। ब्रह्मचर्य अथवा शील व्रत के अट्ठारह हजार भेद बतलायें हैं जो इस प्रकार हैं -देवी, मानुषी तिरश्ची और अचेतन ये स्त्रियों की चार जातियाँ हैं । इनको मन, वचन, और काय से गुणा करने पर 12 भेद होते हैं । इन बारह को कृत कारित और अनुमोदना से गुणा करने पर 36 भेद होते हैं । इनको पाँचो इन्द्रियों से गुणा करने पर 180भेद होते हैं । इनको दस संस्कारों से गुणा करने पर 1800भेद होते हैं । दस संस्कार इस प्रकार हैं-शरीर का संस्कार करना, शृंगार रस का राग सहित सेवन करना, हँसी, क्रीड़ा करना, संसर्ग की चाह करना, विषय का संकल्प करना शरीर की ओर ताकना, शरीर को सजाना, पहले किये हुए संभोग का स्मरण करना और मन मे भोग की चिन्ता करना । इन 1800 भेदों का काम की दस चेष्टाओं के गुणा करने पर 18000 भेद होते हैं । काम की दस चेष्टायें इस प्रकार हैं - चिन्ता, दर्शन की इच्छा, आहें भरना, शरीर में पीड़ा, शरीर में जलन, खाना-पीना छोड़ देना, मूर्च्छित हो जाना, जीवन में सन्देह और वीर्य पात । इन अट्ठारह हजार दोषों को टालने के शील के अट्ठारह हजार भेद होते हैं । पूर्ण ब्रह्मचारी इन भेदों को पालन करता है । जो ब्रह्मचर्य पालता है वह बड़ा ही दयालु होता है क्योंकि स्त्रियों के गुप्तांग में, स्तन देश में, नाभि में काँख में सूक्ष्म जीव रहते हैं । अत: जब पुरुष मैथुन करता है तो उससे उन जीवों का धात होता है । आचार्य समन्तभद्र ने ब्रह्मचर्य प्रतिमा का स्वरूप इस प्रकार कहा है - "स्त्री के गुप्त अंग का मूल मल है, वह मल को उत्पन्न करने वाला है, उससे सदा मल झरता रहता है, दुर्गन्ध युक्त है, देखनें में बीभत्स है । ऐसे अंग को देखकर जो काम से विरक्त होता है, वह ब्रह्मचारी है ।" और भी कहा है " जो युवतियों के कटाक्ष रूपी बाणों से घायल होने पर भी विकार को प्राप्त नहीं होता वही पुरुष शूरवीरों में शूरवीर है, जो रण के मैदान में शूर है वह सच्चा शूर नहीं है[116]।"

8. आरम्भ त्याग प्रतिमा - अकंलदेव[117] के अनुसार प्रमादवान् पुरुष का प्राणघात आदि के लिए कार्य प्रारम्भ कर देना आरम्भ है । आरम्भ त्याग के अन्तर्गत उनके पूववर्ती स्वामी समन्तभद्र ने नौकरी, खेती, व्यापार वगैरह का त्याग बतलाया है[118] । कार्तिकियानुप्रेक्षा[119] में इसमें कृत, कारित, अनुमोदना को और जोड़ दिया गया है ।

परिग्रह त्याग प्रतिमा - जो ज्ञानी पुरुष पाप मानकर अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह को आनन्दपूर्वक छोड़ देता है उसे निर्ग्रन्थ (परिग्रह त्यागी) कहते हैं[120] । जो संसार से बाँधती है उसे ग्रन्थ अथवा परिग्रह कहते हैं । परिग्रह के दो भेद हैं- अन्तरंग और बाह्य । मिथ्यात्व एक, वेद एक, हास्य आदि छह, नोकषाय, क्रोध, मांन, माया, लोभ, राग और द्वेष ये चौदह प्रकार का तो

अन्तरंग परिग्रह है और खेत, मकान, धन, धान्य, सोना, चाँदी, दास, दासी, भाण्ड, सवारी ये दस प्रकार का बाह्य परिग्रह है। जो इन दोनों ही प्रकार के परिग्रह को पाप का मूल मानकर त्याग देता है तथा त्याग करके मन में सुखी होता है वही निर्ग्रन्थ अथवा परिग्रह का त्यागी है[121]। वसुनन्दि श्रावकाचार में भी कहा गया है -"जो वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर बाकी परिग्रह का त्याग कर देता है और उस वस्त्र मात्र परिग्रह में भी ममत्व नहीं रखता, वह नवमी प्रतिमा का धारी श्रावक है[122]।" रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है- "बाह्य दस प्रकार की वस्तुओं में ममत्व छोड़कर जो निर्ममत्व से प्रेम करता है वह स्वस्थ सन्तोषी श्रावक परिग्रह का त्यागी है[123]।" आशय यह है कि आरम्भ का त्याग कर देने के पश्चात् श्रावक परिग्रह का त्याग करता है। वह अपने पुत्र या अन्य उत्तराधिकारी को बुलकर उससे कहता है कि पुत्र, आज तक हमने इस गृहस्थाश्रम का पालन किया। अब हम उससे विरक्त होकर उसे छोड़ना चाहते हैं अतः अब तुम इस भार को सम्हालो और यह धन, धर्मस्थान और कुटुम्बियों को अपना कर हमें इस भार से मुक्त करो। इस तरह पुत्र को सब भार सौंपकर वह गृहस्थ बड़ा हल्कापन अनुभव करता है और मन में सुख और सन्तोष मानता है कि क्योंकि वह जानता है कियह परिग्रहहिंसा आदि पापों का मूल है, क्रोध आदि कषायों का घर है और दुर्ध्यान का कारण है। अतः इसके रहते हुए धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान नहीं हो सकते[124]। बाह्य परिग्रह से रहित दरिद्री मनुष्य तो स्वभाव से ही होते हैं, किन्तु अन्तरंग परिग्रह को छोड़ने में कोई भी समर्थ नहीं होता[125]। वास्तव में परिग्रह तो ममत्व परिणाम ही है। धन धान्य वगैरह को तो इसलिए परिग्रह कहा है कि वह ममत्व परिणाम का कारण है। उनके होते ही मनुष्य उन्हें अपना मानकर उनकी रक्षा वगैरह की चिन्ता करता है। किन्तु यदि भाग्यवश बाह्य परिग्रह नष्ट हो जाये या मनुष्य जन्म से ही दरिद्री हो तो भी उसके मन में परिग्रह की भावना तो बनी ही रहती है तथा बाह्य परिग्रह के न होने या नष्ट हो जाने पर भी काम, क्रोध आदि अन्तरंग परिग्रह बनी ही रहती है। इससे आचार्य कहते हैं कि बाह्य परिग्रह के छोड़ने में तारीफ नहीं है, किन्तु अन्तरंग परिग्रह छोड़ने में तारीफ है। सच्चा अपरिग्रही वही है जिसके अन्तरंग में परिग्रह की भावना नहीं है[126]।

10. **अनुमति त्याग** - जिस श्रीवक की आरम्भ में तथा परिग्रह में और इस लोक सम्बन्धी कार्यों में अनुमति नहीं होती वह समान बुद्धि वाला श्रावक अनुमति त्याग प्रतिमा का धारी होता है[127]। सोमदेव ने किसी आरम्भ उद्योग या विवाहादि कार्य में अनुमति न देकर केवल भोजन मात्र में अनुमति देना दसवीं प्रतिमा का स्वरूप माना है[128]।

11. **उद्दिष्ट त्याग** - जो श्रावक घर से मुनिवन को जाकर तथा धर्मगुरु के निकट व्रत ग्रहण का तप करता हुआ (तपस्यन्) भोजन करने वाला (भैक्ष्याशन:) और खण्ड वस्त्र का धारी (चेलखण्डधर) होता है, वह श्रावक उत्कृष्ट या उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी श्रावक है[129]। पं. जुगल किशोर मुख्तार के अनुसार इस पदधारी के लिए "भैक्ष्याशन: तपस्यन्" और "चेलखण्डधर" ये तीन विशेष ध्यान देने योग्य हैं- पहला विशेषण उसकी भोजन की स्थिति का, दूसरा साधना के रूप का और तीसरा बाह्य वेष का सूचक है। वेष की दृष्टि से वह एक वस्त्र खण्ड का धारक होता है। जिसका रूप या तो एक छोटी चादर जैसा होता है जिससे पूरा शरीर ढका न जा सके। फिर ढका तो पैरों आदि का नीचे का भाग खुल गया और नीचे का भाग ढका तो सिर आदि का ऊपर का भाग खुल गया या वह लंगोटी के रूप में होता है जो कि वस्त्र खण्ड की चरम स्थिति

है । भैक्ष्य शब्द भिक्षा और भिक्षा समूह इन दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त होता है । प्रभाचन्द्र ने अपनी टीका में "भिक्षाणां समूहो भैक्ष्यं" इस निरूक्ति द्वारा भिक्षा समूह अर्थ का ही ग्रहण किया है और वह ठीक जान पड़ता है क्योंकि स्वामी समन्तभद्राचार्य को यदि भिक्षा समूह का अर्थ अभिमत न होता तो सीधा "भिक्षा शन:" पद ही रखकर वे सन्तुष्ट हो जाते उतने से ही उनका काम चल जाता । उसके स्थान पर "भैक्ष्याशन:" जैसा क्लिष्ट और भारी पद रखने की उन जैसे सूत्रात्मक लेखकों को जरुरत न होती । विशेषकर ऐसी हालत में जबकि छन्दादि की दृष्टि से वैसा करने की जरुरत नहीं थी । आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने सुत्तपाहुड में उत्कृष्ट लिंग का निर्देश करते हुए। "जो उसो, भिख्खं भयेह पत्तों" जैसे वाक्य के द्वारा पात्र हाथ में लेकर भिक्षा के लिए भ्रमण करने वाला लिया है उससे भी प्राचीन समय में अनेक घरों से भिक्षा लेने की प्रथा का पता चलता है। भ्रामरी वृत्ति द्वारा अनेक घरों से भिक्षा लेने के कारण किसी को कष्ट नहीं पहुँचता, व्यर्थ के आडम्बर को अवसर नहीं मिलता और भोजन भी प्राय: अनुद्दिष्ट मिल जाता है । "तपस्यन्" पद उस बाह्याभ्यन्तर तपश्चरण का द्योतक है जो कर्मों का निर्मूलन करके आत्म विकास को सिद्ध करने के लिए यथासम्भव किया जाता है और जिसमें अनशनादि बाह्य तपश्चरणों की अपेक्षा स्वाध्याय तथा ध्यानदिक आध्यान्तर तपों से अधिक महत्व प्राप्त है । बाह्य तप सदा आभ्यन्तर तप की वृद्धि के लिए किये जाते हैं । वहाँ इस व्रतधारी के लिए उद्दिष्ट विरत या क्षुल्लक जैसा नाम न देकर उत्कृष्ट पद का प्रयोग किया गया है । वह भी अपनी खास विशेषता रखता है और इस बात को सूचित करता है कि स्वामी समन्तभद्र अपने इस व्रती को क्षुल्लकादि न कहकर उत्कृष्ट श्रावक कहना अधिक पंसद करते थे । श्रावक का यह पद जो पहले एक रूप में था बाद में दो भागों में विभक्त हुआ पाया जाता है, जिनमें से एक को आजकल क्षुल्लक और दूसरे को ऐलक कहते हैं ऐलक पद की कल्पना बहुत पीछे की है[130] ।

साधक श्रावक – जिसका देश संयम पूर्ण हो चुका है और जो आत्म ध्यान में लीन होकर समाधिमरण करता है उसको साधक श्रावक व निष्पन्न देश संयमी कहते हैं । गणधरादिक श्रेष्ठ पुरुष उपायरहित उपसर्ग आने पर दुर्भिक्ष होने पर, बुढ़ापा आने पर और मृत्युदायक रोग होने पर, धर्म के अर्थ शरीर के छोड़ने को सल्लेखना कहते हैं[131] । मृत्यु समय की क्रिया का सुधारना अर्थात् संन्यास धारणपूर्वक शरीर को छोड़ना ही तप का फल है, इस प्रकार सर्वज्ञ देव कहते हैं[132] । समाधिकरण के समय राग, द्वेष सम्बन्ध और बाह्याभ्यन्तर परिग्रह को छोड़कर शुद्ध होता हुआ प्रिय वचनों से अपने कुटुम्बियों और नौकर-चाकरों से भी क्षमा करावे । आप भी क्षमा करे[133]। छलकपट रहित और वृत कारित अनुमोदना से, किये हुए समस्त पापों की आलोचना करके मरण पर्यन्त रहने वाले समस्त महाव्रतों को धारण करे[134] । शोक, भय, विषाद, राग, कलुषता और अरति को त्याग करके तथा अपने बल और उत्साह को प्रगट करके संसार के दु:खरूपी संताप को दूर करने वाले अमृत रूप शास्त्रों के श्रवण से मन को प्रसन्न करे[135] । इस क्रम से आहार को छोड़कर दुग्ध व छाछ को बढ़ावे और दुग्धादिक को छोड़कर कांजी और गरम जल को पीता रहे[136] । तत्पश्चात् उसके बाद उष्ण जलपान का भी त्याग करके और शक्त्यनुसार उपवास करके पंच नमस्कार मन को मन में धारण करता हुआ शरीर को छोड़े[137] ।

अवश्यंभावी मरण के समय कषायों को कृश करने के साथ शरीर के कृश करने में व्यापार करने वाले पुरुष को समाधिमरण रागादि भावों के नहीं होने से आत्मघात रूप नहीं है । जो पुरुष

कषायाविष्ट होकर कुम्भक (श्वास निरोध) जल, अग्नि, विष और शस्त्रादिकों से प्राणों का घात करता है, उसका वह मरण सचमुच आत्मघात है। इस समाधिमरण में चूँकिहिंसा के कारण भूत कषाय क्षीणता को प्राप्त कराये जाते हैं, अत: आचार्यों ने सल्लेखना को अहिंसा की सिद्धि के लिए ही कहा है[138]।

श्री चामुण्डराय से चारित्रसार में कहा है कि कदली घात से अथवा अपना विपाककाल पूर्ण हो जाने के कारणवश अपने परिणामों के द्वारा पूर्वभव में उपार्जित आयुकर्म का, स्पर्शन आदि इन्द्रियों का, मनोबल, वचनबल, कायबल और श्वासोच्छवास का क्षय होना मरण है, वह दो प्रकार का है, नित्यमरण और तद्भव मरण, प्रतिसमय अपने आयु कर्म के निषेकों की निवृत्ति रूप निर्जरा होने को नित्य मरण करते हैं। नवीन भव की प्राप्ति और उसके अनन्तर पूर्ववर्ती भव के विनाश को तद्भव मरण कहते हैं। यहाँ पर तद्भव मरण का ग्रहण करना चाहिए। मरण का अन्त काल जिसका प्रयोजन है ऐसी सल्लेखना को मारणान्तिकी सल्लेखना कहते हैं। बाहरी शरीर का और भीतरी कषायों का क्रम से उनके कारणों को घटाते हुए सम्यक् प्रकार से क्षीण करना सल्लेखना कहलाती है। आवश्यकादि करते समय नित्य प्रार्थना किये जाने वाले समाधिमरण के अवसर पर यथाशक्ति प्रयत्न करके और उस समय शीत उष्ण आदि परीषहों के प्राप्त होने पर जैसे तपश्चर्या में स्थित साधु शीत उष्णादि की बाधा होने पर हर्ष विषाद नहीं करता है, उसी प्रकार सल्लेखना को करता हुआ श्रावक भी हर्ष विषाद न करके सर्व परिजनों से स्नेह, शत्रुओं से बैर, साथियों की सङ्गति और परिग्रह का परित्याग कर विशुद्ध चित्त होकर स्वजन और परिजनों को नि:शल्य होकर प्रिय वचनों से क्षमा करे और क्षमा माँगे। पुन: मान कषाय से रहित होकर कृत कारित और अनुमोदना से अपने सब पापों की गुरु के समीप आलोचना करके मरण पर्यन्त के लिए महाव्रतों को धारण करके अरति, दीनता, विषाद, भय और कालुष्य आदि को दूर कर, बल और उत्साह को प्रकट कर श्रुत वचनामृत से मन को प्रसन्न करके क्रम से आहार को घटाकर स्निग्ध पान करे। तदनन्तर स्निग्ध पान को घटाकर खरपान आरम्भ करें और खरपान को भी घटाकर यथाशक्ति कुछ दिन उपवास करके गुरु के पादभूत में रहते हुए पञ्च नमस्कार मन्त्र का उच्चारण करके और पञ्च परमेष्ठियों के गुणों का स्मरण करते हुए पूरी सावधानी के साथ शरीर का त्याग करे, इस सल्लेखना का धारण साधु के भी होता है[139]।

सल्लेखना के अतिचार - जीने मरने की वांक्षा करना, भय, करना, मित्रादिकों का स्मरण करना और आगामी काल में भोगों की वांक्षा करना, ये पाँच सल्लेखना के अतिचार हैं[140]।

1. **जीविताशंसा** - जो समाधिमरण धारण करके भी अपने जीवित रहने की इच्छा रखता है उसके सल्लेखना व्रत में जीविताशंसा नाम का अतिचार लगता है[141]।

2. **मरणा शंसा** - जो उपवास धारण करके रोग, क्लेश व परीषहों के कारण शीघ्र ही अपने मरने की इच्छा करता है, उसके मरणाशंसा नाम का अतिचार लगता है[142]।

3. **भय**- जो इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी तीव्र भय करता है, उसके संन्यास में मल उत्पन्न करने वाला भय नाम का अतिचार लगता है[143]।

4. **अशुभ** - जो मोह के कारण अपने मित्रों का तथा बालकपन में खेलकूदों का स्मरण करता है उसके मित्रानुराग नाम का अशुभ अतिचार लगता है[144]।

5. निदान – जो पुरुष भोगोपभोग के कारणों की इच्छा करता है आगे के लिए स्वार्गादिक राज्य चाहता है और इस प्रकार निदान करता है उसके अत्यन्त पाप उत्पन्न करने वाला निदान नाम का अतिचार लगता है[145] ।

समाधिमरण का फल – जो बुद्धिमान गृहस्थ पाँचों अतिचारों को छोड़कर समाधिमरण धारण करता है उसको मुनि के समान फल मिलता है। यह समाधिमरण समस्त गुणों का निधान है, स्वर्ग मोक्ष का एक अद्वितीय कारण है । जिनराज और गणधरदेव भी इसकी प्रशंसा करते हैं यह पाप रूपी वृक्ष को काटने के लिये कुठार है समस्त इन्द्रियों को वश में करने के लिए जाला है व्रतों से परिपूर्ण है और पुण्य से भरपूर है । अत: इसे अवश्य ही धारण करना चाहिए[146] ।

अष्ट मूल गुण – आचार्य समन्तभद्र ने मद्य, मांस, मधु का त्याग और पाँच अणुव्रत पालन करने को आठ मूल गुण कहा है[147] । आचार्य सोमदेव ने उपासकाध्ययन में कहा है – पाँच उदुम्बर और मद्य, मांस, मधु का त्याग ये आठ मूल गुण गृहस्थों के हैं[148] । आचार्य जिनसेन ने पाँचो पापों के त्याग के साथ जुआ, मद्य और माँस का त्याग करना अष्ट मूल गुण कहा है[149] । पंडित प्रवर आशाधर जी ने मद्य, माँस, मधु के साथ पाँच उदुम्बर फलों को छोड़ने को कहा है[150] । साथ ही उन्होंने प्राचीन आचार्यों के मूल गुण विषयक मतभेद की भी चर्चा की है । उन्होंने कहा है –

अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधादिवा ।
फलस्थाने स्मरेद्ध धूतं मधुस्थाने इहैव वा1
। सागार धर्मामृत 2/3

अर्थात – आचार्य इन मद्य, मांस, मधु और पंचक्षीर फलों के त्याग को गृहस्थों के मूल गुण मानते हैं अथवा कोई आचार्य पंच उदम्बर फल के स्थान में स्थूल हिंसादि का त्यागरूप पाँच अणुव्रत और मद्य, माँस, मधु के त्याग को अष्टमूल गुण कहते हैं अथवा उन्हीं मूल गुणों में मधु के स्थान में जुआ खेलने का त्याग करना मूल गुण है । पाँच अणुव्रत के स्थान पर पाँच उदुम्बर फलों के त्याग को जो स्थान दिया गया उसका कारण क्या है इस विषय में रत्नमाला में लिखा है कि मद्य, मांस, मधु का त्याग और पाँच अणुव्रत ये आठ मूल गुण पुरुष के हैं और पाँच उदुम्बर और तीन मकार का त्याग ये आठ मूल गुण बच्चों के हैं[151] । वास्तव में पंच अणुव्रत के स्थान पर पाँच उदुम्बर फलों की गणना बच्चों के ही उपयुक्त है किन्तु इसमे सामयिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। सावयधम्मदोहा में लिखा है –

मज्जु मंसु महु परिहरह संपइ सावउ सोइ ।
णीरूक्खड एरंड वणि किणं भवाई होइ ।।77।।

मद्यपान में दोष – पंडित प्रवर आशाधर जी ने कहा है कि यदि मद्य की एक बिन्दु के जीव संचार करें तो तीन लोक को पूरण कर दें । जिस मद्य से मोहित हुए जीव इस लोक और परलोक को भ्रष्ट कर देते हैं उस मद्य को अवश्य छोड़ देना चाहिए । जिसके पीने पर रस में उत्पन्न होने वाले जीवों का समूह शीघ्र ही मर जाता है तथा निन्दा और पाप केसाथ साथ काम, क्रोध, भय, भ्रम आदि अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं उस मद्य का त्याग करने वाला धूतिल नामक चोर के समान आपत्ति को नहीं प्राप्त होता है । पुन: मद्य को पीने वाला एक पाद के समान दुराचार का आचरण करता हुआ दुर्गति में डूबता है[152] ।

मांस निषेध – मांस स्वभाव से ही अपवित्र है, दुर्गन्ध से भरा है । दूसरों की जान ले लेने पर तैयार होता है तथा कसाई के घर जैसे दु:स्थान से प्राप्त होता है। ऐसे मांस को भले आदमी

कैसे खाते हैं ? यदि जिस पशु को मांस के लिए हम मारते हैं दूसरे जन्म में वह हमें न मारे या मांस के बिना जीवन ही न रह सके तो प्राणी नहीं करने योग्य पशु हत्या भले ही करे किन्तु ऐसी बात नहीं है । मांस के बिना भी मनुष्यों का जीवन चलता ही है ।

धर्म के सुख भोगने वाले न जाने धर्म से द्वेष क्यों करते हैं । एच्छित वस्तु को देने वाले कल्पवृक्ष से कौन द्वेष करता है । यदि बुद्धिमान पुरुष थोड़े से कष्ट से अच्छा सुख प्राप्त करना चाहता है तो जो काम उसे स्वयं बुरे लगें इन कामों को दूसरों के प्रति भी उसे नहीं करना चाहिए।

जो दूसरों का घात न करके सुख का सेवन करता है, वह इस जन्म में भी सुख भोगता है और दूसरे जन्म में भी सुख भोगता है । धर्मरत्नाकर के पाठ के अनुसार दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जो दूसरों के घात के द्वारा सुख भोगने में तत्पर रहता है वह वर्तमान में सुख भोगते हुए भी दूसरे जन्म में दुख भोगता है । (आगे के श्लोक को देखते हुए यही अर्थ विशेष उचित प्रतीत होता है) जो मनुष्य तात्कालिक सुखोपभोग में आसक्त होकर धर्म कर्म में मूढ़ नहीं हो जाता अर्थात् धर्म कर्म करता रहता है वह इस लोक में और परलोक में दु:ख नहीं उठाता[153] ।

मांस और अन्न दूध वगैरह में अन्तर – कुछ लोगों का कहना है कि मूँग, उड़द वगैरह में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि जैसे ऊँट, मेढा वगैरह के शरीर में जीव रहता है वैसे ही मूंग, उड़द वगैरह में भी जीव रहता है । दोनों ही जीव के शरीर हैं । अत: जीव का शरीर होने से मूंग, उड़द वगैरह भी मांस ही हैं । किन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि मांस जीव का शरीर है यह ठीक है । किन्तु जो जीव का शरीर है वह मांस होता भी है और नहीं भी होता है । जैसे नीम, वृक्ष होता है किन्तु वृक्ष नीम होता भी है और नहीं भी होता है । तथा जैसे ब्राह्मण और पक्षी दोनों में जीव है फिर भी पक्षी को मारने की अपेक्षा ब्राह्मण को मारने में अधिक पाप है । वैसे ही फल भी जीव का शरीर है और मांस भी जीव का शरीर है, किन्तु फलखाने वाले की अपेक्षा मांस खाने वाले को अधिक पाप होता है तथा जिसका यह कहना है कि फल और मांस दोनों ही जीव का शरीर होने से बराबर है उसके लिए पत्नी और माता दोनों स्त्री होने से समान हैं और शराब तथा पानी दोनों पेय होने से समान है । किन्तु जैसे वह पानी और पत्नी का उपभोग करता है वैसे ही शराब और माता का भी उपभोग नहीं करता ।

गौ का दूध शुद्ध है किन्तु गौमांस शुद्ध नहीं है, वस्तु का वैचित्रय ही इस प्रकार है। देखों साँप की मणि से विष दूर होता है किन्तु साँप का विष मृत्यु का कारण है ।

अथवा मांस और दूध का एक कारण होने पर भी गोमांस छोड़ने योग्य है और दूध पीने योग्य है । जैसे कारस्कर नाम के विषवृक्ष का पत्ता आयुवर्धक होता है और उसकी जड़ मृत्यु का कारण होती है । और भी कहते हैं -

मांस भी शरीर का हिस्सा है और घी भी शरीर का ही हिस्सा है, फिर भी मांस में दोष है, घी में नहीं । जैसे ब्राह्मणों में जीभ से शराब का स्पर्श करने में दोष है, के पैर में लगाने पर नहीं।

यदि विधि से ही वस्तु शुद्ध हो जाती है तो ब्राह्मणों के लिए कोई वस्तु असेव्य रहती ही नहीं । और यदि केवल वस्तु की शुद्धि ही अपेक्षित है तो चाण्डाल के घर पर भी भोजन कर लेना चाहिए अत: द्रव्य, दाता और पात्र तीनों के शुद्ध होने पर भी शुद्ध विधि बनती है, क्योंकि सैकड़ों संस्कार करने पर भी शूद्र ब्राह्मण नहीं हो सकता । इसलिए जो अपना कल्याण चाहते हैं उन्हें बौद्ध, सांख्य, चार्वाक, वैदिक और शैवों के मतों की परवाह न करके मांस का त्याग कर देना चाहिए।

जैसे जो परस्त्रीगामी पुरुष अपनी माता के साथ सम्भोग करता है वह दो पाप करता है एक तो परस्त्री गमन का पाप करता है और दूसरे माता के साथ सम्भोग करने का पाप करता है। वैसे ही जो मनुष्य धर्म बुद्धि से लालसापूर्वक मांस भक्षण करता है वह भी दुहरा पाप करता है। एक तो वह मांस खाता है, दूसरे धर्म का ढोंग रचकर उसे खाता है[154]।

मधु के दोष - मधु मक्खियों के अण्डों के निचोड़ने से पैदा हुए मधु का, जो रस और वीर्य के मिश्रण के समान है, सज्जन पुरुष कैसे सेवन करते हैं ? मधु का छत्ता व्याकुल शिशु के गर्भ की तरह है और अण्डे से उत्पन्न होने वाले जन्तुओं के छोटे-छोटे अण्डों के टुकडे जैसा है। भील लोधी, वगैरह हिंसक मनुष्य उसे खाते हैं। उनमें माधुर्य कहां से आया[155] ?

पञ्च उदुम्बर फल के भक्षण में दोष- गीले अथवा सूखे पीपल ,ऊम्बर, पाकर, बड़, अंजीर इन पाँच उदुम्बर फलों को खाने वाला मनुष्य मानव त्रस जीवों को तथा राग विशेष होने से अपने आपको भी नष्ट करता है[156]। इन फलों को विदीर्ण करने पर कुछ जीव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं और असंख्यात जीव सूक्ष्म होते हैं वे दृष्टिगोचर नहीं होते उन फलों को खाने से उन सब जीवों को घात होता है। इसलिये द्रव्य प्राणों को घात होने से द्रव्य हिंसा होती है । खाने की लोलुपता रूप राग होने से भाव हिंसा भी होती है।

नवनीत का निषेध - मधु के समान नवनीत (मक्खन) को भी छोड़ना चाहिए ,क्योंकि उसमें भी दो मुहूर्त के बाद निरन्तर बहुत से जीवों का समूह (समूर्च्छन जीव) उत्पन्न होते हैं[157]।

प्रकारान्तर से अष्ट मूल गुण का कथन - मद्य, मांस, मधु का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग और पञ्च उदुम्बर फलों का त्याग ये पाँच और देव वन्दना, जीव दया और पानी छानकर पीना, इस प्रकार किसी शास्त्र में अष्ट मूलगुण माने गये हैं। ऐसा कथन भी पं. आशाधर जी ने सागार धर्मामृत में किया है[158]।

जैनों के चार आश्रम - जैन शास्त्रों में जैन लोगों के ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा भिक्षुक इस तरह चार आश्रम कहे गये है[159]।

ब्रह्मचारियों के भेद - उपासकाध्ययन नामक सप्तम अङ्ग में ब्रह्मचारियों के अदीक्षा ब्रह्मचारी, उपनाम ब्रह्मचारी, गूढ़ ब्रह्मचारी , अवलम्ब ब्रह्मचारी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी इस तरह पाँच भेद कहे है[160]।

1. अदीक्षित ब्रह्मचारी - ब्रह्मचारी का वेष धारण किये बिना जिन्होंने सिद्धान्त का अध्ययन किया है ऐसे जो गृहस्थ लोग हैं उन्हें जिनागम में अदीक्षित ब्रह्मचारी कहते हैं[161]।

2. उपनय ब्रह्मचारी - जिन्होंने शास्त्र का अभ्यास किया है जो गणधर सूत्र को धारण करने वाले हैं और गृहस्थ धर्म में तत्पर हैं उन्हें उपनय ब्रह्मचारी कहते हैं[162]।

3. गूढ़ ब्रह्मचारी - जिन्होंने कुमार काल में ही मुनिवेष धारण करके सिद्धान्त का अध्ययन किया है वे फिर कभी अपने बन्धु लोगों के तथा राजादि के आग्रह से दु:सह परीषहोपसर्गादि के न सहन होने से अथवा अपने आप ही उस धारण किये हुए जिनरूप (मुनिवेष) को छोड़कर गृह कार्य में लगते हैं, उन्हें जिनागम में गूढ़ ब्रह्मचारी कहा है[163]।

4. अवलम्ब ब्रह्मचारी - जो पहले क्षुल्लक रूप धारण करके और जैनागम का अध्ययन करके फिर गृहवास को स्वीकार करते हैं उन्हें अवलम्ब ब्रह्मचारी समझना चाहिए[164]।

5. नैष्ठिक ब्रह्मचारी – जो शिखा तथा (चोटी) यज्ञोपवीत से युक्त हैं जिन्होंने आरम्भ तथा परिग्रह का त्याग कर दिया है, जो भिक्षा करके आहार करते हैं, जो जिनदेव का पूजन करते हैं तथा कौपीन और श्वेत वस्त्र तथा लाल वस्त्र में से किसी एक तरह के वस्त्र खण्ड को धारण करते हैं वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं[165] ।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी को छोड़कर बाकी के अदीक्षा ब्रह्मचारी, उपनय ब्रह्मचारी, अवलम्ब ब्रह्मचारी तथा गूढ़ ब्रह्मचारी ये चार ब्रह्मचारी शास्त्राभ्यास को समाप्त करके अन्त में दार संग्रह अर्थात् स्त्री के साथ विवाह करते हैं[166] ।

गृहस्थ – इज्या (जिनपूजन) वार्ता, तप, दान, स्वाध्याय तथा संयम इन छह कर्मों को जो प्रतिदिन करते हैं वे गृहस्थ कहे जाते हैं[167] ।

वानप्रस्थ – उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक को ही अपवाद लिङ्गी तथा वानप्रस्थ भी कहते हैं[168]।
भिक्षुक– जो विशुद्ध अट्ठाईस मूलगुण पालन करने वाले हैं तथा उत्सर्ग लिङ्गी (मुनिलिङ्गी) धारण करने वाले हैं, सहनशील वे महात्मा भिक्षु (साधु) कहे जाते है[169] ।

श्रावक के छह आवश्यक – वराङ्गचरित और हरिवंश पुराण में दान, पूजा, तप औरशील को श्रावकों का कर्तव्य बतलाया है किन्तु आदिपुराण में भगिवज्जिनसेनाचार्य ने लिखा है कि महाराज भरत ने पूजा, वार्ता[170] दान, स्वाध्याय, संयम और तप को व्रती लोगों का कुलधर्म बतलाया:

''हज्या वार्ता च दत्तिं च स्वाध्यायं सयंमं तपः ।
श्रुतोपासक सूत्रत्वात् स तैभ्य समुपादिशत् ।
कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत्पूजादि वर्णनम् ।
तदा भरतराजर्षि रन्ववोचदनुकमात् ॥25॥

इस तरह उत्तरकाल में शील का विश्लेषण वार्ता, स्वाध्याय और संयम, के रूप में हुआ या यह कहिए कि शील का स्थान इन तीन चीजों ने लिया । इसके बाद वार्ता के स्थान में गुरु सेवा आयी और देव पूजा, गुरु की उपासना स्वाध्याय, संयम तप और दान ये प्रत्येक श्रावक के दैनिक षटकर्म कहलाये, जैसा कि सोमदेव उपासकाचार और पद्मनन्दि पन्चविशंतिका में लिखा है-

देव पूजा गुरुपास्ति, स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थाणां, षट् कर्माणि दिने दिने ॥

तब से श्रावक के ये ही षट् कर्म प्रचलित हैं[171] ।

देव पूजा – जिन्होंने द्रव्य और भाव स्वरूप की अपेक्षा अति उन्नत और दुःखरूप सर्पो की पंक्ति से व्याप्त ऐसे कर्म रूप पर्वतों को ध्यान रूप वज्र के द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया है, जिन्होंने पापों के छेदने वाली तथा कर्मक्षय से उत्पन्न हुई नव केवललब्धियों को मुक्तिरूपी स्त्री की दूती के समान प्राप्त कर लिया है जो गर्भ जन्मादि पञ्च कल्याणकों के धारक हैं, जिनकी सर्व भाषामयी भाषा तीनों जगत् को प्रबोध करने वाली है और तालु ओष्ठ के संयोग से रहित होने के कारण जगत् को आश्चर्य करने वाली है और जैसे मेघ सन्तापहारी जल को बरसाते हैं उसी प्रकार जो जगत् के सन्ताप को हरने वाली वचनों की वर्षा करते हुए लोगों के पुण्य से इस भूतल पर विहार करते हैं, भुवन के ईश्वर इन्द्रादिक जिन के समीप आठ आश्चर्यकारी प्रतिहार्यों को रचकर आदर

के साथ जिनकी लोकातिशायिनी पूजा करते हैं इन्द्र की आज्ञा से यक्ष स्वर्ग की शोभा को भी तिरस्कृत करने वाली और तीन जगत् के प्राणियों से व्याप्त ऐसी जिनकी आस्थायिका(सभाभूमि या समवशरण) को रचता है, जिनका शरीर आद्य वज्रवृषभनाराच संहनन और आद्य समुचतुरस्रसंस्थान वाला है, प्रस्वेद रहित है, क्षीर वर्ण का रूधिर है, ऐसा निर्मल सुगन्ध मय जिनका सुन्दर शरीर शोभा को प्राप्त हो रहा है जिनसे द्वेष करने वाला क्षय को प्राप्त होता है और सन्तुष्ट होने वाला लक्ष्मी को प्राप्त होता है, फिर भी जो दोनों में समवृत्ति रहते हुए न किसी से रुष्ट होते हैं और न किसी से सन्तुष्ट ही होते हैं जिनकी तीन भुवन को सन्तोष देने वाली और अन्य में नहीं पाई जाने वाली सातिशय लक्ष्मी का वर्णन करने के लिए कोई भी पुरुष समर्थ नहीं है जिनमें राग, द्वेष, मद, क्रोध, लोभ मोह आदिक सभी दोष सर्वथा नहीं पाये जाते हैं जैसे कि तप्त स्थानों पर नेवले नहीं पाये जाते हैं ऐसे तीनों लोकों से स्वामियों से पूजित अरहन्तदेव द्रव्य और भाव स्वरूप दो दो प्रकार के पूजन के द्वारा शक्ति के अनुसार भक्तिपूर्वक पूजनीय हैं । वचन और शरीर, का संकोच करना, अर्थातअन्य क्रियायें करना मन को अन्य ओर से हटाकर जिन भक्ति में लगाना इसे पुरातन पुरुषों ने भाव पूजा कही है । अथवा गन्ध, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, अक्षत आदि से विधि पूर्वक की जाने वाली पूजा को द्रव्य पूजा जानना चाहिए और जिनेन्द्र देवों के व्यापक विशुद्ध गुणों कापरम अनुराग से जो बार बार चिन्तवन करना वह भावपूजा कही जाती है । संसार को जीतने वाले जिनेन्द्र देवों की दोनों ही प्रकार से पूजा करने वाले पुरुष को दोनों ही लोकों में कोई भी श्रेष्ठ वस्तु पाना दुर्लभ नहीं है[172] ।

पूजन के भेद - पूजन के छह भेद हैं नाम पूजन, स्थापना पूजन, द्रव्य पूजन, क्षेत्र पूजन, काल पूजन, और भाव पूजन[173] ।

1. नाम पूजन - जिनदेव आदि का नामोच्चारण करके किसी शुद्ध प्रदेश में पुष्पादि क्षेपण करने को नाम पूजन कहते हैं[174] ।

2. स्थापना पूजन - स्थापना पूजन के दो भेद हैं (1) सदभाव स्थापना तथा (2) असद्भाव स्थापना । साकार वस्तु में जो गुणों का आरोप किया जाता है उसे सद्भाव स्थापना पूजा कहते हैं । वराटक (कमलगट्टा) पुष्प, अक्षतादि में यह जिन भगवान हैं ऐसी कल्पना करके जो पूजा की जाती है उसे असद्भाव स्थापना पूजा कहते हैं । इस हुण्डावसर्पिणी काल में लोक में मिथ्यात्व का प्रचार प्रचुरता से होने से असद्भाव स्थापना नहीं करना चाहिए क्योंकि मिथ्यात्वी लोगों ने नाना प्रकार के देवी देवताओं की स्थापना कर डाली है, इसलिए उसमें सन्देह हो सकता है। अर्हन्त भगवान् की प्रतिष्ठादि विधि को वसुनन्दि, इन्द्रनन्दि, आदि के प्रतिष्ठापाठों के अनुसार करना स्थापना पूजा कहलाता है[175] ।

3. द्रव्य पूजन - द्रव्य पूजन के सचित्त द्रव्यपूजा, अचित्त द्रव्य पूजा तथा मिश्र द्रव्य पूजा इस तरह तीन विकल्प हैं । साक्षात अर्हन्तादि की जलादि द्रव्यों से पूजा करने को सचित्त द्रव्य पूजा कहते हैं और उन अर्हन्तादि के शरीर की पूजा करने को अचित्त द्रव्य पूजा कहते हैं तथा अर्हन्तादि की और उनके शरीर की एक साथ पूजा करने को मिश्र द्रव्य पूजा कहते हैं अथवा शास्त्रानुसार, जो आगम तथा आगम से द्रव्य पूजा को समझकर जो भव्य पुरुषों के द्वारा पूजा की जाती है उसे भी द्रव्य पूजा समझना चाहिए[176] ।

4. क्षेत्र पूजन – जिन क्षेत्रों में जिन भगवान् के गर्भ कल्याण, जन्म कल्याणक, दीक्षा कल्याणक, ज्ञान कल्याणक, निर्वाण कल्याणक हुए हैं उनका विधिपूर्वक जलादि 8 द्रव्यों से पूजन करने को क्षेत्र पूजन कहते हैं[177] ।

5. काल पूजन – जिन दिन अर्हन्त भगवान के गर्भ कल्याण, जन्म कल्याण, दीक्षा कल्याण, केवल ज्ञान कल्याण तथा निर्वाण कल्याण हुए हैं उस दिन नन्दीश्वर में तथा रत्नत्रय पर्व में जिन भगवान् की पूजा करने को काल पूजन कहते हैं[178] ।

6. भाव पूजन – अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान-अनन्त सुख और अनन्तवीर्य रूप अनन्त चतुष्टय से युक्त जिन भगवान के गुणों की स्तुति पूर्वक जो त्रिकाल सामायिक की जाती है उसे भाव पूजन कहते हैं। अर्हन्त सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पञ्च परमेष्ठियों का अपनी शक्ति पूर्वक जो नाम स्मरण किया जाता है उसे तथा अर्हन्त भगवान के गुणों का स्तवन करने को भाव पूजन कहते हैं तथा पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार प्रकार के ध्यानों का अच्छी तरह ध्यान करने को उत्तम भाव पूजन कहते हैं[179] । उपर्युक्त ध्यानों का विशेष स्वरूप ज्ञानार्णव में वर्णित है ।

पूजन के दो प्रकार हैं 1- नित्य पूजन और 2- नैमित्तिक पूजन ।

नित्य पूजन – पवित्र शरीर होकर गृहस्थ लोग जो अपने गृह से जिन भगवान का पूजन करते हैं वह नित्य पूजा कही गई है । जिन बिम्ब की स्थापना (प्रतिष्ठा) करना, जिनालय का बनवाना, जिन शासन की वृद्धि के लिए जिन मन्दिर में ग्राम तथा गृहादि का देना, अपने गृह में जिन भगवान का पूजन करना, तीनों काल देव वन्दना (सामायिक) करना तथा दान देने के समय मुनियों के चरणों का पूजन आदि करना ये सब नित्य पूजन के ही भेद हैं[180]।

नैमित्तिक पूजन – मण्डलेश्वर राजा, महाराजा जो पूजन करते हैं उसे चुतर्मुख पूजन कहते हैं और जो पूजन छह खण्ड वसुन्धरा के अधिपति चक्रवर्ती करते हैं उस पूजन का नाम कल्पद्रुम पूजन है । जो नन्दीश्वर महापर्व में पूजा की जाती है उसे अष्टान्हिक पूजन कहते हैं और इन्द्रादि देवों से जो पूजा की जाती है उसे इन्द्रध्वज पूजन कहते हैं । चुतर्मुख, कल्पवृक्ष, अष्टाहिनक तथा इन्द्रध्वज में जो नैमित्तिक पूजन विधान के चार भेद कहे हैं उनके और भी अनेक भेद हैं उन्हें विस्तार पूर्वक पूजा कल्प (पूजन सम्बन्धी शास्त्रों) में जानना चाहिए[181] ।

जिन पूजन के छह प्रकार – आचार्य सोमदेव ने देवपूजन के छह प्रकार बतलायें हैं प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजा का फूल, इनका विस्तृत रूप से वर्णन उपासकाध्ययन में किया गया है ।

पूजा का फल – आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि जिसके जिनेन्द्र भक्ति है ऐसा भव्य जीव अपरिमित देवेह समूह की महिमा को और राजाओं के मस्तक से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्र को तथा नीचे किया है समस्त लोक को जिसने ऐसे तीर्थंकर पद को प्राप्त होकर मोक्ष को पाता है[182]।
वार्ता -असि (खड्ग धारण करना) मसि (लिखना) कृषि (खेती करना) तिर्यंचों का पालन करना, व्यापार करना तथा विद्या इन छह बातों से नीति पूर्वक धन के कमाने को वार्ता कहते हैं[183] ।

दान – गृहस्थ के द्वारा पात्र, आगम, विधि, द्रव्य, देश और काल का उल्लंघन नहीं करके अपनी शक्ति के अनुसार दान दिया जाना चाहिए[184] ।

पात्रों के भेद – पात्र दो प्रकार के होते हैं – धर्मपात्र और कार्यपात्र । सागार धर्मामृत में कहा गया है कि कल्याण चाहने वाले पुरुषों के द्वारा परलोक में स्वर्गादि सम्पत्ति की सिद्धि के लिए धर्म पात्रों को दान देना चाहिए अनुग्रह करना चाहिए , इस लोक में कार्य सिद्धि के लिए त्रिवर्ग में साधन भूत कार्य पात्रों को अनुग्रहीत करना चाहिए और कीर्ति के लिए भी उचित क्रियाओं का आचरण करे[185] । धर्मपात्र पाँच प्रकार के होते हैं । सामयिक साधक, समयद्योतक, नैष्ठिक और गणाधिप ।

1. **सामयिक** – जिन समय में आश्रित गृहस्थी व मुनि सामयिक कहलाते हैं ।

2. **साधक** – ज्योतिष मन्त्रवादादि लोकोपकारक शास्त्र के जानने वाले साधक कहलाते हैं ।

3. **समयद्योतक** –वाद विवाद के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना करने वाले समयद्योतक कह लाते हैं ।

4. **नैष्ठिक** – मूलोत्तर गुण और प्रशंसनीय तपोनिष्ठान में निष्ठा रखने वाले नैष्ठिक कह लाते हैं ।

5. **गणाधिप** – गृहस्थाचार्य और धर्माचार्य गणाधिप कहलाते हैं ।

एक अन्य रूप में पात्रों के छह भेद किये गये हैं । उत्तम पात्र, मध्यम पात्र, जघन्य पात्र, कुपात्र और अपात्र, अनगार उत्कष्ठ पात्र, अणुव्रती मध्यम पात्र तथा व्रत रहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र, व्रत सहित सम्यग्दर्शन रहित जीव कुपात्र तथा व्रत और सम्यग्दर्शन रहित जीव अपात्र कहलाते हैं । पं. आशाधर जी ने कहा है कि जघन्य, मध्यम उत्तम और कुपात्र में वितीर्ण किया है दान को जिसने ऐसा मिथ्यादृष्टि मानव क्रम से जघन्य, मध्यम, उत्तम और कुभोगभूमि के भोगों को भोगने के बाद बचे हुए पुण्य से यथायोग्य देव होता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि सुपात्र दान के पुण्योदय से उत्तमोत्तम, महर्द्धिक आदि कल्पवासी, स्वर्गों के भोग तथा चक्रवर्ती आदि मनुष्यों के उत्तम पद को प्राप्त कर मोक्ष पद को पाता है तथा अपात्र में दिया हुआ दान व्यर्थ है[186] ।

दान के फल में भेद – विधि, द्रव्य, दातृ और पात्र के भेद मे दान के फल में भी भेद होता है[187] ।

विधि – दान के समय प्रतिग्रह (पडगाहना) आदि की क्रियाओं में आदर या अनादर होने से दान की विधि में भेद हो जाता है और उससे फल में भी भेद होता है[188] ।

द्रव्य – तप और स्वाध्याय की वृद्धि आदि का कारण होने से देय में भेद हो जाता है । एक पदार्थ तो ऐसा होता है जो लेने वाले के लिए समताभाव का करने वाला होता है और दूसरा पदार्थ ऐसा होता है जो विषमता का करने वाला होता है । इसलिये देय और द्रव्य में होने से दान के फल में भी भेद होता है[189] ।

दाता – मन की गति विचित्र होती है । कोई दाता ईर्ष्या, विषाद आदि दुर्गुणों से रहित होता है और कोई दाता ईर्ष्या आदि दुर्गुणों से युक्त होता है ? यही दाता की विशेषता है[190]।

पात्र – मोक्ष के कारणभूत दानों के ग्रहण करने में सत्पुरुषों के मन की वृद्धि का जो तारतम्य-हीनाधिकता है वह पात्र की विशेषता है[191] । जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तप की शुद्धि से पवित्र हैं तथा शत्रु और मित्रों पर माध्यस्थ्य भाव रखते हैं ऐसे साधु उत्तम पात्र कहलाते हैं । संयमासंयम को धारण करने वाले श्रावक मध्यम पात्र कहलाते हैं और अविरत सम्यग्दृष्टि

जघन्य पात्र कहे जाते हैं। उक्त तीनों प्रकार के पात्रों को यथा योग्य दान देकर बुद्धिमान् मनुष्य आर्यभूमि में आर्य होकर वहाँ का दिव्य सुख भोगता है। जिस प्रकार उत्तम खेत में विधिपूर्वक बोया हुआ छोटा सा बीज बढ़ता है, उसी प्रकार पात्र के लिए दिया हुआ आहार आदि दान भी बढ़ता है। जिस प्रकार धान और ईख के खेत में पड़ा हुआ जल मीठा हो जाता है और गायों के द्वारा पिया हुआ दूध अवस्था को प्राप्त होता है। उसी प्रकार पात्र के लिए दिया हुआ अल्प रस वाला अन्न पान तथा औषधि आदि का दान परभव में अविनाशी तथा अमृत के स्वाद से युक्त हो जाता है। जो स्थूल हिंसा आदि से निवृत्त है परन्तु मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के धारक हैं वे कुपात्र कहलाते हैं और जो स्थूल हिंसा आदि से निवृत्त नहीं हैं उन्हें अपात्र जानना चाहिए। कुपात्र दान के प्रभाव से मनुष्य भोगभूमियों में तिर्यञ्च होते हैं अथवा कुमानुष कुलों में उत्पन्न होकर अन्तरद्वीपों का उपभोग करते हैं। जिस प्रकार ख़राब खेत में बोया हुआ बीज अल्प फल वाला होता है उसी प्रकार कुपात्र के लिए दिया हुआ दान भी दाता को कुभोग प्राप्त कराने वाला होता है। जिस प्रकार ऊसर खेत में बोया हुआ धान समूलनष्ट हो जाता है उसी प्रकार कुपात्र के लिए दिया हुआ दान भी निष्फल हो जाता है। जिस प्रकार नीम के वृक्ष में पड़ा हुआ पानी कडुवा हो जाता है, कोदों में दिया हुआ पानी मदकारक हो जाता है। और सर्प के मुख में पड़ा हुआ दूध विष हो जाता है उसी प्रकार अपात्र के लिए दिया हुआ दान विपरीत फल को देने वाला हो जाता है। चूँकि सुपात्र को दिया हुआ दान सुफल देता है। कुपात्र को दिया हुआ दान कुफल देता है और अपात्र को दिया दान दु:ख देता है अत: पात्र को ही दान देना चाहिए[192]।

चार प्रकार के दान - दान चार प्रकार का होता है - आहार दान, औषधदान, शास्त्र दान तथा अभय दान।

1. आहार दान - गृहस्थों को अपने आप आये हुए पात्रों के लिये शुद्ध प्रासुक चिकना व मुलायम कृत कारित, अनुमोदना आदि दोषों से रहित तपश्चरण को बढ़ाने वाला सचित्त रहित, सचित्त की मिलावट से रहित सारभूत सुख देने वाला और जो कुटुम्बी आदि के लिए बनाया गया हो, ऐसा आहार देना चाहिए। श्रद्धा, भक्ति, शक्ति, अलुब्धता, दया, क्षमा और विज्ञान ये सात दाताओं के श्रेष्ठ गुण हैं। मुनियों का पडगाहन करना उनको ऊँचा आसन देना, उनके चरण कमल धोना, पूजा करना, चित्त लगाकर प्रणाम करना, मन को शुद्ध रखना, वचन को शुद्ध रखना, शरीर को शुद्ध रखना और आहार की शुद्धि रखना। ये नौ गृहस्थों को पुण्य बढ़ाने वाले दान की विधि के भेद कहलाते हैं। इन्हीं को नवधा भक्ति कहते हैं। नवधा भक्ति करने वाले और ऊपर लिखे सात गुणों से सुशोभित गृहस्थों को भक्ति पूर्वक उत्तम पात्रों के लिए प्रासुक हिंसादि समस्त पापों से रहित योग्य सुख देने वाला लोक निन्दा से रहित और समस्त रोगों को दूर करने वाला आहार देना चाहिए[193]। आहार देने से मुनियों के सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि गुणों की वृद्धि होती है और फिर उत्तम ध्यान होने से आत्मानन्द का अनुभव आता है। आहार दान के सम्बन्ध से मुनियों का शरीर कायोत्सर्ग आदि गुण रूप तपश्चरण में पर्वत के समान स्थिर हो जाता है। जिस प्रकार उत्तम औषधि से रोग नष्ट हो जाते हैं और प्राण बच जाते हैं, उसी प्रकार आहार से उत्तम पात्रों की क्षुधा आदि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं और उनके प्राण बने रहते हैं। जिस प्रकार आहार छोड़ देने पर हाथी कुछ नहीं कर सकता। उसी प्रकार बिना आहार के मुनि भी तपश्चरण चारित्र ध्यान आदि कुछ नहीं कर सकते। जिस प्रकार भोजन से पुष्ट हुआ हाथी सब कुछ कर सकता है उसी

प्रकार समस्त मुनिराज आहार के बल की सामर्थ्य से घोर तपश्चरण करते हैं[194] । आहार दान देने से जिस प्रकार पूज्य पात्रों का अत्यन्त उपकार होता है उसी प्रकार गृहस्थ मनुष्यों का भी उपकार होता है उसके सब गुण बढ़ जाते हैं और दोष नष्ट हो जाते हैं[195] । संसार में वे ही मनुष्य धन्य हैं जिनके घर इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि के द्वारा पूज्य मुनिराज आहार के लिए आते हैं[196] ।

औषधि दान - उत्तम गृहस्थों को किसी मुनिराज को रोगी जानकर उस रोग को शान्त करने के लिए औषधि दान देना चाहिए । औषधि दान से समस्त परिग्रहों का त्याग करने वाले मुनियों के सब रोग नष्ट हो जाते हैं और उनका शरीर स्वस्थ हो जाता है । शरीर स्वस्थ होने से वे मुनिराज सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धारण करने में समर्थ होते हैं तथा उसके प्रभाव से वे स्वर्ग मोक्ष में जा विराजमान होते हैं । इसलिए औषधिदान से मनुष्यों को महान् पुण्य की प्राप्ति होती है । उनका शरीर सदा निरोग रहता हैऔर लावण्यता आदि से सुशोभित रहता है[197] ।

ज्ञान दान - ज्ञान दान देने से मुनियों का व पात्रों का अज्ञान दूर होता है और मोक्ष मार्ग को दिखाने वाला महाज्ञान प्रकट होता है । सम्यग्ज्ञान के कारण ही मुनि श्रेष्ठ ध्यान, चारित्र, यम, नियम आदि सब को पालन कर समस्त सुखों की निधि मोक्ष में जा विराजमान होते हैं । मुनिराज ज्ञान रूपी जहाज पर बैठकर अत्यन्त कठिनता से पार करने योग्य इस संसार रूपी महासागर से स्वयं पार हो जाते हैं और अन्य कितने ही भव्य जीवों को पार कर देते हैं । जो मुनि ज्ञान रहित है वे करने योग्य न करने योग्य, शुभ अशुभ, हेय-उपादेय, विवेक, बन्ध मोक्ष आदि कुछ नहीं जानते। उत्तम विद्वान इस ज्ञानदाता के प्रताप से इस लोक और परलोक दोनों में मनोहर, सुस्वर, मधुर और कानों को सुख देने वाली वाणी प्राप्त करते हैं । कविता करना, पाण्डित्य प्राप्त करना, वादी होना, प्रतापी होना, समस्त शास्त्रों का सबसे अधिक ज्ञान होना छः प्रकार का अवधि ज्ञान प्राप्त होना दोनों प्रकार का मनः पयार्य ज्ञान प्राप्त होना कला विज्ञान आदि में कुशल होना समस्त लौकिक व्यवहार का प्राप्त होना आदि सब ज्ञान दान के ही प्रताप से प्राप्त होता है । इस ज्ञान दान के प्रताप से ज्ञानी पुरुष द्वादशांग, श्रुतज्ञान रूपी महासागर के पार को प्राप्त हो जाते हैं फिर वे अनुक्रम से इस संसार से भी पार हो जाते हैं । बुद्धिमान लोग इस संसार में ज्ञान दान के प्रसाद में तीनों लोकों को शोभित करने का कारण केवल ज्ञान रूपी साम्राज्य प्राप्त करते हैं और अन्त में मोक्ष में पहुँच जाते हैं[198] ।

अभय दान - जिस प्रकार बिना तपश्चरण के शरीर व्यर्थ है उसी प्रकार अभयदान के बिना चारों दान व्यर्थ हैं[199] । यदि किसी को मरने के बदले में रत्नों से भरी हुई समस्त पृथ्वी भी दे दी जाये तो भी कोई मरना स्वीकार नहीं करता[200] । इसी प्रकार अभय दान सब दानों में मुख्य है । जो मनुष्य समस्त जीवों को अभयदान देता है उसके घर तीनों लोकों की लक्ष्मी घर की दासी के समान अपने आप वश में हो जाती है[201] । अभय दान के प्रताप से मनुष्यों को अनन्त महिमा से सुशोभित इन्द्र नरेन्द्र आदि द्वारा पूज्य तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है ।

स्वाध्याय - स्वाध्याय पाँच प्रकार का कहा गया है - 1 वाचना 2-प्रच्छना 3- आम्नाय 4-अनुप्रेक्षा तथा 5-धर्मोपदेश ।

(1) **वाचना** - शब्द और अर्थ का दूसरों को निर्दोष प्रतिपादन करना वाचना स्वाध्याय है ।

(2) **प्रच्छना** – अपने सन्देह को दूर करने के लिए गुरु के पास प्रश्न पूछकर स्पष्ट अर्थ बोध करना प्रच्छना स्वाध्याय है ।

(3) **आम्नाय** – ग्रन्थ का शुद्ध उच्चारण करना आम्नाय स्वाध्याय है ।

(4) **अनुप्रेक्षा** – सात तत्व के स्वरूप का बार बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है ।

(5) **धर्मोपदेश** – भव्य जनों के लिए धर्म का उपदेश देना धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय है[202] ।

संयम - मन और इन्द्रियों के वश करने को तथा त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा करने को संयम कहते हैं इसलिए सब गृहस्थों को अपने योग्य संयम निरन्तर पालन करना चाहिए। संयम दो प्रकार का होता है ।

1. सकल संयम और विकल संयम – सकल संयम मुनि लोगों के धारण करने योग्य होता है तथा विकल संयम गृहस्थ लोगों के पालन करने योग्य है । आरम्भ के बिना तो गृह में रहना नहीं हो सकता और हिंसा के बिना आरम्भ नहीं होता अर्थात आरम्भ में जीवों की हिंसा अवश्य होती है । इसलिए प्रधान तो आरम्भ है वह तो प्रयत्नपूर्वक छोड़ना चाहिए। परन्तु जो आवश्यकीय आरम्भ है वह तो प्रयत्नपूर्वक छोड़ना चाहिए । परन्तु जो आवश्यकीय आरम्भ है वह कठिनता से छूटता है । नैष्टिक श्रावक को गाय आदि पशुओं के द्वारा अपनी जीविका नहीं करनी चाहिए। यदि अपने उपभोग के लिए रखे भी तो बन्धन आदि से रहित रखना चाहिए, और उनके साथ निर्दय व्यवहार न करे तथा पशुओं की रक्षा में निर्दयी पुरुषों को नियोजित नहीं करना चाहिए । मिथ्यादृष्टि पुरुष संयम (मन और इन्द्रियों का वश में करना तथा त्रस तथा स्थावर जीवों की रक्षा) बिना पञ्चाग्नि आदि से एकाग्रतापूर्वक बहुत तपश्चरण करके तपादि के प्रभाव से देव होकर भी फिर संसारी हो जाता है । संयम के बिना कितना भी तपश्चरण क्यों न किया जाय वह सब निष्फल है इसलिए संयमी होना जीवमात्र के लिए आवश्यक है । जो पुरुष सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान, ज्ञान रहित चारित्र तथा संयम रहित तप धारण करता है । उसका यह धारण करना सब निष्प्रयोजन है। इस पवित्र मानव पर्याय को छोड़कर और किसी पर्याय में जीवों को संयम नहीं होता है। ऐसा समझकर आत्महित चाहने वाले सत्पुरुषों को काल की एक कला भी संयम के बिना नहीं खोनी चाहिए[203]।

संयम के भेद – संयम दो प्रकार का होता है -इन्द्रिय संयम और प्राणि संयम[135] पाँचों इन्द्रियों के विषयों को निवृत्ति करना इन्द्रिय संयम और छह काय के जीवों की रक्षा करना प्राणि संयम है[204] । जहाँ पर पाँच प्रकार के स्थावर जीवों और त्रस जीवों की रक्षा की जाती है वहाँ पर प्राणि संयम होता है । प्राणि संयम पालन करने वाले पुरुष को तीन प्रकार के विकलेन्द्रिय जीवों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए । पञ्चेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं- संज्ञी और असंज्ञी । ये सभी जीव पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं । इन सब प्रकार के जीवों की रक्षा करना प्राणि संयम है। प्राणियों की हिंसा के परित्याग से महान् पुण्य होता है और इस दयालुचित्त पुरुष के उपद्रव सदा दूर भागते हैं, उसे कहीं भी दु:ख नहीं होता और सदा संतोष प्राप्त होता है[205] । इन्द्रिय संयम का सेवन करने वाला मनुष्य सबका प्यारा होता है और वह इन्द्र नरेन्द्र आदि पदों को भोग कर संसार के पार पहुँचता है[206] ।

तप – इच्छाओं का निरोध करना तप है । यह दो प्रकार का होता है -

बाह्य तप और आभ्यन्तर तप ।

बाह्य तप – जिस तप में शरीर आदि को क्लेश होता है उसे बाह्य तप कहते हैं और जिस तप में इच्छा का निरोध होता है उसे आभ्यन्तर तप कहते हैं[207] ।

जिस प्रकार क्षार आदि तथा अग्नि आदि के सम्बन्ध से सुवर्ण शुद्धता को प्राप्त होता है उसी तरह बाह्य तथा आभ्यन्तर तप के योग से वह जीव भी कर्मरूप कीच से निर्मलता को प्राप्त होता है। इसलिए गृहस्थों को पञ्चमीव्रत, रोहिणीव्रत, जिनगुण सम्पत्ति तथा नन्दीश्वर व्रत आदि तप करना चाहिए। क्योंकि तप से कर्मों की निर्जरा होती है। श्रावकों को अष्टमी तथा चतुर्दशी के दिन उपवास करना चाहिए। यदि उपवास करने की शक्ति न हो तो काञ्जिक (एक अन्न का खाना) तथा एक भुक्त करना चाहिए। आरम्भ के करने से तथा जल के पीने से जो अनाहार कहा जाता है। केवल आरम्भ के करने से अनुपवास होता है तथा जलपान करने से उपवास होता है जिसमें न तो आरम्भ हो और न जलपान किया जाता है उसे जैन शास्त्रों में महोपवास कहते हैं। ऐसा समझकर अपनी सामर्थ्यानुसार भव्य पुरुषों को उपवास करना चाहिए। मोक्ष पर्यन्त सम्पदा के देने वाली पञ्चमी रोहिणी नन्दीश्वरादि व्रत विधि को करके अपनी सम्पदा के अनुसार उन *विधियों का उद्यापन करना चाहिए, क्योंकि - नैमित्तिक कार्य के करने में मन बहुत आनन्दित* होता है[208]।

सप्त व्यसन त्याग - जुआ खेलना, मद्यपान, मांसाहर, वेश्यागमन, शिकार, चोरी तथा पर स्त्री सेवन ये सात व्यसन दुर्गति गमन के कारणभूत पाप हैं[209]। इनका सेवन करने वालों को जो दोष लगते हैं उनका विस्तृत वर्णन वसुनन्दि श्रावकाचार अमितगति श्रावकाचार, सागार धर्मामृत, लाटी संहिता, उमास्वामि श्रावकाचार, भव्यधर्मोपदेश, उपासकाध्ययन, पद्मचरित पद्मनन्दि पंचविशतिका तथा पुरुषार्थानुशासन पृभृति ग्रन्थों में किया गया है।

फुटनोट

1. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 47
2. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 49
3. तत्त्वज्ञान तरङ्गिणी : 12/15
4. वही 12/16
5. वही 12/17
6. वही 12/14
7. वही 12/18, 19
8. तत्त्वज्ञान तरङ्गिणी 12/20
9. वही 12/21, 22
10. समयसार टीका 6
11. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 50
12. वही 51
13. वही 52
14. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 53
15 पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय 42
16. वही 43
17. वही 44-46
18. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 55
19. पृ. 175-176 2 पृ. 155-158
20. उपासकाध्ययन पृ. 77-78
21. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 58
22. उपासकाध्ययन 349-354
23. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 59
24. 2 अ. 7 सू. 20
25. श्लो 118
26. श्लो. 405
27. गा 338
28 अ. 4 श्लो. 52
29. उपासकाध्ययन 398-413
30. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 54
31. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 56
32. वही 58
33. वही 60
34. वही 62
35 श्रावकाचार संग्रह भाग 4, प्रस्तावना पृ 108-109
36. श्रावकाचार संग्रह भाग 4, प्रस्तावना पृ. 110-111
37. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 67
38. अभिधान राजेन्द्र कोष में "सिक्खावयत्वय शब्द"
39. सागराधर्मामृत 5/26 की टीका
40. उपासकाध्ययन प्रस्तावना पृ. 88-89
41. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 68

42. वही 69
43. वही 70
44. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 74
45. वही 75
46. सर्वार्थसिद्धि व्याख्या 7/21
47. वही
48. वही
49. वही
50. वही
51. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 82
52. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 83
53. वही 84
54 वही 85
55. वही 73
56. वही 81
57. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 90
58. चारित्र प्रा. गा. 24-25
59. अ 7, सू. 21
60. श्लो. 67 और 91
61. पर्व 14, श्लो. 198, 199
62. स. 18, श्लो. 46-47
63 पर्व 10, श्लो. 65-66
64. गाथा 341-368
65. गाथा 213 आदि
66. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 92-95
67. सर्वार्थसिद्धि व्याख्या 7/21
68. गाथा 355
69 रत्नकरण्ड श्रावकाचार 101
70 वही 102
71. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 103
72. वही 104
73. सर्वार्थसिद्धि 7/1
74 गाथा 281-292
75 उपासकाध्ययन 89-90
76 स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 360-361
77. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 360-361
78. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 96
79. तत्त्वार्थ सूत्र 7/33
80. तत्त्वार्थ सूत्र 7/34
81. सर्वार्थसिद्धि व्याख्या 7/36
82. उपासकाध्ययन 92
83. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 137
84. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 138
85. स्वामिकार्तिनेयानुप्रेक्षा गाथा 330
86. आदिपुराण 10/158
87. उपासकाध्ययन 853
88. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 139
89. आचार्य कुन्दकुन्द चारित्र पाहुड 21
90. आदिपुराण 10/158
91. उपासकाध्ययन श्लोक 853
92. स्वामिकार्तिनेयानुप्रेक्षा गाथा 372
93. वसुनन्दि श्रावकाचार 274-278
94. सावय पण्णत्ति 292
95. सावय पण्णत्ति 293
96. वही 293
97. वही 294
98. वही 299
99. सावय पण्णत्ति 299
100. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 140
101. स्वामिकार्तिकेयानुपेक्षा गाथा 373-376
102. वसुनन्दि श्रावकाचार 280-293
103. सावय पण्णत्ति गाथा 321
104. वही 322
105. तिलोयपण्णत्ती गाथा 322
106. स्वामिकार्तियकेयानुप्रेक्षा 379
107. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा 379
108. वही 380
109. वही 381
110. रत्लकरण्ड श्रावकाचार 142
111. वसुनन्दि श्रावकाचार 314-318
112. महा. 10/159
113. उपासकाध्ययन 833
114. सागार धर्मामृत 3/21
115 स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 384
116. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 384
117. तत्वा. वा 8
118. रत्नकरण्ड श्लोक 144
119. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 385
120. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 386
121. वही 386
122. वसुनन्दि श्रावकाचार 299
123. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 145
124. स्वामिकार्तिकेयानुपरेक्षा गाथा 386
125. वही 387

126. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 387
127. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 146
128. उपासकाध्ययन श्लोक 854
129. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 147
130. समीचीन धर्मशास्त्र, 193-194
131. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 122
132. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 123
133. वही 124
134. वही 125
135. वही 126
136. वही 127
137. वही 128
138. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय 177-179
139. चारित्रसार पृ. 260-261
140. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 129
141. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 22/51
142. वही 22/52
143. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 22/53
144. 22/54
145. वही 22/55
146. वही 22/55/57
147. मद्य मांस मधु त्यागै: सहाणुव्रत पञ्चकं।
अष्टौ मूलगुणानहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमा: ॥
148. उपासकाध्ययन 270
149. सागार धर्मामृत
150. सागार धर्मामृत 2/2
151. पञ्चोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि 19
152. सागार धर्मामृत 2/45
153. उपासकाध्ययन 279-285
154. उपासकाध्ययन 300-310
155. उपासकाध्ययन 294-295
156. सागार धर्मामृत 2/13
157. वही 2/12
158. सागार धर्मामृत 2/18
159. धर्मसंग्रह श्रावकाचार 6/15
160. वही 6/16
161. वही 6/17
162. धर्म संग्रह श्रावकाचार 6/18
163. वही 6/19-20
164. वही 6/21
165. वही 6/22-23
166. वही 6/24
167. वही 6/26
168. वही 2/279
169. वही 6/280
170. वार्ता
171. उपासकाध्ययन प्रस्तावना पृ. 66-67
172. अमितगति श्रावकाचार 12/1-15
173. धर्मसंग्रह श्रावकाचार 6/85
174. वही 6/86
175. धर्मसंग्रह श्रावकाचार 6/87-90
176. वही 6/91-93
177. वही 6/94
178 वही 6/95-96
179. वही 6/97-99
180 धर्मसंग्रह श्रावकाचार 6/27-29
181. वही 6/30-32
182. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 41
183. धर्मसंग्रह श्रावकाचार 6/155
184. सागार धर्मामृत 2/41
185. सागार धर्मामृत 2/50
186 वही 2/67
187. वही 7/39
188. वही 58/187
189. हरिवंश पुराण 58/188
190. वही 58/189
191. वही 58/190
192 हरिवंश पुराण 7/107-120
193 प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 20/18-24
194 प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 20/34-36
195. वही 20/44-48
196. वही 20/50
197. वही 20/58-60
198. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 20/16-72
199 वही 20/79
200. वही 20/84
201. वही 20/88
202. उमास्वामी श्रावकाचार 198-200
203. धर्मसंग्रह श्रावकाचार 6/217-222
204. उमास्वामी श्रावकाचार 201
205. उमास्वामी श्रावकाचार 214-217
206. वही 202
207. धर्मसंग्रह श्रावकाचार 6/165
208. वही 6/166-171
209. वसुनन्दि श्रावकाचार 59

❑❑❑

सप्तम अध्याय

सम्यक् चारित्र (सर्व देश चारित्र)

सर्वदेश या सकल चारित्र मुनि का होता है । जो जीव मुनि होना चाहता है वह पहले ही बन्धु वर्ग से अपने को छुड़ाता है । वह उनसे कहता है कि तुम इस जन्म के शरीर के माता-पिता, स्त्री, कुटुम्बादिक हो । यह आत्मा इन सबका नहीं है । मेरा आत्मा अनादि कुटुम्ब रूप आत्मत्व को प्राप्त हुआ है, ऐसा कहकर वह कुटुम्ब से विरक्त होता है, उसका कुटुम्ब से पूछकर मुनिव्रत धारण करने का यद्यपि कुछ नियम नहीं है तथापि वह उनमें वैराग्य जगाने के लिए वैराग्यमय वचन कहता है । वह अपने स्वरूप को सिद्ध के समान देखता है, जानता है, अनुभव करता है उसके भेद विज्ञान प्रकट होता है और वह आठ प्रकार का ज्ञानाचार, आठ प्रकार का दर्शनाचार, तेरह प्रकार का चारित्राचार, बारह प्रकार का तप आचार तथा आत्मशक्ति को प्रकट करने वाला वीर्याचार अङ्गीकार करता है ।

पञ्च आचार को अङ्गीकार करने का प्रकार - सम्यग्दृष्टि निम्नलिखित प्रकार से पञ्चाचार को अङ्गीकार करता है । उसकी भावना होती है कि हे काल, विनय उपधान, बहुमान, अनिन्हव अर्थ, व्यञ्जन और तदुभव सम्पन्न ज्ञानाचार मैं यह निश्चय से जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा का नहीं है तथापि मैं तुझे तभी तक अङ्गीकार करता हूँ जब तक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूँ । हे नि:शक्तित्व, नि:काङ्क्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, निर्मूढदृष्टित्व, उपबृहंण, स्थिति करण, वात्सल्य और प्रभावना रूप दर्शनाचार मैं यह निश्चय मे जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा का नहीं है तथापि तुझे तब तक अङ्गीकार करता हूँ जब तक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध न कर लूँ । हे मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति के कारणभूत पञ्च महाव्रत सहित काय वचन मन गुप्ति और ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदान निक्षेपण प्रतिष्ठापन, समिति रूप चारित्राचार। मैं यह निश्चय मे जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा का नहीं है तथापि तुझे तब तक अङ्गीकार करता हूँ जब तक कि तेरे प्रमाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध करूँ । हे अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिसंख्यानरसपरित्याग, विविक्त शैयासनकायक्लेश प्रायश्चित विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय ध्यान और व्युत्सर्ग रूप तपाचार । मैं यह निश्चय से जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा का नहीं है तथापि तुझे तब तक अङ्गीकार करता हूँ जब तक तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध करूं । हे समस्त इतर (वीर्याचार के अतिरिक्त अन्य) आचार में प्रवृत्ति करने वाली स्व शक्ति के अगोपन स्वरूप वीर्याचार । मैं यह निश्चय से जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा का नहीं है तथापि तुझे तब तक अङ्गीकार करता हूँ जब तक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूँ। इस प्रकार ज्ञानाचर, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार को अङ्गीकार करता है[1]।

श्रामण्यार्थी कि क्रियायें और भाव - दीक्षा लेने वाला पुरुष आचार्य पद के धारक, आचार्य सम्बन्धी गुण, जिनके अन्दर विराजमान हैं ऐसे मुनि प्रमुख के पास जाकर नमस्कार करता है, फिर शुद्धात्मा तत्त्व के साधक आचार्य से हाथ जोड़कर विनती करता है-प्रभो। शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति के इच्छुक मुझे अङ्गीकार करो । मैं संसार से भयभीत हूँ । आचार्य से जब ऐसी प्रार्थना की जाती है तब आचार्य कहते हैं कि तुम्हें शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति कराने वाली यह भगवती दीक्षा है । तब वह उसे अङ्गीकार करता है[2] । तत्पश्चात् श्रामण्यार्थी यथाजात रूपधर होता है तथा ऐसा विचार करता है कि मैं चिन्मूर्ति हूँ । किन्चित मात्र भी पर का नहीं हूँ । पर भी किञ्चित मात्र मेरे नहीं है।

क्योंकि समस्त द्रव्य तत्त्वत: पर के साथ समस्त सम्बन्ध रहित हैं । इसलिए इस लोक में आत्मा से अन्य कुछ भी मेरा नहीं है। संसार में नोकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्म रूप जो भाव हैं वे मेरे स्वरूप नहीं है। मैं सबसे भिन्न अविनाशी, टंकोत्कीर्ण वस्तु मात्र हूँ[3] ।

दीक्षा के अयोग्य व्यक्ति - श्वेताम्बर साहित्य के अनुसार नीचे लिखे व्यक्ति श्रमण संघ में प्रवेश करने के अयोग्य माने गये हैं ।

1- जिसकी आयु 8 वर्ष से कम है, 2- वृद्ध, 3-नपुंसक, 4-रोगी, 5- अङ्गहीन, 6-कायर या डरपोक, 7- जड़ बुद्धि, 8- चोर, 9- राज विरोधी, 10- पागल, 11- अन्ध, 12- दास, 13- धूर्त, 14- मूढ़, 15- कर्जदार, 16- भागा हुआ या भगाया हुआ, 17- गर्भिणी स्त्री तथा 18- बालक वाली स्त्री ।

दिगम्बर परम्परा में भी उक्त व्यक्ति मुनिदीक्षा के अयोग्य हैं । श्वेताम्बर परम्परा में चारों वर्णों के व्यक्ति श्रमण हो सकते हैं किन्तु दिगम्बर परम्परा में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही उसके योग्य माना गया है[4] ।

अट्ठाईस मूलगुण - पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच प्रकार की इन्द्रिय निरोध लोच, छ: प्रकार के आवश्यक, अचेलपना, अस्नान, भूमि शयन, अदन्त धावन, खड़े-खड़े भोजन और एक बार आहार ये श्रमणों के मूलगुण जिनवरों ने कहे हैं । यदि इन अट्ठाईस मूलगुणों में से एक के प्रति भी प्रमाद होता है तो निर्विकल्प सामायिक का भंग होता है । मुनि यह जानकर कि इस भेद में संयम का भंग हुआ है, उसी भेद में पुन: अपनी स्थापना करता है, वहाँ छदोपस्थापन होता है[5]।

पन्च महाव्रत - पञ्च महाव्रत निम्न प्रकार के होते हैं -

अहिंसा महाव्रत - जो जीव कषाय की अधिकता रखता है वह जीवों का घात करता है और जो कषायों को जीत लेता है, वह सदा जीवों की हिंसा से दूर रहता है । अत: प्रमाद हिंसा का कारण है। अहिंसाव्रत के अभिलाषी को प्रमाद को त्यागना चाहिए । उपकरणों को ग्रहण करने में, रखने में उठने-बैठने, चलने और शयन में जो दयालु सर्वत्र यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करता है वह अहिंसक होता है, जो आरम्भ का त्यागी है, प्रासुक भोजन करता है, ज्ञान भावना में मन को लगाता है और तीन गुप्तियों का धारी है, वही सम्पूर्ण अहिंसा का पालक है[6] । नियमनुसार में कहा गया है कि जीवों के कुल, योनि, जीव स्थान मार्गणा स्थान आदि जानकर उनके आरम्भ से निवृत्ति रूप परिणाम अहिंसा व्रत है[7] ।

सत्य महाव्रत - राग से, द्वेष से अथवा मोह से होने वाले मृषा, भाषा के परिणाम को जो साधु छोड़ता है उसको सत्यव्रत होता है[8] । असत्य वचन के चार भेद होते हैं- 1- सद्भूत अर्थ का निषेध करना प्रथम असत्य वचन है। अथवा क्षेत्र, काल, भाव से अभाव का विचार करके घट यहाँ नहीं है, इस समय नहीं है, या सफेद अथवा कृष्ण रूप नहीं है ऐसा न विचार कर अपनी बुद्धि से घट का सर्वथा अभाव कहना असत्य वचन है[9] ।

2. जो नहीं है उसे है कहना, दूसरा असत्य वचन है जैसे देवों के अकाल मरण होता है ऐसा कहना, किन्तु देवों में अकाल मरण नहीं होता । अत: यह असत् का उद्भावन करने से असत्य वचन है अथवा जो वचन क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा असत् घट का विचार न करके घट है, ऐसा कहता है वह असत्य वचन है[10] ।

3- एक जाति की वस्तु को अन्य जाति की कहना तीसरा असत्य वचन है। जैसे बिना विचारे बैल को घोड़ा कहना[11] ।

4- जो गर्हित वचन है, सावद्ययुक्त है अप्रिय वचन है वह चुतर्थ असत्य वचन है। कर्कश वचन, निष्ठुर वचन, दूसरे के दोषों का सूचन करने वाले वचब, हास्य वचन और जो कुछ भी बकवाद करना ये सब गर्हित वचन हैं । जिस वचन से प्राणों का घात आदि दोष उत्पन्न होते हैं वह सावद्य वचन है । कठोर वचन, कटुक वचन, जिस बचन से वैर कलह और भय पैदा हो, अति त्रास देने वाले वचन, तिरस्कार सूचक वचन, ये अप्रिय वचन हैं[12] ।

हास्य, भय, लोभ, क्रोध और द्वेष आदि कारणों से बोले जाने वाले असत्य वचनों को प्रयत्नपूर्वक विशेषता से नहीं बोलना चाहिए ।

अस्तेय व्रत - ग्राम में, नगर में या वन में पराई वस्तु को देखकर जो साधु उसे ग्रहण करने के भाव को छोड़ता है, उसी को अस्तेय व्रत होता है[13] । भगवती अराधना में कहा गया है "तुम पराई बहुत या अल्प वस्तु को ग्रहण करने की भावना मत करो ।" दाँत का मल सोधने के लिए एक तिनका भी बिना दिया मत ग्रहण करो । जैसे बन्दर पेट भरा होने पर भी लाल पके फल को देखकर दूर से ही फल को ग्रहण करने के लिए कूदता है यद्यपि वह उसे फिर छोड़ देता है, वैसे भी मनुष्य जो जो चीज देखता है उसको प्राप्त करने की इच्छा करता है । लोभ से घिरा मनुष्य समस्त जगत् को पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता । जैसे मंद वायु बढ़कर क्षणभर में फैल जाती है या मेघ बढ़ते-बढ़ते आकाश में फैल जाते हैं वैसे ही जीव का थोड़ा सा भी लोभ क्षणभर में बढ़ जाता है[14] । लोभ बढ़ने पर मनुष्य यह करने योग्य है और यह करने योग्य नहीं है इस प्रकार मन में कार्य और अकार्य का विचार नहीं करता । युक्त अयुक्त का विचार न करने से अपनी मृत्यु की परवाह न करके चोरी करता है, ताले तोड़कर घरों में प्रवेश करता है, जेल जाता है, इस प्रकार चोरी में लगा हुआ मनुष्य मृत्यु का कठोर भय उपस्थित होते हुए भी उसका अवहेलना करता है[15]। जो परद्रव्य हरने का त्यागी होता है उसे ये सब दोष नहीं होते हैं तथा जो दत्त वस्तु का ही उपभोग करता है, उसमें उक्त दोषों से विपरीत गुण सदा होते हैं ।

ब्रह्मचर्य - स्त्रियों का रूप देखकर उनके प्रति वांक्षा भाव की निवृत्ति अथवा मैथुन संज्ञा से रहित जो परिणाम है, वह ब्रह्मचर्य व्रत है[16] । ब्रह्म शब्द से जीव कहा जाता है । अथवा बृह धातु से ब्रह्म शब्द बना है उसका अर्थ होता है बढ़ना । ज्ञान दर्शन आदि रूप से बढ़ने को ब्रह्म कहते हैं अथवा जब सयोग केवली जिन लोक पूरण समुद्घात करते हैं तो उनके आत्म प्रदेश लोकाकाश प्रमाण बढ़कर फैल जाते हैं इस प्रकार से जो बढ़ता है वह ब्रह्म जीव है । उस ब्रह्म में ही चर्या, ब्रह्मचर्य है । पराये शरीर सम्बन्धी व्यापार से विरत मुनि अनन्त पर्यायात्मक जीवस्वरूप का ही अवलोकन करते हुए जो उसी में रमण करता है वह ब्रह्मचर्य है[17] ।

अपरिग्रह -कृत, कारित अनुमोदना और मन, वचन, काय से सब अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग करना चाहिए । मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और चार कषाय ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं । क्षेत्र, मकान, स्वर्णादि, धन धान्य, कुप्य अर्थात् वस्त्र, भाण्ड, अर्थात हींग मिर्च आदि, द्विपद (दासी, दास सेवक आदि) हाथी घोड़े, आदि चौपाये, पालकी, विमान आदि यान तथा शयन आसन आदि ये दस बाह्य परिग्रह हैं[18] । बाह्य परिग्रह के त्याग किये बिना ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त, चारित्र वीर्य और अव्यावाधत्व नामक आत्मगुणों को ढ़कने

वाले अभ्यन्तर कर्म मल को दूर नहीं किया जा सकता[19]। जैसे तुष सहित चावल का तुष दूर किये बिना उसका अन्तर्मल का शोधन करना शक्य नहीं है वैसे ही जो बाध्य परिग्रह रूपी मल से सम्बद्ध है उसका आभ्यन्तर कर्ममल शोधन करना शक्य नहीं है[20]।

शंका – परिग्रह सहित व्यक्ति का कर्म बन्धन से छुटकारा क्यों नही होता ? जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य बाह्य परिग्रह कहे जाते हैं, वे दोनों सदा, सर्वत्र, जीव के समीप रहते हैं अत: आत्मा सदा कर्म का बंधक ही रहेगा और उसे कभी मुक्ति नहीं होगी।

समाधान – ऐसा नहीं हैं उन जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य के निकट रहते हुए भी लोभादि रूप परिणाम उनसे सम्बन्ध में कारण होते हैं। लोभादि रूप परिणामों के कारण जीव बाह्य द्रव्य को ग्रहण करता है अत: जो आभ्यन्तर लोभादि परिणाम के बिना बाह्य द्रव्य को ग्रहण करता है वह ग्रहण नहीं करता[21]। यह मेरा है, ऐसे भाव को राग कहते हैं द्रव्य के गुणों में आसक्ति को लोभ कहते हैं, परिग्रह की इच्छा को मोह कहते हैं, मेरे पास कुछ होता तो अच्छा होता, इस प्रकार के ममत्व भाव को संज्ञा कहते हैं परिग्रह विषयक तीव्र अभिलाषा को गारव शब्द से कहते हैं। ये परिणाम जब उत्पन्न होते हैं तब बाह्य परिग्रह को ग्रहण करने का मन होता है, उनके अभाव में नहीं होता। अत: जो बाह्य परिग्रह ग्रहण करता है वह नियम से लोभ आदि रूप अशुभ परिणाम वाला होने से कर्म का बंध करता है अत: परिग्रह त्याज्य है। आगम में इस प्रकार का स्थितिकल्प कहा है उसमें पहला कल्प आचेलक्य है। आचेलक्य का अर्थ केवल वस्त्र मात्र का त्याग नहीं है किन्तु वस्त्रादि सर्व परिग्रह का त्याग है। यह दश कल्पों में पहला स्थितिकल्प है। चूँकि परिग्रह इस लोक और परलोक सम्बन्धी दोषों को लाता है अत: जो दोनों लोक सम्बन्धी दोषों से बचना चाहता है, उसे सब परिग्रह छोड़ना चाहिए[22]।

परिग्रह त्याग करने पर अहिंसादि व्रत की स्थिरता – परिग्रह के लिए असि, मसि, कृषि आदि षटकर्म करके मनुष्य प्राणियों का घात करता है, पराये द्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा से उसका घात करता है, झूठ बोलता है चोरी करता है, अपरिमित तृष्णा रखता है और मैथुन करता है, ऐसा करने पर अहिंसा आदि व्रत नहीं हो सकते, किन्तु परिग्रह का त्याग करने पर अहिंसा आदि व्रत स्थिर रहते हैं[23]।

अणुव्रत और महाव्रत में अन्तर – हिंसादि से एक देश निवृत्त होना अणुव्रत है और सब प्रकार से निवृत्त होना महाव्रत है, इस प्रकार अहिंसादि प्रत्येक व्रत दो-दो प्रकार के हैं। प्रत्यनशील जो पुरुष उत्तम औषधि के समान इन व्रतों का सेवन करता है, उसके दु:खों का नाश होता है[24]

व्रत को स्थिर करने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनायें हैं[25]।

अहिंसाव्रत की पाँच भावनायें – वचन गुप्ति, मनो गुप्ति, ईर्या समिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन ये अहिंसाव्रत की पाँच भावनायें हैं[26]।

सत्यव्रत की पाँच भावनायें – क्रोध प्रत्याख्यान (क्रोध का त्याग) लोभ प्रत्याख्यान, भीरूत्व प्रत्याख्यान, हास्य प्रत्याख्यान और अनुवीचि भाषण, (निर्दोष भाषण) ये सत्य व्रत की पाँच भावनायें हैं[27]।

अचौर्यव्रत की पाँच भावनायें – शून्यागारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्य शुद्धि और सधर्माविसंवाद ये अचौर्य व्रत की पाँच भावनायें हैं[28]। पर्वत की गुफा, और वृक्ष का कोटर आदि शून्यागार हैं, इनमें रहना शून्यागारावास है। दूसरों द्वारा छोड़े हुए मकान आदि में रहना

विमोचितावास है, दूसरों को ठहरने से नहीं रोकना परोपरोधाकरण है । आचार शास्त्र में बतलाई हुई विधि के अनुसार भिक्षा लेना भैक्ष्य शुद्धि है । यह मेरा है यह तेरा है इस प्रकार साधर्मियों से विसंवाद नहीं करना सधर्माविसंवाद है । ये अदत्तादान विरमण व्रत की पाँच भावनायें हैं[29] ।

ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनायें - स्त्रियों में राग को पैदा करने वाली कथा के सुनने का त्याग, स्त्रियों के मनोहर अङ्गों को देखने का त्याग, पूर्व भोगों के स्मरण का त्याग, गरिष्ठ और इष्ट रस का त्याग करना तथा अपने शरीर में संस्कार का त्याग ये ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनायें हैं[30] ।

अपरिग्रह व्रत की पाँच भावनायें - मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियों के विषयों में क्रम से राग और द्वेष का त्याग करना ये अपरिग्रह व्रत की पाँच भावनाओं हैं[31] । तात्पर्य यह है कि स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों के इष्ट और अनिष्ट स्पर्श आदिक पांच विषयों के प्राप्त होने पर राग और द्वेष का त्याग करना ये आकिंचत्य व्रत की पाँच भावनायें हैं[32] ।

महाव्रतों का महत्व -महाव्रतों के महत्व के विषय में भगवती आराधना में कहा गया है-

साधेंति जं महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं ।
जं च महल्लाइं सयं महव्वादाइं हवे ताइं ।।78।।

यत: ये असंयम के निमित्त से होने वाले नवीन कर्म समूह का निवारण रूप महान, प्रयोजन को साधते हैं, इसलिए महाव्रत हैं । यत: महान पुरुषों के द्वारा इनका आचरण किया जाता है इसलिए महाव्रत हैं और यत: ये स्वयं महान हैं- स्थूल और सूक्ष्म के भेद रूप हिंसा आदि का इससे त्याग होता है, अत: इन्हें महाव्रत कहते हैं ।

प्रथम तो ये महाव्रत महत्ता के कारण हैं, इस कारण इनका गुणी पुरुषों ने आश्रय किया है अर्थात् धारण करते हैं । दूसरे - ये स्वंय महान् हैं इस कारण देवताओं ने भी इन्हें नमस्कार किया है । तीसरे महान् अतीन्द्रिय सुख और ज्ञान के कारण हैं इस कारण भी सत्पुरुषों ने इनको महाव्रत माना है[33] ।

पाँच समितियाँ

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं[34] । समिति शब्द सम् और इति के मेल से बना है । सम् अर्थात सम्यक् इति अर्थात् गति या प्रवृत्ति को समिति कहते हैं अर्थात् आगम में कहे हुए क्रम के अनुसार गमन आदि करना समिति है ।

ईर्या समिति - प्रायश्चित आदि शास्त्रों के अर्थ को जानने वाला जो मुनि आत्मकल्याण के साधन सम्यग्दर्शन आदि और उनके सहायक अपूर्व चैत्यालय, समीचीन उपाध्याय, धर्माचार्य आदि की प्राप्ति के लिए अपने स्थान से अन्य स्थान को जाना चाहता है वह मनुष्य हाथी, घोड़े गाड़ी आदि के द्वारा अच्छी तरह से रौंदे हुए और सूर्य की किरणों से स्पष्ट मार्ग में आगे चार हाथ जमीन देखकर दिन में गमन करता है तथा दयाभाव से प्राणियों की रक्षा करने के लिए सावधानीपूर्वक धीरे-धीरे पैर रखता है । उस मुनि के ईर्या समिति होती है[35]।

भगवती आराधना में कहा है मार्ग शुद्धि, उद्योत शुद्धि, उपयोग शुद्धि तथा आलम्बन शुद्धि इन चार शुद्धियों के साथ गमन करने वाले मुनि के सूत्रानुसार ईर्या समिति आगम में कही है[36] ।

***1. मार्ग शुद्धि** - मार्ग में चीटी आदि त्रस जीवों का आधिक्य न होना, बीज, अंकुर, त्रण,* हरित वृक्ष-कीचड़ आदि का न होना मार्ग शुद्धि है ।

2. उद्योत शुद्धि - चन्द्रमा, नक्षत्र आदि का प्रकाश अस्पष्ट होता है और दीपक आदि का प्रकाश अव्यापी होता है। अत: सूर्य का स्पष्ट और व्यापक प्रकाश होना उद्योत शुद्धि है।

3. उपयोग शुद्धि - पैर रखने के स्थान पर जीवों की रक्षा की भावना होना उपयोग शुद्धि है।

4. आलम्बन शुद्धि - गुरु, तीर्थ तथा यतियों की वन्दना आदि के लिए या शास्त्रों के अपूर्व अर्थ का ग्रहण करने के लिए या संयतों के योग्य क्षेत्र की खोज के लिए या वैयावृत्त करने के लिए या अनियत आवास के कारण स्वास्थ्य लाभ के लिए या श्रम पर विजय प्राप्त करने के लिए या अनेक देशों की भाषा सीखने के लिए अथवा शिष्यजनों के प्रतिबोध के लिए गमन करना आलम्बन शुद्धि है।

न बहुत जल्दी और न धीमे चलना आगे चार हाथ जमीन देखकर चलना, पैर दूर-दूर न रखना भय और आश्चर्य को त्यागकर चलना, विलासपूर्ण गति से न चलना। कूदकर न चलना, भागकर न चलना, दोनों हाथ नीचे लटकाकर चलना, निर्विकार, चपलता रहित, ऊपर तथा इधर-उधर देखकर न चलना, तरूण तृण या पत्तों मे एक हाथ दूर रहकर चलना, पशु-पक्षी और मृगों को भयभीत न करते हुए चलना, विपरीत योनि में जाने से उत्पन्न हुई बाधा के दूर करने के लिए निरन्तर पीछे से शरीर का परिमार्जन करते हुए चलना, सामने से आते हुए मनुष्यों से संघटन न करते हुए चलना, दुष्ट, गाय बैल, कुत्ता आदि से बचते हुए चलना, मार्ग में गिरे हुए भूसा, तुष, कज्जल, भस्म, गीला. गोबर, तृणों के ढेर, जल, पत्थर, लकड़ी का टुकड़ा आदि से बचते हुए चलना, चोरी और कलह से दूर रहना इस प्रकार के गमन करने वाले यति के ईर्या समिति होती है[37]।

भाषा समिति - कर्कशा, परुषा, कट्वी, निष्ठुरा, परकोपनी, मध्यकृषा, छेदनकरी अतिमाननी, अनयंकरा और भूतहिंसाकरी इन दश प्रकार की दुर्भाषाओं को छोड़कर हित मित और असंदिग्ध बोलने वाला साधु भाषा समिति का पालक होता है[38]।

दश प्रकार की दुर्भाषायें

1 कर्कशा - संताप उत्पन्न करने वाली भाषा कर्कशा है जैसे तू मूर्ख है, बैल है, कुछ नहीं जानता है इत्यादि।

2. परुषा - मर्म को छेदने वाली भाषा परुषा है जैसे तुम दुष्ट हो, आदि।

3 कट्वी - उद्वेग पैदा करने वाली भाषा कट्वी है जैसे तू जातिहीन है, अधर्मी है आदि।

4 निष्ठुरता - तुम्हें मार डालूंगा सिर काट लूँगा इत्यादि भाषा निष्ठुरा है।

5. परकोपिनी - तू निर्लज्ज है, इत्यादि भाषा परकोपिनी है।

6. छेदन करी - वीर्य, शील आदि गुणों का निर्मूल विनाश करने वाली अथवा असद्भूत दोषों का उद्भावन करने वाली भाषा छेदनकरी है।

7. मध्यकृषा - ऐसी निष्ठुरवाणी जो हड्डियों के मध्य को भी कृष करती है, मध्य कृषा है।

8. अति मानिनी - अपना महत्त्व और दूसरों को निन्दा करने वाली भाषा अतिमानिनी है।

9. अनयंकरा - शीलों का खण्डन करने वाली तथा परस्पर मिले हुए व्यक्तियों के मध्य में विद्वेष करने वाली भाषा अनयंकरा है।

10. भूत हिंसा करी – प्राणियों के प्राणों का वियोग करने वाली भाषा भूत हिंसाकरी है[39]।

3. एषणा समिति – भोजन के अन्तरायों से अंगार (जिव्हा आदि की लम्पटता से भोग ग्रहण करना, आदि दोषों से भोज्य वस्तु सम्बन्धी शंका आदि दोषों से तथा उद्गम और उत्पादन दोषों से रहित वीर चर्या के द्वारा प्राप्त पूय, रूधिर आदि दोषों से तथा अधः कर्म नामक महान हिंसा दोष से रहित भाव से शुद्ध अपना और परका उपकार करने वाले शरीर की स्थिति को बनाये रखने में समर्थ विधिपूर्वक भक्ति के साथ, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और सत् शुद्र के द्वारा दिया गया भोजन समय पर उचित प्रमाण में खाने वाला तपस्वी एषणा समिति का पालक होता है[40]। मुनि के भोजन सम्बन्धी दोषों का विस्तृत वर्णन मूलाचार आदि मुनिधर्म के प्रतिपादक ग्रन्थों में किया गया है। श्वेताम्बर परम्परा में धर्म के साधन अन्नपान, रजोहरण, वस्त्र, पात्र और आश्रय सम्बन्धी उद्गम, उत्पादन एषणा दोषों का त्यागना एषणा समिति है[41]।

4. आदान निक्षेपण समिति – आदान निक्षेपण समिति के पालक साधु को स्थिरचित्त होकर अपनी आँखों से अच्छी तरह देखकर फिर पीछी से साफ करके ही पुस्तक आदि को ग्रहण करना चाहिए। और यदि रखना हो तो पहले अच्छी तरह देखे हुए पीछे पिच्छिका से साफ किये हुए स्थान पर रखना चाहिए। रखने के पश्चात् यदि कितना ही काल बीत गया हो तो सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति की संभावना से पुनः उस रक्खी हुई पुस्तकादि का सावधानी से निरीक्षण करना चाहिए[42]।

मूलाचार में इन चार दोषों का परिहार करने के लिए आदान निक्षेपण समिति कही गई है

1. बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये पुस्तक आदि का ग्रहण करना या रखना सहसा नामक प्रथम दोष है।

2. बिना देखे प्रमार्जन करके पुस्तकादि को ग्रहण करना या रखना अनाभोगित नामक दूसरा दोष है।

3. देखकर भी लभ्य प्रतिलेखना न करके पुस्तक आदि को ग्रहण करना या रखना दुष्प्रभृष्ट नामक तीसरा दोष है।

4. देखा भी और प्रमार्जन भी किया, किन्तु यह शुद्ध है या अशुद्ध यह नहीं देखा, यह चतुर्थ अप्रत्यवेक्षण नामक दोष है[43]।

5. उत्सर्ग समिति – दो इन्द्रिय आदि जीवों से तथा हरे तृण आदि से रहित साँप की बाँवी आदि के भय के कारणों से रहित होने से प्रशस्त निर्जन तथा विस्तीर्ण लोगों की रोक-टोक से रहित वन की या शमशान की आग मे जले हुए या हल के द्वारा अनेक बार खोदे गये अथवा ऊम्पर भूमि में दिन के समय मल मूत्र, कफ, नाक, बाल, बमन आदि का त्याग करने वाले मुनि के उत्सर्ग समिति होती है। रात्रि के समय में यदि बाधा हो तो दिन में प्रज्ञाश्रमण मुनि के द्वारा अच्छी तरह देखे गये तीन स्थानों में से किसी एक शुद्धतम स्थान में विपरीत हाथ से अच्छी तरह देखकर मूत्रादि का त्याग करना उत्सर्ग समिति है[44]।

इन्द्रिय विजय

जिसने इन्द्रियों को नहीं जीता वह कषाय रूपी अग्नि का निर्माण करने में असमर्थ है। इस कारण क्रोधादिक को जीतने के लिए इन्द्रियों के विषय का रोध करना प्रशंसनीय कहा जाता है[45]।

इन्द्रियों के विषय सेवन से जो सुख हुआ है, वह दुख ही है, क्योंकि इन्द्रिय जनित सुख अनन्त संसार की सन्तति के क्लेशों को सम्पादन करने का कारण है। स्वतन्त्रता से विकार को करते हुए इन दुर्दम इन्द्रिय रूपी हस्तियों को शील रूपी शाल के वृक्ष में विज्ञान रूपी रस्से से दृढ़ता से बाँधना चाहिए[46]। जीव के इन्द्रियाँ जैसे-जैसे वश में होती जाती है, वैसे-वैसे उनके हृदय में विज्ञान रूपी सूर्य उत्तमता से प्रकाशमान होता है[47]। जो इन्द्रियों के विषयों के बिना ही अपने आत्मा में आत्मा से ही सेवन करने में आता है उसको योगियों ने आध्यात्मिक सुख कहा है[48]। जिस प्रकार कछुआ अपने अंगो को संकोचता है उसी प्रकार जो संयमी मुनि इन्द्रियों के सेना समूह को संवर रूप करता है अर्थात् संकोचता व वशीभूत करता है वही मुनि दोषरूपी कर्दम के भरे इस लोक में विचरता हुआ भी दोषों से लिप्त नहीं होता। जिस मुनि का मन इन्द्रियों के विषयों से किंचिन्मात्र भी कलंकित नहीं होता, उस मुनि के दिव्य सिद्धियाँ विनायत्न के ही उत्पन्न होती है[49]।

केश लोंच - जूँ से और लीखों से पीड़ित साधु के संक्लेश उत्पन्न होता है। खुजाने पर वे जूँ आदि पीड़ित होते हैं इस कारण केश लोंच किया जाता है। लोंच करने पर सिर मुंडा हो जाता है। मुंडित्व के होने पर निर्विकारता होती है, उससे विकार रहित क्रियाशील होने से प्रगृहीततर चेष्टा करता है। केशलोंच से आत्मा दमित होता है और सुख में आसक्त नहीं होता और स्वाधीनता निर्दोषता और निर्ममत्व होता है। केशलोंच करने से आत्मा की धर्म में श्रद्धा प्रकट होती है। उसी प्रकार लौंच उग्र तप है और उसमें दुख का सहन किया जाता है[50]। इस प्रकार केश उपाड़ने से आत्मा आत्मा के वश होता है। जैसे बैल वगैरह दुख देने से शान्त हो जाते हैं वैसे ही दुख भावना से मद का निग्रह होने पर सभी शान्त हो जाते हैं, सुख में आसक्त नहीं होते हैं। सुख ही मनुष्य को सुखलम्पट बनाता है। अन्तरंग में दुख की भावना आने पर सुख की आसक्ति कम हो जाती है। सुख की आसक्ति का मूल है सुख का उपभोग, उसका अभाव होने से सुख की आसक्ति नहीं होती। जैसे बीज के अभाव में अंकुर उत्पन्न नहीं होता अथवा यहाँ सुख शब्द से इन्द्रिय सुख लिया है। जो इन्द्रिय सुख में आसक्त है वह हिंसा आदि करता है। अत: सुखाशक्ति परिग्रह और आरम्भ का मूल है उससे निवृत्त होना संवर ही है। अत: वह मुक्ति का उपाय है। नवीन कर्मो का आना रूके बिना निर्जरा कैसी और उसके अभाव में मुक्ति कैसी ? केशलोंच से स्वाधीनता आती है, क्योंकि जो मनुष्य केशों से अनुराग रखता है वह अवश्य सिर को साफ करने, उसकी मालिश करने, धोने तथा सुखाने में लगा रहता है और ये सब कार्य स्वाध्याय आदि में विघ्न डालते हैं। लोंच क्रिया निर्दोष है उससे शरीर में यह मेरा है ऐसी बुद्धि नहीं होती। इससे शौच धर्म पलता है लोभ से अत्यन्त निवृत्ति को शौच कहते हैं। शरीर में लोभ की निवृत्ति भी शौच है। शरीर में लोंच की निवृत्ति सब प्रकार के लोभों को दूर करने का मूल है। शरीर के उपकार के लिए ही मनुष्य, परिवार और धन आदि का लोभ करता है और शौच धर्म संवर का कारण है क्योंकि तत्त्वार्थ सूत्र में गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषह जय से संवर कहा है[51]।

छह आवश्यक भेद - सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कार्योत्सर्ग ये आवश्यक के छह भेद हैं[52]।

1- **सामायिक** - राग द्वेष के अबाध्यमान ज्ञान को समाय कहते हैं उसमें होने वाले साम्यभाव को सामायिक कहते हैं। प्रशस्त और अप्रशस्त नाम, स्थापना, आदि में राग द्वेष न करना साम्य है[53]। दर्शन, ज्ञान, तप, यम, नियम आदि के विषय में प्रशस्त एकत्व रूप से गमन करने को समय

कहते हैं और समय ही सामायिक है। इस प्रकार समय शब्द से स्वार्थ में वक् प्रव्यय होकर सामायिक शब्द बनता है[54]। मूलाचार में कहा है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, संयम और तप के साथ जो एकमेकपना है। अर्थात् जीव का उनरूप से जो परिणमन है, उसे समय कहते हैं और समय को ही सामायिक जानो[55]।

2. नाम सामायिक - अज्ञान वश किसी मित्र के द्वारा प्रशस्त नाम लिये जाने पर मैं उस से राग नहीं करूँगा और शत्रु के द्वारा बुरे नाम का प्रयोग किये जाने पर उससे द्वेष नहीं करूंगा। क्योंकि मैं वचन के गोचर नहीं हूँ। यह नाम सामायिक है[56]।

स्थापना सामायिक - यह सामने विराजमान प्रतिमा मुझे जिस अर्हन्त स्वरूप का स्मरण कराती है मैं उस अर्हन्त स्वरूप भी नहीं हूँ। तब इस प्रतिमा स्वरूप तो मैं सर्वथा ही नहीं हूँ। इसलिए मेरी बुद्धि इस प्रतिमा में न तो सम्यक् रूप से ठहरी ही हुई है और न उससे विपरीत ही है[57]। इस प्रकार की भावना स्थापना सामायिक की भावना है।

द्रव्य सामायिक - सामायिक विषयक शास्त्र का ज्ञाता किन्तु उसमें अनुपयुक्त जीव और उसका शरीर तथा उनके विपक्षी भावी जीव और कर्म नो कर्म ये जैसे अच्छे या बुरे हों, रहें, मुझे उनसे क्या, क्योंकि वे तो परद्रव्य हैं। स्व द्रव्य की तरह पर द्रव्य में मेरा अभिनिवेश कैसे हो सकता है[58], इस प्रकार की भावना द्रव्य सामायिक है।

क्षेत्र सामायिक - यह राजधानी है, इसमें राजा रहता है, ऐसा मानकर मैं राग नहीं करता और यह बड़ा भारी वन है, ऐसा मानकर मैं द्वेष नहीं करता, क्योंकि मेरा आत्मा ही मेरा उद्यान है अत: अन्य कोई देश न मेरे लिए रमणीक है और न अरमणीक है[59], इस प्रकार की भावना को क्षेत्र सामायिक की भावना कहते हैं।

काल सामायिक - काल द्रव्य, हेमन्त, ग्रीष्म या वर्षा ऋतु रूप नहीं है, क्योंकि वह तो अमूर्तिक ही है उसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं है किन्तु लोग मूर्त पुद्गल द्रव्य में काल का व्यवहार करते हैं, उस मूर्त पुदगल द्रव्य का विषय मैं कभी भी नहीं हूँ[60]। इस प्रकार की भावना काल सामायिक है।

भाव सामायिक - मैं जीवन में, मरण में, लाभ में, अलाभ में, संयोग में, वियोग में, बन्धु में, शत्रु में, सुख में और दुख में साम्य भाव ही रखता हूँ। भवधारण में कारण आयु कर्म शरीर रूपी जेल खाने में रोके रखने के लिए लोहे की सांकल के समान है उसकी मैं क्यों इच्छा करूँगा? और मृत्यु उस शरीर रूपी जेल खाने के कष्ट मे क्षण भर के लिए विश्राम का कारण है, उससे मैं क्यों डरूँगा ? जो लाभ दैव का कीर्ति स्तम्भ और पुरुष की निन्दा का घर है उसके होने पर हर्ष कैसा ? और जिस अलाभ के होने पर दैव की अर्थात् पूर्व संचति पापकर्म की हानि होती है उसमें विषाद कैसा ? जिस प्रकार मुझे अनिष्ट वस्तुओं का वियोग सुखकर मालूम होता है, उसी प्रकार इष्ट पदार्थों की प्राप्ति भी सुखकर मालूम होती है। जिस प्रकार हमें अनिष्ट संयोग दुखदायक मालूम होता है, उसी तरह इष्ट वियोग भी दुखदायक मालूम होता है किन्तु यह सब कल्पना है, वास्तविक नहीं। तृष्णा को बढ़ाने वाली इन्द्रिय सुख रूप मृगतृष्णा से बहुत हो चुका, इसे धिक्कार है तथा जिसको दूर करना अशक्य है उन कर्म रूपी शत्रुओं का क्षय करने में यक्षमा के तुल्य दुख से मैं खिन्न नहीं होता। ये बन्धु बान्धव, ममता रूपी भूत के प्रवेश के मूल मंत्र है, इनमें राग कैसा?

और शत्रु पाप कर्म की निर्जरा कराते हैं अत: इनसे मेरा द्वेष कैसा ? यदि बुद्धिमानों की बुद्धि इस संसार रूपी उद्यान में वैसा ही आचरण न करती जैसा जंगल की आग में घिर जाने पर करती है तो सम्यक्‌दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र को प्राप्त करने का, उसकी रक्षा करने का और उसको बढ़ाने का कौन प्रयत्न करता ? सब प्राणियों में अथवा सब द्रव्यों में साम्यभाव रखना, सब आचरणों में उत्कृष्ट आचरण कहा है अत: उसी को बार बार चित्त में धारण करता हूँ[61]। समस्त प्राणियों में मेरा मैत्रीभाव है, किसी से भी मेरा वैर नहीं है। मैं समस्त सावद्य से- हिंसा आदि पातकों से मुक्त हूँ, मन, वचन, काय के व्यापार से निवृत्त हूँ इस प्रकार मुमुक्षु को सामायिक करना चाहिए[62]। इसी भाव का नाम भाव सामायिक है।

सामायिक माहात्म्य - संयमी मुनि की तो बात ही क्या ? जिस सामायिक का पालक देश संयमी श्रावक भी मन, वचन, काय के व्यापार से निवृत्त होकर अपनी आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व भाव से रहित एक ज्ञायक भाव से प्रवृत्त होता हुआ मुनि की तरह किन्हीं भी आभ्यन्तर या बाह्य विकार के कारणों से कभी भी विकार को प्राप्त नहीं होता, तथा जिस सामायिक के प्रभाव से ग्यारह अङ्ग का पाठी और द्रव्य निर्ग्रंथ जिनलिङ्ग का धारी अभव्य भी आठ ग्रैवेयक विमानों से ऊपर और नौ अनुदिश विमानों से नीचे स्थित ग्रैवेयक में जन्म लेता है उस आश्चर्य प्रभावशाली सामायिक में कौन विवेकी ज्ञानी अपने को न लगाना चाहेगा[63]।

2. **चतुर्विंशतिस्तव** - इस भारत में वृषभ आदि चौबीस तीर्थङ्करोंके जिनवरत्व आदि गुणों के ज्ञान और श्रद्धानपूर्वक चौबीस स्तवनों को पढ़ना चतुर्विंशतिस्तव है[64]।

3. **वन्दना** - गुरु का अभिवादन करना, वन्दना आवश्यक है। गुरु उपस्थित न हों तो उनका मन में संकल्प करके अभिवादन कर लेना चाहिए। गुरु वन्दना से जीव नीच गोत्र, कर्म का क्षय करके उच्च गोत्र कर्म का बंध करता है और अप्रतिहत सौभाग्य वाला तथा सफल आज्ञा वाला होता हुआ सर्वत्र आदर प्राप्त करता है[65]। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में कहा गया है कि रत्नत्रय से सहित आचार्य, उपाध्याय प्रवर्तक और स्थविर मुनियों के गुणातिशय को जानकर श्रद्धापूर्वक अभ्युत्थान और प्रयोग के भेद से दो प्रकार की विनय में प्रवृत्ति को वन्दना कहते हैं। उन अभ्युत्थान, विनय और प्रयोग विनय के अनेक भेद हैं जिनमें कहा गया है कि किसकी विनय कब कितनी बार करना चाहिए।

शंका - अभ्युत्थान का उपदेश किसने दिया है ? और किस फल के उद्देश्य से करना चाहिए?

उत्तर - सब जिन देवों ने कर्म भूमियों में सदा प्रथम ही कर्तव्य रूप से विनय का उपदेश दिया है। विनय से मान कषाय का विनाश होता है, गुरुजनों में बुद्धिमान, तीर्थङ्करों की आज्ञा पालन श्रुत में कहे गये धर्म की आराधना, परिणाम विशुद्धि, आर्जव और सन्तोष रूप फल की अपेक्षा करके विनय की जाती है। जो मान रहित संसार से विरक्त निरालसी सरल अनुग्रह करने का इच्छुक दूसरों के गुणों को प्रकट करने में तत्पर और संघ का प्रेमी होता है, वह विनय करता है। असंयमी और संयमा संयमी तथा पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के भ्रष्ट मुनियों के सम्मान में उठना नहीं चाहिए। जो रत्नत्रय और तप में नित्य तत्पर रहते हैं उनके प्रति उठना चाहिए, जो सुख शील साधु हैं उनके सम्मान में उठना, कर्मबंध का कारण है क्योंकि वह प्रमाद को बढ़ाने में कारण होता है। जो वाचना देता है अथवा अनुयोग का शिक्षण देता है वह अपने से रत्नत्रय में न्यून भी हो तब भी उनके पास में सब अध्ययन करने वालों को उनके सम्मान में उठकर खड़ा होना चाहिए। वसति से, कायभूमि

से, भिक्षा से, जिन मंदिर से, गुरु के पास से अथवा ग्रामान्तर से आने से समय उठना चाहिए। जब जब गुरुजन निकलते हैं अथवा निकलकर प्रवेश करते हैं तब तब अभ्युत्थान करना चाहिए[66]। मूलाचार में कहा है -क्रिया कर्म में दो अवनति, बारह आवर्त, 4 शिरोनति और 3 शुद्धियाँ होती हैं। पञ्च नमस्कार के आदि में एक नमस्कार और 24 तीर्थङ्करों के स्तवन के आदि में दूसरा नमस्कार इस प्रकार दो नमस्कार होते हैं। पञ्च नमस्कार का उच्चारण करने के प्रारम्भ में मन, वचन, तथा काय के संयमन रूप तीन शुभ योगों के सूचक तीन आवर्त होते हैं। पञ्च नमस्कार की समाप्ति होने पर भी उसी प्रकार तीन आवर्त होते हैं इसी प्रकार चौबीस तीर्थङ्करों के स्तवन में आदि आदि और अंत में तीन-तीन आवर्त होते हैं। इस प्रकार बारह आवर्त होते हैं। अथवा एक बार प्रदक्षिणा करने पर चारों दिशाओं में चार प्रणाम होते हैं। इस प्रकार तीन प्रदक्षिणाओं में बारह प्रणाम होते हैं। पञ्च नमस्कार और चतुर्विंशतिस्तव के आदि और अंत में दोनों हाथ मुकुलित कर मस्तक से लगाना इस तरह चार शिरोन्नति होते हैं। इस प्रकार मन, वचन तथा काय की शुद्धिपूर्वक क्रियाकर्म होता है, यह सब प्रयोग विनय है[67]।

वन्दना के प्रकार - वन्दना के छह भेद हैं-

1- नाम वन्दना, 2- स्थापना वन्दना, 3- द्रव्य वन्दना, 4- काल वन्दना, 5- क्षेत्र वन्दना और 6- भाव वन्दना[68]।

1-नाम वन्दना - अर्हन्त आदि में से किसी भी एक पूज्य पुरुष का नाम उच्चारण अथवा स्तवन आदि नाम वन्दना है।

2-स्थापना वन्दना - जिन प्रतिमा का स्तवन स्थापना वन्दना है।

3- द्रव्य वन्दना - जिन भगवान् के शरीर का स्तवन द्रव्य वन्दना है।

4- क्षेत्र वन्दना - जिस भूमि में कोई कल्याणक हुआ हो, उस भूमि का स्तवन क्षेत्र वन्दना है।

5- काल वन्दना - जिस काल में कोई कल्याणक हुआ हो, उस काल का स्तवन काल वन्दना है।

6-भाव वन्दना - भगवान् के गुणों का स्तवन भाव वन्दना है।

किनकी वन्दना नहीं करनी चाहिए - मुनियों की तो बात ही क्या, यथोक्त अनुष्ठान करते हुए श्रावक को भी माता-पिता, शिक्षा गुरु, दीक्षा गुरु और राजा यदि असंयमी हो तो उनकी वन्दना नहीं करनी चाहिए तथा तापस आदि और पार्श्वस्थ आदि कुलिंगियों की व रूद्र आदि और शासन देवता आदि कुदेवों की भी वन्दना करनी चाहिए और श्रावक यदि शास्त्रोपदेश का अधिकारी भी हो तो भी उनकी वन्दना मुनि को नहीं करनी चाहिए[69]।

संयमियों की वन्दना की विधि - संयमी साधु को संयमी साधु की वन्दना भी वन्दना के योग्य काल में, जब वन्दनीय साधु अच्छी तरह से बैठे हुए हों, उनकी अनुज्ञा लेकर करना चाहिए। यदि वन्दनीय साधु किसी व्याकुलता में हो या भोजन करते हों या मल मूत्र त्याग करते हों या असावधान हों या अपनी ओर उन्मुख न हों तो वन्दना नहीं करनी चाहिए[70]।

वन्दना का काल - प्रात:काल में या प्रात:कालीन अनुष्ठान करने के पश्चात् क्रियाकाण्ड में कहे हुए विधान के अनुसार आचार्यआदि की वन्दना करनी चाहिए। मध्याह्न में देव वन्दना

के पश्चात वन्दना करनी चाहिए और सन्ध्या के समय प्रतिक्रमण करके वन्दना करनी चाहिए। प्रत्येक नैमित्तिक क्रिया के अनन्तर वन्दना करनी चाहिए[71]।

आचार्य और शिष्य में तथा शेष संयमियों में वन्दना और प्रति वन्दना का निर्णय - सभी नित्य और नैमित्तिक कृतिकर्म के प्रारम्भ में शिष्य को आचार्य की वन्दना करनी चाहिए और उसके उत्तर में आचार्य को शिष्य की वन्दना करना चाहिए। मल त्याग करने के पश्चात् तथा कार्योत्सर्ग के पश्चात् यतियों को देखने पर परस्पर में वन्दना प्रति वन्दना करनी चाहिए[72]। मूलाचार में कहा है कि आलोचना करते समय, छह आवश्यक करते समय, प्रश्न करते समय, पूजा करते समय, स्वाध्याय करते समय और क्रोध आदि अपराध होने पर आचार्य आदि की वन्दना करनी चाहिए[73]।

प्रतिक्रमण - दोषों से निवृत्ति को प्रतिक्रमण कहते हैं। उसके छह भेद हैं -

1. नाम प्रतिक्रमण, 2-स्थापना प्रतिक्रमण, 3- द्रव्य प्रतिक्रमण, 4- क्षेत्र प्रतिक्रमण, 5- काल प्रतिक्रमण और 6- भाव प्रतिक्रमण।

1. नाम प्रतिक्रमण - अयोग्य नामों का उच्चारण न करना नाम प्रतिक्रमण है। भट्टिनी, दारिका, स्वामिनी इत्यादि अयोग्य नाम हैं।

2. स्थापना प्रतिक्रमण - स्थापना शब्द से यहाँ आप्ताभासों की मूर्ति, त्रस और स्थावरों की आकृतियाँ लिखित या खोदी हुई ग्रहण की गयी है। उनमें से आप्ताभासों की प्रतिमाओं के सन्मुख हाथ जोड़ना, सिर नमाना और गन्ध आदि से पूजन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार करने से उस स्थापना का परिहार हो जाता है त्रस, स्थावर आदि की स्थापनाओं को नष्ट न करना अथवा तोड़ना-फोड़ना आदि न करना स्थापना प्रतिक्रमण है।

3. द्रव्य प्रतिक्रमण - मकान, खेत आदि दस प्रकार के परिग्रहों का, उदगम, उत्पादन और एषणा दोष, से दूषित वहतिकाओं का, उपकरणों का और भिक्षाओं का, अयोग्य आहार आदि का और जो तृष्णा और मद के तथा संक्लेश के कारण हैं, उन द्रव्यों का त्याग द्रव्य प्रतिक्रमण है।

4. क्षेत्र प्रतिक्रमण - जल कीचड़ और त्रस तथा स्थावर जीवों से भरे क्षेत्रों में आने-जाने का त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है अथवा जिस क्षेत्र में रहने से रत्नत्रय की हानि हो, उसका त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है। ऐसे क्षेत्रों में ज्ञान और तप से वृद्ध मुनिगण नहीं रहते, इसलिए उनमें रहना वर्जित है।

5. काल प्रतिक्रमण- रात, तीनों सन्ध्या, स्वाध्याय और षडावश्यकों के काल में गमन आगमन आदि व्यापार न करना काल प्रतिक्रमण है। काल का त्याग तो अशक्य जैसा है, अत: काल में होने वाले कार्य-विशेषों को काल के सम्बन्ध से काल शब्द से ग्रहण किया है।

6. भाव प्रतिक्रमण - मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, राग, द्वेष, आहारादि संज्ञा, निदान, आर्त रौद्र इत्यादि शुभ परिणाम और पुण्यास्रवभूत शुभ परिणाम यहाँ भाव शब्द से ग्रहण किये हैं। उनसे निवृत्ति भाव प्रतिक्रमण है[74]।

अन्य आचार्य प्रतिक्रमण के चार भेद कहते हैं। निमित्त की अपेक्षा न करके किसी का प्रतिक्रमण नाम रखना नाम प्रतिक्रमण है। अशुभ परिणाम वाले जीवों के शरीर का जैसा आकार होता है, उस आकार के सादृष्य की अपेक्षा से चित्त में अशुभ परिणामों की स्थापना -स्थापना प्रतिक्रमण है। प्रमाण, नय, निक्षेप आदि के द्वारा प्रतिक्रमण नामक आवश्यक के स्वरूप का जो

ज्ञाता उसमें उपयुक्त नहीं है, वह प्रतिक्रमण विषयक का ज्ञान का कारण होने से आगम द्रव्य प्रतिक्रमण शब्द से कहा जाता है। नो आगम द्रव्य प्रतिक्रमण के तीन भेद हैं- ज्ञायक शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त। जैसे प्रतिक्रमण पर्याय का कारण आत्मा है, वैसे उसका त्रिकालवर्ती शरीर भी कारण है, इसलिए वह प्रतिक्रमण शब्द से कहा जाता है। चारित्र मोह के क्षयोपशम होने पर जो आत्मा भविष्य में प्रतिक्रमण पर्याय रूप होगा, वह भावि प्रतिक्रमण है। क्षयोपशन अवस्था को प्राप्त चारित्र मोह कर्म नो आगमद्रव्य व्यतिरिक्त कर्म प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण रूप ज्ञान आगम-भाव प्रतिक्रमण है अर्थात् मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र से मैं विरत हूँ, इस प्रकार का स्वरूप ज्ञान आगमभाव प्रतिक्रमण है। अशुभ परिणाम के दोष को जानकर और उस पर श्रद्धा करके उसके प्रतिपक्षी शुभ परिणामों में प्रवृत्ति नो आगमभाव प्रतिक्रमण है[75]।

सात प्रकार का प्रतिक्रमण - दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ के भेद से प्रतिक्रमण सात प्रकार का होता है।

दैवसिक प्रतिक्रमण - दिन के समय नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से होने वाले कृत, कारित और अनुमत दोष का मन वचन-काय से शोधन करता दैवसिक प्रतिक्रमण है।

रात्रिक प्रतिक्रमण - रात्रि के समय में होने वाले छह प्रकार के कृत, कारित और अनुमत दोषों का मन-वचन-काय से शोधन करना रात्रिक प्रतिक्रमण है।

ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण - छह काय के जीवों के विषय में लगे हुए दोषों का विशोधन करना ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण है।

पाक्षिक प्रतिक्रमण - पन्द्रह दिन रातों में छह नामादि के आश्रय से हुए कृत, कारित अनुमत दोष का मन-वचन-काय से शोधन करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

चातुर्मासिक प्रतिक्रमण- चार-चार मास में हुए दोषों का विशोधन चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है।

सावंत्सरिक प्रतिक्रमण - एक वर्ष में हुए दोषों का विशोधन करना सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

उत्तमार्थ प्रतिक्रमण - समस्त दोषों की आलोचना करके जीवनपर्यन्त के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है[76]।

सामायिक और प्रतिक्रमण में भेद - मैं सर्वसावद्य योग को त्यागता हूँ इस प्रकार हिंसा आदि का भेद न करके सामान्य से सर्व सावद्ययोग से निवृत्ति सामायिक है और हिंसा आदि के भेद से सावद्ययोग के भेद करके निवृत्ति प्रतिक्रमण है[77]।

प्रतिक्रमण जीव - जो जीव विराधन को विशेषतः छोड़कर आराधना में वर्तता है, वह (जीव) प्रतिक्रमण कहलाता है। कारण कि यह प्रतिक्रमणमय है[78]। जो जीव आराधना से रहित है, वह निश्चयप्रतिक्रमण मय है। इसलिए उसे प्रतिक्रमण स्वरूप कहा जाता है जो जीव अनाचार छोड़कर आचार में स्थिर भाव करता है वह जीव प्रतिक्रमण कहलाता है कारण कि वह प्रतिक्रमण मय है[79]। जो जीव उन्मार्ग का परित्याग करके जिनमार्ग में स्थिर भाव करता है, वह जीव प्रतिक्रमण कहलाता है कारण कि वह प्रतिक्रमण मय है। जो साधु शल्य भाव छोड़कर निःशल्य भाव से परिणमित होता है, वह साधु प्रतिक्रमण कहलाता है कारण कि वह प्रतिक्रमण मय है जो साधु

अगुप्ति भाव छोड़कर त्रिगुप्ति रहता है, वह साधु प्रतिक्रमण कहलाता है कारण कि वह प्रतिक्रमण मय है[80] ।

प्रतिक्रमण की विधि – निन्दा गर्हा और आलोचना में तत्पर साधु को सावधान चित्त से सब कर्मों का घात करने वाले सब प्रतिक्रमण पाठों को शुद्धि के लिए पढ़ना चाहिए या आचार्य आदि से सुनना चाहिए[81] । मूलाचार में कहा है- आलोचना, निन्दा और गर्हा से तत्पर होकर पुनः दोष न लगाने को भाव प्रतिक्रमण कहते हैं उसके बिना तो द्रव्य प्रतिक्रमण है, इस भाव प्रतिक्रमण से युक्त होकर दोषों की विशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण सम्बन्धी पाठों को मन लगाकर पढ़ना या सुनना चाहिए, इससे कर्मों की निर्जरा होती है[82] । नीचे की भूमिका में प्रतिक्रमण आदि करने पर मुमुक्षु का उपकार होता है, न करने पर अपकार होता है किन्तु ऊपर की भूमिका में तो प्रतिक्रमण आदि करने पर उपकार ही होता है प्रतिक्रमण, प्रतिशरण, परिहरण, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि ये आठ नीचे की भूमिका में अमृत के घर के समान हैं और नहीं करने पर विष के घड़े के समान हैं किन्तु क्षपक की भूमिका में प्रतिक्रमण आदि भी विष कुम्भ के समान हैं[83] ।

प्रत्याख्यान – पापों का निवारण करने के लिए मुमुक्षु भव्य जो रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग के विरोधी छहों अयोग्य नाम, स्थापना आदि का मन, वचन, काय से त्याग करता है उसे आचार्य प्रत्याख्यान कहते हैं[84] । मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दि आचार्य ने गाथा 7/135 की टीका में छह निक्षेपों का वर्णन करके अन्त में भविष्यत् और वर्तमान काल सम्बन्धी अतिचारों के निरोध को प्रत्याख्यान कहा है ।

प्रत्याख्यान में छह निक्षेप – प्रत्याख्यान में छह निक्षेप इस प्रकार होते हैं – नाम प्रत्याख्यान, स्थापना प्रत्याख्यान, द्रव्य प्रत्याख्यान, क्षेत्र प्रत्याख्यान, काल प्रत्याख्यान और भाव प्रत्याख्यान।

1. नाम प्रत्याख्यान -अयोग्य अर्थात् पाप के हेतु नामों को न करना चाहिए, न कराना चाहिए और न अनुमोदन करना चाहिए, यह नाम प्रत्याख्यान है । अथवा "प्रत्याख्यान" इस नाम मात्र को नाम प्रत्याख्यान कहते हैं ।

2. स्थापना प्रत्याख्यान - पाप बन्ध के कारण भूत और मिथ्यात्व आदि में प्रवृत्ति कराने वाली स्थापना को अयोग्य स्थापना कहते हैं। मिथ्या देवता आदि के प्रतिबिम्ब, जो पाप के कारण द्रव्य रूप हैं, उन्हें न करना चाहिए और न कराना चाहिए और न उनकी अनुमोदना करनी चाहिए, यह स्थापना प्रत्याख्यान है अथवा प्रत्याख्यान की सद्भाव या असद्भाव रूप प्रतिबिम्ब स्थापना प्रत्याख्यान है ।

3– द्रव्य प्रत्याख्यान – जो सावद्य द्रव्य पाप बन्ध का कारण है अथवा निर्दोष होने पर भी तप के लिए त्याग दिया गया है उसे न स्वयं सेवन करना चाहिए, न अन्य के सेवन कराना चाहिए और कोई सेवन करता हो तो उसकी अनुमोदना नहीं करनी चाहिए । यह द्रव्य प्रत्याख्यान है । अथवा जो मनुष्य प्रत्याख्यान विषयक आगम का ज्ञाता है किन्तु उसमें उपयुक्त नहीं है उसे आगम द्रव्य प्रत्याख्यान कहते हैं । प्रत्याख्यान विषयक ज्ञाता का शरीर, उसके कर्म, नोकर्म तथा जो जीव भविष्य में प्रत्याख्यान विषयक शास्त्र का ज्ञाता होगा, ये सब नो आगम द्रव्य प्रत्याख्यान हैं ।

4. क्षेत्र प्रत्याख्यान – असंयम आदि के कारणभूत क्षेत्र का स्वयं त्याग करना, दूसरे से त्याग कराना, तथा कोई अन्य त्याग करते तो उसकी अनुमोदना करना क्षेत्र प्रत्याख्यान है। अथवा जिस क्षेत्र पर प्रत्याख्यान किया गया हो वह क्षेत्र प्रत्याख्यान है ।

5. काल प्रत्याख्यान – असंयम आदि में निमित्त काल का स्वंय त्याग करना, दूसरे से त्याग कराना, तथा कोई अन्य त्याग करता हो तो उसकी अनुमोदना करना काल प्रत्याख्यान है । अथवा प्रत्याख्यान करने वाले के द्वारा सेवित काल को काल प्रत्याख्यान कहते हैं।

6. भाव प्रत्याख्यान – मन, वचन, काय से मिथ्यात्व आदि का त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है। अथवा प्रत्याख्यान विषयक शास्त्र का जो ज्ञाता उसमें उपयुक्त है उसे उसके प्रत्याख्यान विषयक ज्ञान को और जीव प्रदेशों को प्रत्याख्यान कहते हैं[85] । उत्तराध्ययन के "समयक्तव पराक्रम" अध्ययन में कुछ प्रत्याख्यानों के पालन करने का फल बताया गया है

संभोग प्रत्याख्यान – साधुओं के द्वारा एकत्रित किये गये भोजन को एक साथ मण्डलीबद्ध बैठकर खाने का त्याग करना । इससे जीव स्वावलम्बी हो जाता है और फिर अपने लाभ से ही संतुष्ट रहता है[86] ।

उपधि प्रत्याख्यान – वस्त्रादि उपकरणों का त्याग करना इससे स्वाध्याय आदि के करने में निर्विघ्नता की प्राप्ति होती है तथा आकांक्षारहित होने से वस्त्रादि के माँगने, उनकी रक्षा करने आदि का कष्ट नहीं होता है[87] ।

आहार प्रत्याख्यान – आहार का त्याग करने से जीवन के प्रति ममत्व नहीं रहता है और निर्ममत्व हो जाने पर आहार के बिना भी उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है[88] ।

योग प्रत्याख्यान – मन, वचन, और की सम्बन्धी प्रवृत्ति (योग) को रोकना योग प्रत्याख्यान है । इससे जीव जीवन्मुक्त (अयोगी) की अवस्था को प्राप्त करता है तथा नवीन कर्मो का बन्धन करता हुआ पूर्व संचित कर्मों का क्षय करता है[89] ।

सद्भाव प्रत्याख्यान – इसका अर्थ है – सभी प्रकार की प्रवृत्ति को त्यागकर पूर्ण वीतरागता की अवस्था को प्राप्त करना । इससे जीव सब प्रकार के कर्मों को नष्ट करके मुक्त हो जाता है[90]।

शरीर प्रत्याख्यान- इसका अर्थ है - शरीर से ममत्व हटाना । संसारी अवस्था में जीव हर समय किसी न किमी प्रकार के शरीर से युक्त रहता है और जब वह शरीर का प्रत्याख्यान कर देता है तो अशरीरी सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है[91] ।

सहाय प्रत्याख्यान - अपने कार्य में किसी की सहायता न लेना सहाय प्रत्याख्यान है । इससे जीव एकत्वभाव को प्राप्त करता है। एकत्वभाव प्राप्त कर लेने पर वह अल्प शब्द वाला, अल्प कलह वाला और अल्पकषाय वाला होता हुआ संयम बहुल संवर बहुल और समाधि बहुल हो जाता है[92] ।

कषाय प्रत्याख्यान – यद्यपि साधु सामान्यतया रागद्वेषरूप कषाय से रहित होता है फिर भी रागद्वेष का प्रसंग आने पर संयम से च्युत न होना अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों को जीतना कषाय प्रत्याख्यान है । इससे साधक तत्तत् कर्मो का बन्ध नहीं करता हुआ पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करके क्रमशः क्षमा, मृदुता, ऋजुता, एवं निर्लोभता को प्राप्त कर लेता है[93]। क्षमा से सब प्रकार के कष्टों को सहन करता है । मार्दव (मृदता) से अभिमानरहित होकर मद के आठ स्थानों का क्षय कर देता है । अजीव (ऋजुता) से सरल प्रवृत्ति का होकर धर्म का पालन करता है । निर्लोभता से अकिञ्चनभाव (अपरिग्रहपना)को प्राप्त करके विषयों से अप्रार्थनीय (लुभाया न जाने वाला) हो जाता है । इस तरह इन कषायों पर विजय पाने से वीत-रागता की प्राप्ति होती है । वीतराग पुरुष सुख और दुख में समान स्थिति वाला होता है। उसे मनोज्ञामनोज्ञ विषयों के प्रति ममत्व या द्वेष नहीं रहता है[94] ।

कार्योत्सर्ग -काय अर्थात् शरीर के, उत्सर्ग अर्थात् त्याग को कार्योत्सर्ग कहते हैं। पदार्थों का जानने का आधार इन्द्रियाँ जिसकी अवयव हैं और कर्म के द्वारा जिसकी रचना हुई तथा जो पुदगलों का एक समूह विशेष है उस औदारिक नामक शरीर को यहाँ काय शब्द से ग्रहण किया है क्योंकि आगे कहे जाने वाला उत्सर्ग अन्य शरीरों में सम्भव नहीं है।

शंका- आयुकर्म जब पूर्ण रूप से समाप्त हो जाता है तब आत्मा शरीर को छोड़ता है, अन्य काल में नहीं छोड़ता, तब कैसे आप कायोत्सर्ग की बात करते हैं ?

समाधान - आत्मा और शरीर के प्रदेश परस्पर में मिलने के आयुकर्म के कराण यद्यपि शरीर ठहरा रहता है तथापि शरीर सात धातु रूप होने से अपवित्र है, रज और वीर्य से उत्पन्न होने से विशेष अपवित्र है तथा अनित्य है, नष्ट होने वाला है, दु:खों के धारण करने योग्य है, असार है, दु:ख का कारण है, इस शरीर से ममत्व करने से अनन्त संसार में भ्रमण करना होता है, इत्यादि दोषों को जानकर न यह मेरा है, न मैं इसका हूँ ऐसा संकल्प करने वाले के शरीर में आदर का अभाव होने से काय का त्याग घटित होता ही है। जैसे प्राणों से भी प्यारी पत्नी के अपराध करने पर उसमें अनुराग न रहने से "यह मेरी है" इस प्रकार का भाव न होने से एक ही घर में रहते हुए भी त्यागी हुई कही जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना। दूसरे शरीर के विनाश के कारण उपस्थित होने पर भी कार्योत्सर्ग करने वाले के विनाश के कारण को दूर करने की इच्छा नहीं होती। जो जिसके विनाश के कारणों को दूर करने में उत्सुक नहीं है उसने उसे त्याग दिया है, जैसे त्याग हुआ वस्त्रादि और यति शरीर के विनाश के कराण को दूर करने में उत्सुक नहीं होता। अत: उसके काय त्याग उचित है तथा वह शरीर से निस्पृह होकर, स्थाणु की तरह शरीर को सीधा करके दोनों हाथों को लटकाकर प्रशस्त ध्यान में लीन हो, शरीर को ऊँचा नीचा न करके परीषहों और उपसर्गों को सहन करता हुआ, कर्मों को नष्ट करने की अभिलाषा से जन्तु रहित एकान्त देश में ठहरता है[95]।

कार्योत्सर्ग का काल - कायोत्सर्ग का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल एक वर्ष है। अतिचारों को दूर करने के लिए कायोत्सर्ग के रात, दिन, पक्ष, मास, चार वर्ष आदि काल में होने वाले अतिचारों की अपेक्षा अनेक भेद हैं। सांय काल में सौ उच्छवास प्रमाण, प्रात:काल में पचास उच्छ्वास प्रमाण, पाक्षिक अतिचार में तीन सौ उच्छ्वास प्रमाण, चार मासों में चार सौ उच्छ्वास प्रमाण और वार्षिक में पाँच सौ उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग है। हिंसा आदि पाँच अतिचारों में एक सौ आठ उच्छ्वास मात्र काल तक कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग करने पर यदि उच्छ्वास का अथवा परिणाम का स्खलन हो जाये तो आठ उच्छ्वास प्रमाण अधिक काल तक कायोत्सर्ग करना चाहिए[96]।

कायोत्सर्ग के चार भेद - कायोत्सर्ग के चार भेद हैं -

उत्थितोत्थित, उत्थित निविष्ट, उपविष्ट उत्थित और उपविष्ट निविष्ट।

कायोत्सर्ग करने वाले के स्थान सम्बन्धी दोष -

कायोत्सर्ग करने वाले को स्थान सम्बन्धी दोष दूर करना चाहिए। वे दोष इस प्रकार हैं-

1- घोड़े की तरह पैर को थोड़ा मोड़कर खड़ा होना।

2- बेल की तरह इधर उधर हिलते हुए खड़े होना।

3- स्तम्भ की तरह शरीर को स्तब्ध करके खड़े होना।

4- स्तम्भ अथवा दीवार के आश्रय से अथवा ऊपर के तल्ले से सिर को लगाकर खड़े होना।

5- ओष्ठ को लटकाकर दृष्टि अपने स्थनों पर रखकर कौए की तरह आँखो को इधर-उधर घुमाना।

6- लगाम से पीड़ित मुख वाले घोड़े की तरह मुख चलाते हुए अवस्थित होना।

7- जैसे कन्धे पर जुआ होने से बैल अपना सिर नीचे डालता है उस तरह सिर को लटकाकर अवस्थापन करना।

8- कैथ के फल को ग्रहण करने वाला मनुष्य जैसे अपनी हथेली को फैलाता है, उस तरह हथेली को फैलाकर या पाँचों अँगुलियों को संकुचित करके अवस्थित होना।

9 - सिर को चलाते हुए अवस्थान।

10- गूँगे की तरह हुंकार करते हुए अवस्थान।

11- गूँगे की तरह नाक से वस्तु को दिखलाते हुए अवस्थान।

12- अँगुली चटकाते हुए अवस्थान।

13- भौं को नचाते हुए अवस्थान।

14- भीलनी की तरह अपने-अपने अग्रभाग को हथेली से ढाँकते हुए अवस्थान।

15- ऐसे खड़े होना मानो दोनों पैर साँकल से बँधे हैं।

16- मदिरा पिये हुये की तरह अथवा पराधीन शरीर की तरह खड़ा होना।

ये कायोत्सर्ग के दोष हैं[97]।

उपर्युक्त सामायिक आदि छह आवश्यकों के ही नाम अनुयोग द्वार में प्रकारान्तर से मिलते हैं। जिनसे इनके स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। उनके नाम क्रमश: ये हैं[98]।

1- सावद्ययोग विरति (सामायिक), 2, उत्कीर्तन (चतुर्विंशतिस्तव), 3- गुण व प्रतिपत्ति (वन्दन), 4- स्खलित निन्दना (प्रतिक्रमण), 5- व्रण चिकित्सा (कायोत्सर्ग) और 6- गुण धारण (प्रत्याख्यान)। "आवश्यक" नामक एक सूत्रग्रन्थ भी है जिसमें इन छ: आवश्यकों का ही वर्णन किया गया है।

अचेलकत्व - आचार्य पद्मनन्दि ने अपने ग्रंथ पद्मनन्दि पञ्चविंशति में कहा है कि जब वस्त्र मैला हो जाता है तब उसे स्वच्छ करने के लिए जलादि का आरम्भ करना पड़ता है और जहाँ आरम्भ से वहाँ संयम की रक्षा सभंव नहीं है दूसरे जब वह जीर्ण-शीर्ण होकर फट जाता है, तो मन में व्याकुलता होती है तथा दूसरों से उसके लिए याचना करनी पड़ती है इससे आत्मगौरव नष्ट होकर दीनता का भाव उत्पन्न होता है फिर यदि किसी ने उसका अपहरण कर लिया तो क्रोध भड़क उठता है। इस प्रकार वस्त्र को मुनिमार्ग में बाधक समझकर दिगम्बरत्व को स्वीकार करना योग्य है[99]। भगवती अराधना में कहा गया है कि वस्त्र रहित रूप जनता में विश्वास पैदा करने वाला होता है। विषय से होने वाले शरीरिक सुख में अनादर भाव होता है सर्वत्र स्वाधीनता रहती है और परीषह को सहना होता है[100]।

अचेलता के अन्य गुण - अंचेलता जिन भगवान का प्रतिरूप है। वीर्याचार का प्रवर्तक है, रागादि दोषों को दूर करती है, इत्यादि बहुत से गुण अचेलता में होते हैं[101]। अर्थात् यह अचेल लिङ्ग जिनदेवों का प्रतिबिम्ब है। जिन देवों ने जो लिङ्ग ग्रहण किया था, मुक्ति के लिए वही लिङ्ग

योग्य है क्योंकि जिनदेव मुमुक्षु थे, मुक्ति का उपाय जानते थे। जो जिस वस्तु का प्रार्थी होता है और विवेकशील होता है, वह उस वस्तु के जो उपाय नहीं हैं, उन्हें ग्रहण नहीं करता। जैसे घट बनाने का इच्छुक कपड़ा बुनने के साधन तुरी आदि को ग्रहण नहीं करता। इसी तरह मुक्ति का इच्छुक साधु वस्त्र ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वस्त्र मुक्ति का उपाय नहीं है और जो अपने को इष्ट वस्तु का उपाय होता है उसे नियम से ग्रहण करता है। जैसे घट का अर्थी चाक आदि को अवश्य ग्रहण करता है। उसी तरह साधु भी अचेलता को ग्रहण करता है और अचेलता ज्ञान और दर्शन की तरह मुक्ति का उपाय है। यह जिन भगवान के आचरण से सिद्ध है। वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए सामर्थ्य रूप परिणाम को वीर्य कहते हैं। उसको न छिपाते हुए रत्नत्रय के पालन करने को वीर्याचार कहते हैं। पाँच प्रकार के आचारों में से एक वीर्याचार है, उसका पालन होता है क्योंकि अचेलता के धारण से वस्त्र त्याग अशक्य है, वह हो जाता है। परिग्रह का त्याग पाँचवाँ व्रत है। शक्ति होते हुए भी यदि परिग्रह का त्याग न करे तो वह पाँचवा व्रत नहीं रहता। लाभ में राग होता है, लाभ न होने पर क्रोध आता है। जो प्राप्त होता है उसमें "यह मेरा है", इस प्रकार का मोह होता है। अथवा ओढ़ने पहिरने के वस्त्रों की कोमलता, मजबूती आदि गुणों में राग होता है और कठोर स्पर्शन आदि में द्वेष होता है। वस्त्र त्याग देने पर ये रागादि दोष नहीं होते। इस प्रकार अचेलता में महाफलदायक महान गुण होते हैं। आदि शब्द से माँगना, दीनता, आदि से रक्षा होती है और संक्लेश आदि नहीं होते[102]।

अस्नान - मुनियों के मूल गूणों में एक गुण स्नान नहीं करना भी है। मुनि पद्मनन्दि ने मुनि द्वारा स्नान नहीं किये जाने के औचित्य पर विशेष रूप से लिखा है। वे कहते हैं- जिस शरीर की समीपता के कारण उत्तम माला आदि छूने के योग्य नहीं रहती है, जो मल एवं मूत्र आदि से भरा हुआ है रस एवं रूधिर आदि सात धातुओं से रचा गया है, भयानक है, दुर्गन्ध से युक्त है तथा जो निर्मल आत्मा को भी मलिन करता है, ऐसा समस्त अपवित्रताओं के एक संकेत गृह के समान यह मनुष्यों का शरीर जल के स्नान से कैसे शुद्ध हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता। आत्मा तो स्वभाव से अत्यन्त पवित्र है, इसलिए उस उत्कृष्ट आत्मा के विषय में स्नान व्यर्थ ही है, तथा शरीर स्वभाव से अपवित्र ही है, इसलिए वह भी कभी उस स्नान के द्वारा पवित्र नहीं हो सकता। इस प्रकार स्नान की व्यर्थता दोनों ही प्रकार से सिद्ध होती है। फिर भी जो लोग उस स्नान को करते हैं वह उनके लिए करोड़ो पृथ्वीकायिक जलकायिक एवं अन्य क्रीड़ों की हिंसा का कारण होने से पाप और राग का ही कारण होता है। चित्त में पूर्व के करोड़ो भवों में संचित हुए पाप कर्म रूप धूलि के सम्बन्ध से प्रगट होने वाले मिथ्यात्व आदि रूप मल को नष्ट करने वाली जो विवेकबुद्धि उत्पन्न होती है वही वास्तव में साधु जनों का स्नान है। इससे भिन्न जो जलकृत स्नान है वह प्राणि समूह को पीड़ाजनक होने से पाप को करने वाला है। उससे न तो धर्म ही सम्भव है और न स्वभाव से अपवित्र शरीर को पवित्रता भी सम्भव है। जो परमात्मा नामक समीचीन तीर्थ सम्यग्ज्ञान रूप निर्मल जल से परिपूर्ण है, शोभायमान सम्यग्दर्शन रूप लहरों के समूह से व्याप्त है, अविनश्वर आनन्द विशेष रूप (अनन्त सुख) शैत्य से मनोहर है, तथा समस्थ पापों को नष्ट करने वाला है, उसमें निरन्तर स्नान करें। व्यर्थ के परिश्रम से व्याकुल होकर शुद्धि के लिए गंगा की ओर क्यों दौड़ते हैं ? अर्थात गंगा आदि में स्नान करने से कुछ अन्तरंग शुद्ध नहीं हो सकती है, वह तो परमात्मा के स्मरण एवं उसके स्वरूप के चिन्तन आदि से ही हो सकती

है अतएव उसी में अवगाहन करना चाहिए । पापी जीवों ने न तो तत्त्व के निश्चयरूप पवित्र नद (नदी विशेष) को देखा है और न ज्ञानरूप समुद्र को ही देखा है । वे समता नामक अतिशय पवित्र नदी को भी कहीं पर नहीं देखते हैं । इसलिए वे मूर्ख पाप को नष्ट करने के विषय में यथार्थ भूत इन समीचीन तीर्थों को छोड़कर तीर्थ के समान प्रतिभाषित होने वाले गंगा आदि तीर्थाभासों में स्नान करके सन्तुष्ट होते हैं । संसार में वह कोई तीर्थ नहीं है वह कोई जल नहीं है, तथा अन्य भी वह कोई वस्तु नहीं है । जिसके द्वारा पूर्णरूप से अपवित्र यह मनुष्य का शरीर प्रत्यक्ष में शुद्ध हो सके । आधि (मानसिक कष्ट) व्याधि (शारीरिक कष्ट) बुढ़ापा और मरण आदि से व्याप्त यह शरीर निरन्तर इतना सन्तापकारक है कि सज्जनों को उसका स्नान लेना भी असह्य प्रतीत होता है । यदि इस शरीर को प्रतिदिन समस्त तीर्थों के जल से भी स्नान कराया जाय, तो भी वह शुद्ध नहीं हो सकता है, यदि इसका कपूर व कुंकुम आदि उबटनों के द्वारा निरन्तर लेपन भी किया जाय तो भी वह दुर्गन्ध को धारण करता है, तथा यदि इसकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा भी की जाय तो वह क्षय के मार्ग में ही प्रस्थान करने वाला अर्थात् नष्ट होने वाला है । इस प्रकार जो शरीर सब प्रकार के दु:ख को देने वाला है उससे अधिक प्राणियों को और दूसरा कौन सा अशुभ व कौन सा कष्ट हो सकता है ? अर्थात् प्राणियों को सबसे अधिक अशुभ और कष्ट देने वाला यह शरीर ही है, अन्य कोई नहीं है[104] ।

भूमि शयन - साधु को तृण आदि के आच्छादन से रहित भूमि प्रदेश में अथवा अपने द्वारा मामूली सी आच्छादित भूमि में जिसका परिमाण अपने शरीर के बराबर हो अथवा त्रण आदि की शय्या पर न ऊपर को मुख करके और न नीचे को मुख करके सोना चाहिए[105]।

अदंतधावन - नीम की लकड़ी आदि से दंत मंजन नहीं करना अदंतधावन व्रत है। दाँतों को नहीं घिसने से इन्द्रिय संयम होता है, शरीर से विरागता प्रगट होती है और सर्वज्ञदेव की आज्ञा का पालन होता है[106] ।

स्थिति भोजन - दिन के आदि और अंत की तीन-तीन घड़ी काल छोड़कर दिन के मध्य में खड़े होकर और भीत स्तम्भ आदि का सहारा न लेकर एक बार एक दो या तीन मुहूर्त तक अपने हाथ से भोजन करना चाहिए[107] । मूलाचार टीका में कहा गया है कि जिस भूमि प्रदेश पर आहार लेने वाला खड़ा हो, जिस भूमि प्रदेश पर आहार देने वाला खड़ा हो, उन दोनों के बीच का जो भूमि प्रदेश है तथा जिस पर जूठन गिरती है, ये तीनों भूमि प्रदेश जीव हिंसा आदि से रहित होना चाहिए । ऐसे परिशुद्ध भूमि प्रदेश पर भीत आदि का सहारा न लेते हुए दोनों पैरों के मध्य में चार अंगुल का अन्तर रखते हुए खड़े होकर अपने हाथों की अंजली बनाकर जो भोजन किया जाता है, उसे स्थिति भोजन नामक व्रत कहते हैं ।

दोनों हाथों को मिलाकर तथा खड़े होकर भोजन करने में जब तक मैं समर्थ हूँ तब तक भोजन करूंगा अन्यथा नहीं करूंगा । इस प्रकार की प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए तथा इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम के लिए मुनि खड़े होकर भोजन करते हैं[108] ।

हाथ धोकर यदि भोजन के स्थान पर चींटी आदि चलते-फिरते दिखाई दे, या इसी प्रकार का कोई अन्य निमित्त उपस्थित हो तो साधु को मौनपूर्वक दूसरे स्थान पर चले जाना चाहिए तथा जिस समय भोजन करें उसी समय दोनों पैरों के मध्य में चार अंगुल का अन्तर रखकर तथा हाथों

की अंजलि बनाकर खड़े होवें। अर्थात् ये दोनों विशेषण केवल भोजन के समय के लिए हैं। जितने समय तक साधु भोजन करें उतने समय तक ही उन्हें इस विधि से खड़े रहना चाहिए[109]।

एकभक्त - एक वेला में आहार लेना - सूर्योदय के अनन्तर तीन घड़ी के बाद और सूर्यास्त के तीन घड़ी पहले एक दिन में सामायिक काल को छोड़कर एक बार आहार ग्रहण करना एकभक्त है[110]।

तेरह प्रकार का चारित्र - पञ्च महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति इन तेरह को तेरह प्रकार का चारित्र या चरण कहते हैं। इनमें से पञ्च महाव्रत और पाँच समिति का वर्णन किया जा चुका है। गुप्ति का स्वरूप इस प्रकार है -

गुप्ति - मन, वचन और काय सम्बन्धी अशुभ प्रवृत्तियों का रोकना गुप्ति है। अशुभ प्रवत्ति से तात्पर्य सांसारिक विषयभोगों की ओर उन्मुख होने वाली प्रवृत्ति से है। कषाय रूपी शत्रु के आक्रमण से रक्षा करने के लिए इन गुप्तियों को अमोघशस्त्र (अजेय शस्त्र) कहा गया है[111]। प्रवृत्ति मन, वचन एवं काय से संभव होने से गुप्ति के भी तीन भेद किए गए हैं- मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और कायगुप्ति। इन्हें ही योगदर्शन के शब्दों में क्रमशः मनोयोग, वचनयोग और काययोग कहा जा सकता है, क्योंकि योगदर्शन में चित्तवृत्ति के निरोध को योग शब्द से कहा जाता है[112]। इस तरह योगदर्शन का यह "योग" इस योग शब्द से भिन्न है, क्योंकि जैनदर्शन में प्रवत्ति मात्र को योग कहा जाता है तथा उसके निरोध को गुप्ति[113]।

व्यवहार मनोगुप्ति - कलुषता, मोह, संज्ञा, राग, द्वेष आदि अशुभ भावों के परिहार को व्यवहार नय से मनोगुप्ति कहा है[114]।

निश्चय मनोगुप्ति - मन से जो रागादि की निवृत्ति, उसे (निश्चय) मनोगुप्ति जानना चाहिए[115]।

व्यवहार वचन गुप्ति - पाप के हेतुभूत ऐसे स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भक्तकथा इत्यादि रूप वचनों का परिहार अथवा असत्यादिक की निवृत्ति वाले वच बोलना वचन गुप्ति है[116]।

निश्चय वचन गुप्ति - असत्यादि की निवृत्ति अथवा मौन (निश्चय)वचन गुप्ति है[117]।

व्यवहार काय गुप्ति - बाँधना, छेदन, मारण, हाथ-पैर का संकोच, संकोच-विस्तार आदि कायक्रिया की निवृत्ति व्यवहार काय गुप्ति है।

निश्चय कायगुप्ति - कायक्रियानिवृत्ति या कायोत्सर्ग (निश्चय) कायगुप्ति है[118]।

साधु के उत्तर गुण - मुनियों के बारह तप और बाईस परिषहजय से 34 उत्तरगुण होते हैं।

तप

तप दो प्रकार का होता है- बाह्य तथा आभ्यन्तर। बाह्य तप अनशनादि के भेद से छह प्रकार का और आभ्यन्तर तप प्रायश्चित आदि के भेद से छह प्रकार का है[119]।

बाह्य तप - 1. अनशन - संयम को आदि लेकर समीचीन ध्यान की सिद्धि रूप प्रत्यक्ष फल की प्राप्ति के लिए तथा राग को दूर करने के लिए आहार का त्याग करना अनशन है। यह वेला, तेला आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है[120]।

2. अवमौदर्य - दोषों (वात, पित्त आदि)का उपशम, सन्तोष स्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि के लिए तथा संयम की प्राप्ति के लिए भूख से कम भोजन करना अवमौदर्य है। यह जागरण का कारण है[121]।

3. वृत्ति परिसंख्यान - भोजन विषयक तृष्णा को दूर करने के लिए भिक्षा के अभिलाषी मुनि, जो घर तथा अन्न आदि से सम्बन्ध रखने वाले नाना प्रकार के नियम लेते हैं वह वृत्ति परसिंख्यान नाम का तप है[122] ।

4. रस परित्याग – निद्रा और इन्द्रियों के जीतने के लिए जो घी, दूध और गरिष्ठ रसों का त्याग किया जाता है वह रस परित्याग नाम का तप है[123] ।

5. विविक्त शय्यासन – व्रत की शुद्धि के लिए पशु तथा स्त्री आदि से रहित एकान्त प्रासुक स्थान में उठना, बैठना विविक्त शय्यासन तप है[124] ।

6. कायक्लेश – आतापन, वर्षा और शीत ये तीन योग धारण करना तथा प्रतिमायोग से स्थित होना इन्हें आदि लेकर बुद्धिपूर्वक जो सुख त्याग किया जाता है वह मोक्षमार्ग की प्रभावना करने वाला कायक्लेश नाम का तप है[125] ।

वाह्य तप के कथन का कारण – अनशनादि छह प्रकार का तप वाह्य द्रव्य की अपेक्षा रखता है तथा पर कारणों से होता है अत: इन्हें वाह्य तप कहते हैं[126] ।

आभ्यन्तर तप – मन का नियमन करने के लिए आभ्यन्तर तप का कथन किया जाता है[127]। आभ्यन्तर तप के 6 भेद हैं -

1. **प्रायश्चित** - किये हुए दोषों की शुद्धि करना प्रायश्चित तप है । आलोचना आदि के भेद से यह 9 प्रकार का होता है[128] :-

1. **आलोचना** - प्रमाद से किये हुए दोषों का दश प्रकार के दोष छोड़कर गुरु के लिए निवेदन करना[129] ।

2. **प्रतिक्रमण** - मिथ्या में दुष्कृत मस्तु इत्यादि शब्दों द्वारा अपने आप दोषों को प्रकट कर उनका दूर करना[130] ।

3. **तदुभय** - आलोचना तथा प्रतिक्रमण दोनों से जो शुद्धि होती है वह विशुद्धि को करने वाला तदुभय नाम का प्रायश्चित है[131] ।

4. **विवेक** - संसक्त अन्नपान का विभाग करना[132] ।

5. **व्युत्सर्ग** - कायोत्सर्ग आदि करना[133] ।

6. **तप** - उपवास आदि करना[134] ।

7. **छेद** - दिन, माह आदि सेमुनि की दीक्षा कम कर देना[135] ।

8. **परिहार** - पक्ष, माह आदि निश्चित समय तक अपराधी मुनि को संघ से दूर कर देना परिहार[136] नाम का प्रायश्चित है ।

9. **उपस्थापना** - फिर से नवीन दीक्षा देना[137] ।

2. **विनय** - पूज्य पुरुषों में आदर प्रकट करना विनय है। इसके चार भेद हैं[138] ।

ज्ञान विनय - कालानतिक्रमण आदि आठ प्रकार के ज्ञानाचार का आगमोक्त विधि से ग्रहण करना ज्ञान विनय है[139] । शब्दाचार, अर्थाचार, उभयाचार, कालाचार, विनयाचार, उपधानाचार, बहुमानाचार, अनिह्नवाचार ये ज्ञानाचार के आठ भेद हैं । शब्द का शुद्ध उच्चारण करना शब्दाचार है । शुद्ध अर्थ का निश्चय करना अर्थाचार है । शब्द और अर्थ दोनों का शुद्ध होना उभयाचार है। अकाल में स्वाध्याय न कर विहित समय में ही स्वाध्याय करना कालाचार है । विनयपूर्वक स्वाध्याय करना स्वाध्याय के समय शरीर तथा वस्त्र शुद्ध रखना एवं आसन वगैरह का ठीक रखना विनयाचार है । चित्त की स्थिरतापूर्वक स्वाध्याय करना उपधानाचार है । शास्त्र तथा गुरु आदि का पूर्ण आदर

रखना बहुमानाचार है और जिस गुरु अथवा जिस शास्त्र से ज्ञान हुआ है उसका नाम नहीं छिपाना, उसके प्रति सदैव कृतज्ञ रहना अनिह्नवाचार है। इन आठ ज्ञानाचारों का विधिपूर्वक पालन करना ज्ञानविनय है।

दर्शन विनय - नि:शंकित आदि आठ अङ्गों के भेद से दर्शनाचार आठ प्रकार का है उसमें गुण दोष का विवेक रखना दर्शन विनय है[140]।

चारित्र विनय - पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति के भेद से जो तेरह प्रकार का चारित्राचार है उसमें निरतिचार प्रवृत्ति करना चारित्रविनय है[141]।

औपचारिक विनय - प्रत्यक्ष या परोक्ष दोनों अवस्थाओं में गुरु आदि के उठने पर उठकर अगवानी करना, नमस्कार करना आदि जो यथायोग्य प्रवृत्ति की जाती है उसे औपचारिक विनय कहते हैं[142]।

3- वैयावृत्य - अपने शरीर से या अन्य द्रव्यों से आचार्य आदि की सेवा करना वैयावृत्य है। इसके दस भेद हैं[143]।

1- दीक्षा देने वाला आचार्य ।

2- पठन-पाठन की व्यवस्था रखने वाले उपाध्याय ।

3- महान तप करने वाले तपस्वी ।

4-शिक्षा ग्रहण करने वाले शैक्ष्य ।

5- रोगादि से ग्रस्त ग्लान ।

6- वृद्ध मुनियों के समुदाय रूप गण ।

7- दीक्षा देने वाले आचार्य शिष्य समूह रूप कुल ।

8- गृहस्थ, क्षुल्लक, ऐलक तथा मुनियों के समुदाय रूप संघ ।

9- चिरकाल के दीक्षित गुणी मुनिरूप साधु ।

10- लोकप्रिय मनोज्ञ इन दस प्रकार के मुनियों को कदाचित् बीमारी आदि की अवस्था प्राप्त हो, मोह के उदय से मिथ्यात्व की ओर इनकी प्रवृत्ति होने लगे अथवा परीषह रूपी शत्रुओं का उदय हो तो ग्लानि दूर कर उनकी यथायोग्य सेवा करना यह दस प्रकार का वैयावृत्य तप है[144]।

वैयावृत्य का महत्व - वैयावृत्य का अत्यधिक महत्व है। गृहस्थ की तो बात ही क्या ? प्रासुक द्रव्य के वैयावृत्य करने में तत्पर रहने वाले मुनि को भी उससे बन्ध नहीं होता, किन्तु निर्जरा ही होती है। इस संसार में शरीर ही प्राणियों का सबसे बड़ा धर्म का साधन है इसलिए यथाशक्ति उसकी रक्षा करना चाहिए, यह आगम का विधान है। मन्द शक्ति अथवा बीमार आदि जितने भी सम्यग्दृष्टि हैं, सम्यग्दृष्टि मनुष्य को उन सबकी वैयावृत्य द्वारा निरन्तर सेवा करना चाहिए। जो प्रतीकार करने में समर्थ होकर भी रोग से दु:खी सम्यग्दृष्टि की उपेक्षा करता है, वह पापी है तथा सम्यग्दर्शन का घात करने वाला है। जिसका धन अथवा शरीर सहकर्मी जनों के उपयोग में नहीं आता उसका वह धन अथवा शरीर किस काम का वह तो केवल कर्मबन्ध का ही कारण है। जिसका जो धन अथवा जो शरीर सहधर्मी जनों के उपयोग में आता है यथार्थ में वही धन अथवा वही शरीर उसका है। जो समर्थ होकर भी आपत्ति के समय सम्यग्दृष्टि की उपेक्षा करता है उस कठोर हृदय वाले के जिन शासन की क्या भक्ति है ? कुछ भी नहीं है। जो सम्यग्दर्शन की शुद्धता से शुद्ध सहधर्मी की भक्ति नहीं करता है वह झूठ-मूठ विनयी बना फिरता है उसके सम्यग्दर्शन की शुद्धि

क्या है ? यदि बोध की प्राप्ति में निमित्त भूत दर्शन विशुद्धि में बाधा पहुँचाई जाती है तो फिर इस संसार में पुनः बोध की प्राप्ति दुर्लभ ही समझनी चाहिए । यदि बोध की प्राप्ति नहीं होती है तो मुक्ति का साधनभूत चारित्र कैसे हो सकता है ? और जब चारित्र नहीं है तो मुक्ति के अभिलाषी मनुष्य को मुक्ति कैसे मिल सकती है ? मुक्ति के अभाव में अनंत एवं अविनाशी सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? सुख के अभाव में स्वास्थ्य कैसे मिल सकता है ? और स्वास्थ्य के अभाव में यह जीव कृत्यकृत्य कैसे हो सकता है । इसलिए आत्महित चाहने वाला चाहे मुनि हो या गृहस्थ उसे सब प्रकार की शक्ति के अनुसार वैयावृत्य करने में उद्यत रहना चाहिए । जो मनुष्य वैयावृत्य करता है वह अपने तथा दूसरे के शरीर दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं उत्तम तप आदि सभी गुणों को स्थिर करता है । जिनशासन की रीति को जानने वाला जो विद्वान् पर का उपकार करता हुआ स्वयं प्रत्युपकार की अपेक्षा से रहित होता है वह शीघ्र ही स्व पर आत्मा का मोक्ष प्राप्त करता है । जो जिनशासन के अर्थ का सही उत्कृष्ट भावना करता हुआ वैयावृत्य करने में प्रवृत्त रहता है उसे देव भी रोकने में समर्थ नहीं है शुद्र जीवों की तो बात ही क्या है[145] ।

4. स्वाध्याय - ज्ञान की भावना में आलस्य का छोड़ना स्वाध्याय है । इसके पाँच भेद हैं[146]।

वाचना - ग्रन्थ तथा उसका अर्थ दूसरे के लिए प्रदान करना - पढ़कर सुनाना[147] ।

पृच्छना - अनिश्चित तत्त्व का निश्चय करने के लिए अथवा निश्चित तत्त्व को सुदृढ़ करने के लिए दूसरे से पूछना[148] ।

अनुप्रेक्षा - ज्ञान का मन से अभ्यास करना[149] ।

आम्नाय - पाठ को बार-बार पढ़ना[150] ।

उपदेश - दूसरे को धर्म का उपदेश देना[151] ।

यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय प्रशस्त अभिप्राय के लिए, प्रज्ञा-भेद विज्ञान के अतिशय की प्राप्ति के लिए, संवेग के लिए और तप के लिए किया जाता है[152] ।

5. व्युत्सर्ग - वाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहों में ये मेरे हैं, इस प्रकार के संकल्प का त्याग करना व्युत्सर्ग है । इसके दो भेद होते हैं[153] ।

1- **आभ्यन्तरोपधित्याग** - क्रोधादि अन्तरङ्ग उपाधि का त्याग करना तथा शरीर के विषय में भी यह मेरा नहीं है। इस प्रकार का विचार रखना आभ्यन्तरोपधित्याग है[154] ।

2- **वाह्योपधित्याग** - आभूषणादि वाह्य उपाधि का त्याग वाह्योपधित्याग है[155] ।

इन दोनों प्रकार की उपधियों का त्याग निष्परिग्रहता, निर्भयता और मैं अधिक दिनों तक जीवित रहूँ, इस आशा को दूर करने के लिए किया जाता है[156] ।

ध्यान - चित्त की चंचलता का त्याग करना ध्यान है । यह चार प्रकार का होता है। इन में आर्त और रौद्र ये दो ध्यान खोटे ध्यान हैं और धर्म तथा शुक्ल ये दो उत्तम ध्यान हैं[157] ।

जिस समय एकान्त प्रासुक तथा क्षुद्र जीवों के उपद्रव से रहित क्षेत्र दिव्य संहनन आदि के तीन संहनन रूप द्रव्य उष्णता, आदि की बाधा से रहित काल और निर्मल अभिप्राय रूप श्रेष्ठभाव, इस प्रकार क्षेत्रादि चतुष्टय रूप सामग्री मुनि को उपलब्ध होती है तब समस्त बाधाओं को सहन करने वाला मुनि प्रशस्त ध्यान का आरम्भ करता है । ध्यान करने वाला पुरुष गम्भीर, निश्चल शरीर और सुखद पर्यङ्कासन से युक्त होता है । उसके नेत्र न तो अत्यन्त खुले होते हैं और न बन्द ही रहते हैं । नीचे के दाँतो के अग्रभाग पर उसके ऊपर के दाँत स्थिर रहते हैं । वह समस्त इन्द्रियों के व्यापारों से निवृत्त हो चुका होता है। श्रुत का पारगामी होता है, धीरे-धीरे श्वासोच्छ्वास का

संचार करता है। मोक्ष का अभिलाशी मनुष्य अपनी मनोवृत्ति नाभि के ऊपर मस्तक पर, हृदय में अथवा ललाट में स्थिर कर आत्मा को एकाग्र करता हुआ धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान इन दो हितकारी ध्यानों का चिन्तन करता है। वाह्य और आत्मिक भावों का जो यथार्थभाव है वह धर्म कहलाता है, उस धर्म से जो सहित है उसे धर्म ध्यान कहते हैं[158]। जो शुचित्व अर्थात् शौच के सम्बन्ध से होता है वह शुक्ल ध्यान कहलाता है। दोष आदिक का अभाव हो जाना शौच है[159]।

बाईस परिषह

1. क्षुधा, 2-तृषा, 3-शीत, 4-उष्ण, 5-दंशमशक, 6-नाग्न्य, 7-अरति, 8-स्त्री, 9- चर्या, 10-निषद्या, 11- शय्या, 12-आक्रोश, 13- वध, 14-याचना, 15-अलाभ, 16-रोग, 17-तृणस्पर्श, 18- मल, 19- सत्कार पुरस्कार, 20-प्रज्ञा, 21-अज्ञान और 22- अदर्शन। ये बाइस परिषह हैं। अब क्रम से इनका स्वरूप कहते हैं-

1. **क्षुधा परिषह जय** - जो शुद्ध आहार की खोज कर रहे हैं, आहार के न मिलने पर या थोड़ा मिलने पर जो इस प्रकार का विषाद नहीं करते कि बहुत भारी वेदना हो रही है तथा बड़े-बड़े दिनों वाला बहुत समय हो गया है, जो अकाल और अदेश में भिक्षा ग्रहण नहीं करते, जो आवश्यक कार्यों में रंचमात्र हानि नहीं करना चाहते, जो स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर हैं तथा भूख की बहुत भारी वेदना होने पर भी जो लाभ की उपेक्षा अलाभ को ही अधिक अच्छा मानते हैं, ऐसे भिक्षुक का क्षुधा सम्बन्धी बाधा का विचार नहीं करना क्षुधा परिषह जय है[160]।

2. **तृषा परिषहजय** - तीव्र प्यास उत्पन्न होने पर भी जो उसका प्रतिकार नहीं कर रहे हैं तथा भिक्षा के समय भी जो इशारे अथवा आकृति आदि के योग्य पेय पदार्थ की अभिलाषा नहीं करते ऐसे मुनि का धैर्य तथा बुद्धि के बल से प्यास का दु:ख सहन करना तृषा परिषह जय है[161]।

3. **शीत परिषहजय** - खण्ड के कारण मिलने पर जो उसके प्रतीकार की इच्छा नहीं रखते, जो शरीर में निर्गम स्नेह रहित हैं, जो पूर्व में भोगे हुए उष्ण पदार्थों का स्मरण नहीं करते ऐसे मुनि की रक्षा के लिए शीत की बाधा सहन करना शीत परिषह जय है[162]।

4. **उष्ण परिषह जय** - जो दाह गर्मी के प्रतिकार की इच्छा से रहित है तथा शीतल पदार्थों की अभिलाषा और बार-बार स्मरण से रहित हैं, ऐसे मुनि का चारित्र की रक्षा के लिए उष्ण की बाधा सहन करना उष्ण परिषह जय है[163]।

5. **दंशमशक परिषह जय** - डांश, मच्छर आदि के खाये जाने पर भी जिनका चित्त विचलित नहीं हो रहा है, जो कर्मोदय का स्मरण करते हैं किसी प्रकार का प्रतिकार नहीं करते हैं तथा शस्त्र के द्वारा उनका घात करना आदि कार्यों से पराङ्मुख हैं, ऐसे मुनि का दंशमशक आदि की बाधा का सहन करना दंशमशक परीषह जय है। यहाँ दंश शब्द से ही काम चल सकता था फिर भी मशक शब्द का जो ग्रहण किया गया है। वह समस्त जीवों से प्राप्त होने वाले उपघात से उपलक्षण के लिए है[164]।

6. **नाग्न्य परिषह जय** - जो स्त्री के रूप को निरन्तर अपवित्र, घृणित और मुर्दा जैसे भाव से देखते हैं जो बिना किसी सजावट व विकार के नग्न रूप को धारण करते हैं तथा वैराग्य भाव को प्राप्त हैं, ऐसे मुनि का नग्न मुद्रा धारण करते हुए किसी विकार का अनुभव नहीं करना नाग्न्य परिषह जय है[165]।

7. अरति परिषह जय – किसी कारण से उत्पन्न हुई अरति को डट कर धैर्य के बल से संयम में ही रति की विष के समान विचारते हैं, तथा जो देखे, सुने और भोगे हुए पदार्थों के रति विषयक स्मरण और उनकी कथा के श्रवण से रहित हैं ऐसे मुनि के अरति परिषह जय होता है। चक्षु आदि सभी इन्द्रियाँ अरति का कारण हो सकती है इसलिए पृथक से अरति के कारणों का ग्रहण करना अयुक्त है[166] ।

8. स्त्री परिषह जय - जो स्त्रियों को देखने, उनका स्पर्श करने तथा उनके साथ वार्तालाप करने आदि की अभिलाषा से निरुत्सुक हैं । स्त्रियों के नेत्र मुख और भौहों के विकार, श्रृंङ्गार पूर्ण आकार, रूप, गति, हास्य लीलापूर्वक जम्हाई लेना, स्थूल एवं उठे हुए स्तन नितम्ब, जाँघों का मूल भाग, कक्ष और नाभि के देखने से जिनके चित्त में कोई विकार नहीं आता तथा जिन्होंने वंशी आदि वाद्य और संगीत आदि का सुनना छोड़ दिया है ऐसे मुनि के स्त्री सम्बन्धी उपद्रव होने पर भी विकार भाव नहीं होना स्त्री परिषह जय है[167] ।

9. चर्या परिषह जय - देव आदि की वन्दना के लिए जो गुरु की आज्ञा से गमन कर रहे हैं, जो संयम को नष्ट नहीं करने वाले मार्ग से चलते हैं अटवियों में किसी सहायक की अपेक्षा नहीं करते हैं, तथा कङ्कड़ आदि के द्वारा खेद होने पर भी जो पूर्व अभ्यस्त सवारी आदि का स्मरण भी नहीं करते ऐसे मुनि के पैदल चलने का दु:ख सहन करना चर्या परिषह जय है[168] ।

10. निषद्य परिषह जय - जो श्मशान आदि में स्थित हैं जिन्होंने वीरासन आदि आसनों में किसी एक आसन का संकल्प किया है, जो उपसर्ग के प्रकट होने पर भी उस स्थान से विचलित नहीं होते, जो मन्त्र, तथा विद्या आदि के द्वारा उपसर्ग का प्रतीकार नहीं करते, जो पहले भोगे हुए कोमल विस्तर आदि का स्मरण नहीं करते तथा जो मानसिक विकारों से रहित हैं ऐसे मुनि के निश्चित समय तक एक ही आसन में बैठने का दुख सहन करना निषद्या परिषह जय है[169] ।

11. शय्या परिषह जय – ध्यान और अध्ययन में सदा निमग्न रहने के कारण रात्रि के समय अल्प निद्रा लेना तथा एक करवट से बिना ओढ़े हुए सोना[170] ।

12. आक्रोश परिषह जय –जो पर को भस्म करने के लिए समर्थ होने पर भी अनिष्ट वचनों को सुनते हैं, जिन्होंने परमार्थ में चित्त लगा रक्खा है तथा जो अपने पूर्वकृत कर्म कोही दोष देते हैं ऐसे मुनि का अनिष्ट वचन सहन करना आक्रोश परिषह जय है[171] ।

13. वध परिषह जय - चोर आदि क्रोधी जीव शस्त्र तथा अग्नि आदि के द्वारा जिन्हें मारते हैं फिर भी जिनके वैरभाव उत्पन्न नहीं होता, यह हमारे पूर्वकृत कर्म का फल है, ये बेचारे क्या कर सकते हैं ? यह शरीर स्वयं नष्ट होने वाला तथा दुखदायक है, यही इन के द्वारा नष्ट नहीं किये जाते, इस प्रकार की भावना करने वाले मुनि के वध, मारण, ताड़न आदि का दु:ख सहन करना वध परिषह जय है[172] ।

14. याचना परिषह जय - शरीर की स्थिरता के लिए चरणानुयोग की पद्धति से चर्या के लिए जाना, किन्तु किसी के आहार आदि की याचना नहीं करना[173] ।

15. अलाभ परिषह जय - चन्द्रमा के समान अमीर गरीब सभी के घर में आहार के लिए प्रवेश करना और लाभ अलाभ में समदृष्टि रखना[174] ।

16. रोग परिषह जय - रूखे, शीतल एवं प्रकृति के विरूद्ध आहार तथा बात, पित्त और कफ के प्रकोप से उत्पन्न रोग का प्रतीकार नहीं करना, सदा उसकी उपेक्षा करना[175] ।

17. तृण स्पर्श परिषह जय - शयन, आसन आदि के समय कठोर लाख के कण, तृण तथा कंकण आदि के द्वारा पीड़ित होने पर भी अन्तरङ्ग में किसी प्रकार का विकार न आना[176] ।

18. मल परिषह जय – सूर्य की किरणों से उत्पन्न पसीना के कणों में जिनके धूलि का समूह लग रहा है, से हुआ खाज तथा दाद से युक्त शरीर होने के कारण खुजली उत्पन्न होने पर भी जो खुजाना तथा मींड़ना आदि से रहित है, जो स्नान तथा लेपन आदि का स्मरण भी नहीं करते , मुझे मल नहीं लग रहा है तथा दूसरे को मल लग रहा है इसकी ओर जो कभी ध्यान नहीं देते ऐसे मुनि के मल का दुख सहन करना मल परिषह जय है । केशलोंच और उनके असंस्कार से उत्पन्न खेद का सहना मल सामान्य में अन्तर्भूत होता है इसलिए उसे पृथक नहीं कहा है[177] ।

19. सत्कार पुरस्कार परिषह जय – पूजा तथा प्रशंसात्मक शब्द कहना सत्कार है तथा कार्य के प्रारम्भ में अगुणी करना पुरस्कार है । मैं यद्यपि चिरकाल के ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा हूँ, महातपस्वी हूँ स्वसमय और पर समय का ज्ञाता हूँ, हितोपदेशी कथाओं की खोज करने में कुशल हूँ, और अनेक तत्त्वों के ज्ञाता परिवादियों को जीतने वाला हूँ तो भी कोई मेरे लिए प्रणाम नहीं करता, मेरी भक्ति नहीं करता और न हड़बडा कर आसन ही देता है इनसे अच्छे तो मिथ्यादृष्टि हैं जो अपने धर्म के अज्ञानी पुरुष को भी सर्वस्व जैसा मानकर उसका सम्मान करते हैं तथा अपने धर्म की प्रभावना करते हैं, पूर्वकाल में व्यन्तरादिक देव उग्र तप करने वाले मुनियों की अत्यधिक पूजा करते हैं, यह श्रुति यदि मिथ्या न होती तो ये सहधर्मी लोग हमारे जैसे पुरुषों का अनादर क्यों करते -ऐसा विचार जिनके चित्त में नहीं आता, तथा जो मान और अपमान में तुल्य रहते हैं ऐसे मुनि के सत्कारपुरस्कार परिषह जय होता है[178] ।

20. प्रज्ञा परिषह जय– इस समय पृथ्वी पर मुझसे बढ़कर न वादी है, न वाग्मी है, न गमक है और न महाकवि है, इस प्रकार का अहंकार न करना[179] ।

21. अज्ञान परिषह जय -- यह अज्ञानी , न पशु है, न मनुष्य है, न देवता है, न बोलता है, व्यर्थ ही इसने मौन ले रखा है, इस प्रकार के अज्ञानी जनों के वचनों की परवाह न करना[180] ।

22. अदर्शन परिषह जय – मैं कठिन तप करता हूँ, वैराग्य की भावना में तत्पर रहता हूँ, समस्त तत्त्वों का जानने वाला हूँ और चिरकाल के व्रत धारण कर रहा हूँ । इतने पर भी मेरे ज्ञान का अतिशय उत्पन्न नहीं हो रहा है, महोपवास आदि करने वाले मुनियों के विशिष्ट अतिशय प्रकट होते थे, वह प्रलापमात्र है, यह दीक्षा निरर्थक है तथा व्रत का पालन करना निष्फल है सम्यग्दर्शन की विशुद्धता के कारण जो ऐसा कभी विचार नहीं करते ऐसे मुनि के अदर्शन परिषह जय होता है[181] ।

ये परिषह रूपी सुभट केवल जानने योग्य ही नहीं हैं किन्तु उत्कृष्ट उपशमज्ञान रूप खड्ग के द्वारा जीतने योग्य भी हैं ।

परिषह सहन करने का प्रयोजन गृहीत मार्ग में च्युत नहीं होना तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करना है । आराधना में बैठे हुए महापुरुष को यदि क्षुधा, तृषा आदि की बाधा सताती है तो उसे साम्यभाव से सहन करना चाहिए । जो आराधक परिषह रूपी सुभटों को जीतने में असमर्थ होता है, वह आराधना के मार्ग से विचलित हो जाता है[182] ।

अनुप्रेक्षा

शरीर आदि के स्वभाव का बार बार चिंतन करना अनुप्रेक्षा है[183] ।ये बारह होती हैं- अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, लोक बोधि दुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्व ।

1. अनित्यानुप्रेक्षा – यह विचार करना कि जिन महल, शरीर, धन, सांसारिक सुख और बन्धुजनों में ये नित्य हैं, यह समझकर ममताभाव उत्पन्न होता है, उनमें आत्मा के सिवाय किसी में [illegible] नहीं है - सभी क्षणभंगुर हैं[184] ।

2. **अशरणानुप्रेक्षा** -जिस प्रकार व्याघ्र के मुख में पड़े मृग के बच्चे को कोई शरण नहीं है उसी प्रकार मृत्यु के दु:ख से पीड़ित मेरे लिए धर्म के सिवाय न भाई बन्धु शरण हैं और न धन ही शरण है[185] । यह चिन्तवन करना ।

3. **संसारानुप्रेक्षा** - नाना योनियों से भरे और कुल कोटियों के समूह से युक्त इस संसार रूपी चक्र के ऊपर चढ़े प्राणी महाविषम कर्मरूपी यन्त्र से प्रेरित हो स्वामी से भृत्य और पिता से पुत्र आदि अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार का विचार करना संसारनुप्रेक्षा है[186] ।

4. **एकत्वानुप्रेक्षा** - जन्म, जरा और मरण की आवृत्ति रूप महादु:ख का अनुभव करने के लिए अकेला ही मैं हूँ, न कोई मेरा स्व है और न पर है, अकेला ही मैं जन्मता हूँ और अकेला ही मरता हूँ । मेरा कोई स्वजन या परजन व्याधि, जरा मरण आदि दुखों को दूर नहीं करता । बंधु और मित्र श्मशान से आगे नहीं जाते । धर्म ही मेरा कभी साथ न छोड़ने वाला सदा सहायक है। इस प्रकार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस जीव के स्वजनों में प्रीति का अनुबन्ध नहीं होता और पर जनों में द्वेष का अनुबन्ध नहीं होता, इसलिए नि:संगता को प्राप्त होकर मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करता है[187] ।

5. **अन्यत्वानुप्रेक्षा** - मैं नित्य हूँ और शरीर अनित्य है । मैं चेतन हूँ । और शरीर अचेतन है । जब शरीर से भी मुझ में भिन्नता है तब दूसरी वस्तुओं से भिन्नता क्यों नहीं होगी[188] । इस प्रकार विचार करना अनत्वानुप्रेक्षा है ।

6. **अशुच्यनुप्रेक्षा** - यह अपना अथवा पराया शरीर रज, वीर्य रूप निन्द्य निमित्तों से उत्पन्न है, सप्त धातुओं से भरा है एवं वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों से युक्त है इसलिए ऐसा कौन पवित्र आत्मा होगा, जो इस अपवित्र शरीर में वियोग के समय शोक को प्राप्त होगा और संयोग के समय राग करेगा[189] । इस प्रकार की अपवित्रता का विचार करना अशुच्यनुप्रेक्षा है ।

7. **आस्रवानुप्रेक्षा** - काय, योग, वचन योग और मन योग- यह तीन प्रकार का योग ही आस्रव है । इसी के निमित्त से आत्मा में पुण्य और पापकर्म का आगमन होता है । आस्रव के बाद यह जीव कर्म बन्धन रूप दृढ़ साँकल से बद्ध होकर भयंकर संसार में चिर काल तक भ्रमण करता रहता है[190] । इस प्रकार आस्रव तत्व के विषय में विचार करना आस्रवानुप्रेक्षा है ।

8. **संवरानुप्रेक्षा** - जिस प्रकार माहर्णव में नाव के छिद्र के नहीं ढके रहने पर क्रम से झिरे हुए जल से व्याप्त होने पर उसके आश्रय से बैठे हुए मनुष्यों का विनाश अवश्यंभावी है और छिद्र के ढ़के रहने पर निरूपद्रव रूप से अभिलषित देशान्तर का प्राप्त होना अवश्यंभावी है उसी प्रकार कर्मागम के द्वार के ढ़के होने पर कल्याण का प्रतिबन्ध नहीं होता । इस प्रकार संवर में गुणों का चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है[191] ।

9. **निर्जरानुप्रेक्षा** - वेदना विपाक का नाम निर्जरा है । वह दो प्रकार की होती है। अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला । नरकादि गतियों में कर्मफल के विपाक से जायमान जो अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है वह अकुलानुबन्धा है तथा परिषह के जीतने पर जो निर्जरा होती है वह कुशलमूला निर्जरा है। वह शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा होती है । इस.प्रकार निर्जरानुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिन्तन करने वाले इसकी कर्म निर्जरा के लिए प्रवृत्ति होती है[192] ।

10. **लोकानुप्रेक्षा** - लोक की स्थिति अनादि अनन्त है । यह लोक अलोकाकाश के ठीक मध्य में स्थित है । इस लोक के भीतर छह काय के जीव निरन्तर दु:ख भोगते रहते हैं ऐसा चिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है[193] ।

11. **बोधि दुर्लभानुप्रेक्षा** - प्रथम तो निगोद से निकलकर अन्य स्थावरों में उत्पन्न होना दुर्लभ है फिर त्रसपर्याय पाना दुर्लभ है, त्रससों में भी इन्द्रियों की पूर्णता होना दुर्लभ है. और इन्द्रियों

की पूर्णता होने पर भी समीचीन धर्म जिसका लक्षण है एवं उत्तम समाधि का प्राप्त होना जिसका फल है ऐसी बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है[194] । इस प्रकार बोधि प्राप्ति की दुर्लभता का विचार बोधि दुर्लभानुप्रेक्षा है ।

12. धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा - जिनेन्द्र देव ने यह जो अहिंसालक्षण धर्म कहा है, सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्य से रक्षित है, उपशम की उसमें प्रधानता है । नियति उसका लक्षण है, परिग्रह रहितपना उसका आलम्बन है । इसकी प्राप्ति नहीं होने से दुष्कर्म के विपाक से जायमान दुख को अनुभव करते हुए ये जीव आदि संसार में परिभ्रमण करते हैं । परन्तु इसका लाभ होने पर नाना प्रकार के अभ्युदयों की प्राप्ति पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होना निश्चित है ऐसा चिन्तन करना धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस जीव के धर्मानुराग वश उसकी प्राप्ति के लिए सदा यत्न होता है[195] ।

दशलक्षण धर्म

दुखदायक अथवा दुर्निवार क्रोध की उत्पत्ति के कारणों के उपस्थित होने पर भी सांसारिक लाभ आदि की उपेक्षा न करके शुद्ध ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति के लिए साधु जो क्षमा, मार्दव आदि आत्म परिणामों को तत्काल अपनाता है उसे सर्वज्ञ देव ने सच्चा धर्म कहा है। उस धर्म के दस रूप हैं[196] । उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य।

उत्तम क्षमा - क्रोध की उत्पत्ति के निमित्त मिलने पर भी मन में कलुषता का उत्पन्न न होना क्षमा है[197] । देव मनुष्य की तिर्यञ्चों के द्वारा घोर उपसर्ग किये जाने पर भी जो मुनि क्रोध से संतप्त नहीं होता, उसके निर्मल क्षमा होती है[198] । मुझ अज्ञानी ने उसी जन्म में या पूर्व जन्म में इस जीव का उपकार करते हुए जो अवश्य भोग्य पापकर्म का बन्ध किया था उस कर्म की परवशता के कारण वह उपकार कर्ता मुझ अपराधी को बहुत गाली देता है या चाबुक से मारता है या मेरे प्राण का हरण करता है तो उसे कौन रोक सकता है अथवा माध्यस्थ्य भाव पूर्वक मुझे उस अवश्य भोग्य कर्म को इसी भव में भोगना योग्य है, क्योंकि किया हुआ अच्छा या बुरा कर्म अवश्य भोगना होता है । इस प्रकार साधु को मन, वचन, काय से क्षमा की भावना करनी चाहिए ।

उत्तम मार्दव - उत्कृष्ट ज्ञानी और उत्कृष्ट तपस्वी होते हुए भी जो मद नहीं करता वह मार्दव रूपी रत्न का धारी है[199] । उत्तम जाति कुल, बल, ज्ञान इत्यादि के अभिमान का त्याग सो मार्दव है । यह मार्दव धर्म का अंग है जो अपनी सम्यग्ज्ञान रूपी दृष्टि से समस्त जगत को स्वप्न तथा इन्द्र जाल की भाँति देखते हैं वे उत्तम मादर्व धर्म को धारण क्यों नहीं करेंगे ? अर्थात् अवश्य ही धारण करते हैं[200] ।

उत्तम आर्जव - मुनि कुटिल विचार नहीं करता । कुटिल कार्य नहीं करता और कुटिल बात नहीं बोलता, तथा अपना दोष नहीं छिपाता, उसके आर्जव धर्म होता है[201] । जो विचार हृदय में स्थित है वही वचन में रहता है तथा वही बाहिर फलता है अर्थात् शरीर से भी तदनुसार ही कार्य किया जाता है, यह आर्जव धर्म है । इसके विपरीत दूसरों को धोखा देना यह अधर्म है । ये दोनों यहाँ क्रम से देवगति और नरक गति के कारण हैं[202]।

उत्तम सत्य - जैन शास्त्रों में कहे हुए आचार को पालने में असमर्थ होते हुए भी जो जिन वचन का ही कथन करता है उसके विपरीत कथन नहीं करता, तथा जो व्यवहार में झूठ नहीं बोलता, वह सत्यवादी है[203] । चूँकि सत्य वचन स्थिति होने पर ही व्रत होते हैं इसलिए सज्जन पुरुष जगतपूज्य

उस सत्य वचन की आराधना करते हैं[204]। सत्य वचन बोलने वाला प्राणी समयानुसार परलोक में उत्तम राज्य देव पर्याय एवं संसार रूपी नदी के पार की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष पद प्रमुख फल को पावेगा यह तो दूर ही रहे। किन्तु वह उसी भव में जो चन्द्रमा के समान निर्मल यश सज्जन पुरुषों में प्रतिष्ठा और साधुपने को प्राप्त करता है उसका वर्णन कौन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं[205]। सत्य वचन के दस भेद हैं[206] - नाम सत्य, रूप सत्य, स्थापना सत्य, प्रतीत्य सत्य, संवृत्ति सत्य, संयोजना सत्य, जनपद सत्य, देश सत्य, भाव सत्य, और समय सत्य।

1. **नाम सत्य** - सचेतन अथवा अचेतन वस्तु मे नाम के अनुरूप गुणों के न होने पर भी लोक व्यवहार के लिए जो इच्छानुसार नाम की प्रवृत्ति की जाती है उसे नाम सत्य कहते हैं जैसे कि मनुष्य अपने बच्चों का इन्द्र आदि नाम रख लेते हैं।

2. **रूप सत्य** - मूल वस्तु के न होते हुए भी वैसा रूप होने से जो व्यवहार किया जाता है उसे रूप सत्य कहते हैं। जैसे पुरुष के चित्र में पुरुष के चैतन्य आदि धर्मों के न होने पर भी पुरुष की तरह उसका रूप होने से चित्र को पुरुष कहते हैं।

3. **स्थापना सत्य** - मूल वस्तु के न होते हुए भी प्रयोजन वश जो किसी वस्तु में किसी की स्थापना की जाती है उसे स्थापना सत्य कहते हैं। जैसे पाषाण की मूर्ति में चन्द्रप्रभू की स्थापना की जाती है।

4. **प्रतीत्य सत्य** - एक दूसरे की उपेक्षा से जो वचन कहा जाता है वह प्रतीत्य सत्य है जैसे अमुक मनुष्य लम्बा है।

5. **संवृत्ति सत्य** - जो वचन लोक में प्रचलित व्यवहार के आश्रय से कहा जाता है वह संवृत्ति सत्य है। जैसे पृथ्वी आदि अनेक कारणों से उत्पन्न होने पर भी कमल को पंकज (कीचड़ से पैदा होने वाला) कहा जाता है।

6. **संयोजना सत्य** - चूर्ण वगैरह से जो माण्डना बगैरह की स्थापना की जाती है उसमें जो यह कहा जाता है कि यह अमुक द्वीप है, यह अमुक जिनालय, इसे संयोजना सत्य कहते हैं।

7. **जनपद सत्य** - जिस देश की जो भाषा, हो वैसा ही कहना जनपद सत्य है।

8. **देश सत्य** - ग्राम नगर आदि का कथन करने वाले वचन को देश सत्य कहते हैं। जैसे कि जिसके चारों और बाढ़ हो वह गाँव है।

9. **भाव सत्य** - छद्मस्थ का ज्ञान वस्तु का यथार्थ दर्शन करने में असमर्थ होता है फिर भी श्रावक अथवा मुनि अपना धर्म पालने के लिए जो प्रासुक और अप्रासुक का व्यवहार करते हैं, वह भाव सत्य है।

10. **समय सत्य** - जो वस्तु आगम का विषय है, उसे आगम के अनुसार ही कहना समय सत्य है, जैसे कि पल्य और सागर वगैरह के प्रमाण का कथन करना।

उत्तम शौच - जो समभाव और सन्तोष रूपी जल से तृष्णा और लोभ रूपी मल के समूह को धोता है तथा भोजन की गृद्धि नहीं करता उसके निर्मल शौच धर्म होता है[207]। चित्त जो परस्त्री और परधन की अभिलाषा न करता हुआ षट्काय जीवों की हिंसा से रहित हो जाता है, उसे ही दुर्भेद्य अभ्यन्तर कलुषता को दूर करने वाला उत्तम शौच धर्म कहा जाता है[208]।

उत्तम संयम - जीव की रक्षा करने में तत्पर जो मुनि गमन, आगमन आदि सब कार्यों में तृण का भी छेद नहीं करना चाहता, उस मुनि के संयम धर्म होता है[209]। जिनका मन जीवानुकम्पा से भीग रहा है तथा जो ईर्या, भाषा आदि पाँच समितियों में प्रवर्तमान हैं ऐसे साधु के द्वारा जो षटकाय जीवों की रक्षा और अपनी इन्द्रियों का दमन किया जाता है उसे गणधरादि महामुनि संयम कहते हैं[210]।

उत्तम तप - जो समभावी इस लोक और परलोक के सुख की अपेक्षा न करके अनेक प्रकार का काय क्लेश करता है उसके निर्मल तप धर्म होता है[211] । सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्र को धारण करने वाले साधु के द्वारा जो कर्मरूपी मैल को दूर करने के लिए तपा जाता है उसे तप कहा गया है। वह वाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का तथा अनशनादि के भेद से बारह प्रकार का है। यह तप जन्म रूपी समुद्र के पार होने के लिए जहाज के समान है[212] ।

उत्तम त्याग - जो मिष्ट भोजन को, राग द्वेष को उत्पन्न करने वाले उपकरणों को तथा ममत्व भाव के उत्पन्न होने में निमित्त वसति को छोड़ देता है, उस मुनि के त्याग धर्म होता है[213] । परिग्रह राग आदि दोषों का प्रधान कारण है । इसलिए शक्ति के अनुसार उससे सदा के लिए जो निवृत्ति रूप परिणाम है उसे त्याग कहते हैं । अथवा ज्ञान आदि के दान को त्याग कहते हैं । सब गुणों में प्रधान है । साधुओं को उसका पालन करना चाहिए[214] ।

उत्तम आकिंचन्य - जो लोक व्यवहार से विरक्त मुनि चेतन और अचेतन परिग्रह को मन, वचन, काय से सर्वथा छोड़ देता है उसके निर्ग्रन्थपना अथवा आकिंचन्य धर्म होता है[215] ।

उत्तम ब्रह्मचर्य - जो मुनि स्त्रियों के संग से बचता है, उनके रूप को नहीं देखता, काम की कथा आदि नहीं करता, उसके नवधा ब्रह्मचर्य होता है[216] । जो तीव्र दुखों के समूह रूप भार से रहित है, जिसके प्रभाव से प्राणी मृत्तिकापिण्ड के समान घूमते हैं तथा जो बहुत विकार रुपी भ्रम को करने वाला है, ऐसा यह संसार रूपी चक्र जिन स्त्रियों के आश्रय से शीघ्र चलता है, उन हरिण के समान नेत्रवाली स्त्रियों को उपशान्त कर देने वाला मोक्ष का अभिलाषी निर्मल बुद्धि मुनि सदा बहिन, बेटी और माता के समान देखें । यही उत्तम ब्रह्मचर्य का स्वरूप है[217] ।

चारित्र

चारित्र के सामायिक, क्षेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात ये पाँच भेद है[218] ।

सामायिक - सब पदार्थों में समता भाव रखना तथा सब प्रकार के सावद्य योग का पूर्ण त्याग करना सामायिक चारित्र है[219] ।

छेदोपस्थापना - अपने प्रमाद के द्वारा किये हुए अनर्थ का सम्बन्ध दूर करने के लिए जो समीचीन प्रतिक्रिया होती है, वह छेदोपस्थापना चारित्र है[220] ।

परिहार विशुद्धि - जिसमें जीव हिंसा के परिहार से विशिष्ट शुद्धि होती है वह परिहार विशुद्धि नाम का चारित्र है[221] ।

सूक्ष्म साम्पराय - साम्पराय कषाय को कहते हैं । ये कषाय जिसमें अत्यन्त सूक्ष्म रह जाती है वह पाप को दूर करने वाला सूक्ष्म साम्पराय का चारित्र है[222] ।

यथाख्यात - जहाँ समस्त मोहकर्म का उपशम अथवा क्षय हो चुकता है, उसे यथाख्यात अथवा अथाख्यात चारित्र कहते हैं[223] ।

सामाचारी

प्रतिदिन साधु को जिस प्रकार का आचरण करना पड़ता है उसे "सामाचारी" कहा गया है । सामाचारी शब्द का सामान्य अर्थ है- सम्यक्चर्या का आचरण । ग्रन्थ में सामाचारी के दस अङ्ग बतलाये गये हैं जिनका पालन करने से साधु संसार रूपी समुद्र से पार उतर जाता है[224] ।

सामाचारी के दस अङ्ग - संसार रूपी समुद्र से पार उतारने वाली सामाचारी के दस अङ्ग इस प्रकार हैं -

1. आवश्यकी - निवास स्थान (उपाश्रय) से बाहर जाते समय आवश्यक कार्य से बाहर जा रहा हूँ एतदर्थ "आवस्सही" ऐसा कहना ।

2. नैषेधिकी - बाहर से उपाश्रय के अन्दर आते समय "नि:सही" ऐसा कहना ।

3. आपृच्छना - गुरु आदि से अपना कार्य करने के लिए पूछना या आज्ञा लेना ।

4. प्रतिपृच्छना - दूसरे के कार्य के लिए गुरु से पूछना ।

5. छन्दना - भिक्षा के द्वारा प्राप्त द्रव्य साधर्मियों को देने के लिए आमन्त्रित करना।

6. इच्छाचार - गुरु आदि की इच्छा को जानकर तदनुकूल कार्य करना ।

7. मिथ्याकार - कोई अपराध हो जाने पर अपनी निन्दा करना ।

8. तथाकार- गुरु के वचनों को सुनकर "तहत्ति" (जैसी आपकी आज्ञा) ऐसा कहकर आदेश को स्वीकार करना ।

9. अभ्युत्थान - सेवायोग्य गुरु आदि की सेवा-शुश्रुषा करना ।

10. उपसम्पादा - ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए किसी अन्य गुरु की शरण में जाना।

वट्टकेरकृत दिगम्बर ग्रन्थ मूलाचार में तथा श्वेताम्बर ग्रन्थ भगवतीसूत्र में भी इन्हीं दस अवयवों वाली सामाचारी का वर्णन मिलता है[225] ।

साधु की दिनचर्या

जैन ग्रन्थों में साधु की चर्या इस प्रकार बतलाई गई है । सूर्योदय होने पर देव-वन्दना करते हैं । दो घड़ी बीतने पर श्रुतभक्ति और देवभक्तिपूर्वक स्वाध्याय करते हैं । जब मध्यान्ह काल प्राप्त होने में दो घड़ी समय शेष रहता है, तब श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्याय समाप्त करते हैं । फिर अपने ठहरने के स्थान से दूर जाकर शौच आदि करते हैं । फिर हाथ पैर धोकर कमण्डलु और पीछी लेकर मध्याह्नकालीन देव-वन्दना करते हैं । फिर पेट भरे बालकों तथा भिक्षा भोजन करने वाले लिंगियों को देखकर भिक्षा का समय जान, जब गृहस्थों के घर से धुआँ निकलता नहीं दिखाई देता तथा कुटने-पीसने का शब्द सुनाई नहीं देता तब गोचरी के लिए निकलते हैं । जाते हुए न अति तीव्र गमन करते हैं, न मन्द गमन करते हैं न रूक रूककर गमन करते हैं । गरीब और अमीर घरों का विचार नहीं करते । मार्ग में न किसी से बात करते हैं, और न कहीं ठहरते हैं । हँसी आदि नहीं करते । नीच कुलों में नहीं जाते । सूतक आदि दोष से दूषित शुद्ध कुलों में भी नहीं जाते । द्वारपाल आदि के द्वारा निषद्ध घरों में नहीं जाते । जहाँ तक भिक्षार्थी जा सकते हैं वहीं तक जाते हैं । विरोध वाले स्थानों में भी नहीं जाते । दुष्ट गधे, ऊँट, बैल, हाथी, सर्प आदि को दूर से ही बचा जाते हैं । मत्तोन्मत्तो के निकट में नही जाते । स्थान, विलेपन आदि करती स्त्रियों की ओर नहीं देखते । विनयपूर्वक प्रार्थना किये जाने पर ठहरते हैं । सम्यक् विधिपूर्वक दिये गये प्रासुक आहार को सिद्धभक्तिपूर्वक ग्रहण करते हैं । पाणिरूपी पात्र को छेद रहित करके नाभि के पास रखते हैं। हाथरूपी पात्र में से भोजन नीचे गिराकर शुर-शुर आदि शब्द न करते हुए भोजन करते हैं । स्त्रियों की ओर किंचित भी नहीं ताकते । इस प्रकार भोजन कर मुख, हाथ, पैर धौकर शुद्ध जल से भरे कमण्डलु को लेकर चले जाते हैं। धर्म कार्य के बिना किसी के घर नहीं जाते । फिर जिनालय आदि में जाकर प्रत्याख्यान ग्रहण करके प्रतिक्रमण करते हैं[226] ।

दस कल्प

मूलाचार के समयसाराधिकार में तथा भगवती आराधना में साधु के दस कल्प बतलाये गये हैं - 1- आचेलक्य, 2- औद्देशिक का त्याग, 3- शययाधर का त्याग, 4- राजपिंड का त्याग, 5- कृतिकर्म, 6- व्रत, 7- ज्येष्ठता, 7- प्रतिक्रमण, 9- मास, तथा 10- पर्युषणा[227]।

1. **आचेलक्य** - चेल वस्त्र को कहते हैं, चेल का ग्रहण परिग्रह का उपलक्षण है तथा समस्त परिग्रह के त्याग को आचेलक्य कहते हैं[228]।

2. **औद्देशिक का त्याग** - श्रमणों के उद्देशय से बनाये गये भोजनादि को औद्देशिक कहते हैं। अध: कर्म आदि के भेद से उसके सोलह प्रकार हैं। उसका त्याग दूसरा स्थिति कल्प है[229]।

3. शय्याधर का त्याग - शय्याधर शब्द से तीन कहे जाते हैं। जो वसति बनाता है, दूसरे के द्वारा बनाई गई वसति के टूटने पर या उसका एक हिस्सा गिर जाने पर जो उसकी मरम्मत करता है अथवा नहीं करता है, न मरम्मत कराता है। केवल देता है कि यहाँ ठहरिये, उनका पिंड अर्थात् भोजन, उपकरण अथवा प्रतिलेखना आदि शययाधर पिंड कहलाता है। उनका त्याग तीसरा स्थिति कल्प है। शय्याधर का पिंड ग्रहण करने पर वह धर्म के फल के लोभ से छिपाकर आहार आदि की योजना कर सकता है अथवा जो दरिद्र या लोभी होने से आहार देने में असमर्थ है वह ठहरने का स्थान नहीं देगा, क्योंकि वसति में ठहरा कर आहार न देने पर मेरी निन्दा करेंगे कि इसकी वसति में यतिगण ठहरें हैं और इस अभागे ने उन्हें आहार नहीं दिया तथा आहार और वसति देने वाले पर यति का स्नेह हो सकता है कि इसने हमारा बहुत उपकार किया है, किन्तु शय्याधर का आहार ग्रहण न करने पर उक्त दोष नहीं होते[230]।

राजपिण्ड का ग्रहण न करना - राजपिण्ड का ग्रहण न करना चतुर्थ स्थितिकल्प है। राज शब्द से इच्छवाकु आदिकुल में उत्पन्न लोगों का ग्रहण किया जाता है जो "राजते" शोभित होता है या जनता का रंजन करता है वह राजा है। राजा के समान सम्पतिशाली भी राजा कहलाता है। उसका पिण्ड अर्थात् जिस पिण्ड का वह स्वामी होता है वह राजपिण्ड है। उसके तीन भेद हैं- आहार, अनाहार और उपाधि। अशन आदि के भेद से आहार के चार भेद हैं तृणों का फलक, आसन आदि अनाहार है। प्रतिलेखन, वस्त्र पात्र को उपाधि कहते हैं। कोई ऐसा कारण उपस्थित हो कि साधु का मरण बिना भोजन के होता हो और साधु के मरने से श्रुत का विच्छेद होता हो तो राजपिण्ड ले सकते हैं कि श्रुत का विच्छेद न हो। भगवती अराधना की विजयोदया टीका में यह भी बतलाया गया है कि राजपिण्ड के लेने में क्या दोष हैं[231] ?

5. **कृतिकर्म** - चारित्र में स्थित साधु के द्वारा भी महान् गुरुओं की विनय अथवा सेवा करना पाचवाँ कृतिकर्म नामक स्थिति कल्प है[232]।

6. **व्रत** - जीवों के भेद प्रभेदों को जानने वाले को ही विनय से व्रत देना चाहिए। यह छठा स्थितिकल्प है[233]। कहा भी है - जो अचेलकपने में स्थित है, उद्दिष्ट आदि दोषों का सेवन नहीं करता, गुरु का भक्त और विनीत है वह सदा व्रतों को धारण करने का पात्र होता है[234]। व्रत देने का क्रम यह है - विरत स्त्रियाँ और श्रावक वर्ग को अपने सामने स्थित करके और विरत पुरुषों को अपने बाम भाग में स्थापित करके गणी व्रत प्रदान करें, इस प्रकार जानकर तथा श्रद्धा करके पापों से विरत होना व्रत है। वृत्ति करण, छादन, संवर और विरति ये सब शब्द एकार्थक हैं। जानकर और स्वीकार करके पापों से विरत होना व्रत है[235]।

7. **ज्येष्ठता** - चिरकाल से दीक्षित और पाँच महाव्रतों की धारी आर्यिका से तत्काल दीक्षित भी पुरुष ज्येष्ठ होता है। इस प्रकार की ज्येष्ठता सातवाँ स्थिति कल्प है। पुरुषत्व कहते हैं- संग्रह, उपकार, और रक्षा करने में समर्थ होना। धर्म पुरुष के द्वारा कहा गया है, इसलिए पुरुष की ज्येष्ठता है। इसलिए सब आर्यिकाओं को साधु की विनय करनी चाहिए। चूँकि स्त्रियाँ लघु होती हैं, पर के द्वारा प्रार्थना किये जाने योग्य होती हैं, दूसरे से अपनी रक्षा की अपेक्षा करती हैं, पुरुष ऐसे नहीं

होते, इसलिए पुरुष की ज्येष्ठता है[236]।

8. प्रतिक्रमण - अचेलता आदि कल्प में स्थित साधु के अतिचार लगता है तो उसे प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह आठवाँ स्थिति कल्प है[237]।

9. मास - छह ऋतुओं में एक-एक महीना ही एक स्थान पर रहना और अन्य समय में विहार करना नवम स्थिति कल्प है। एक स्थान में चिरकाल ठहरने पर नित्य ही उद्गम दोष लगता है। उसे टाला नहीं जा सकता तथा एक ही स्थान में बहुत समय तक रहने से क्षेत्र बँध जाने का सुख शीलता, आलसीपन, सुकुमारता, की भावना तथा जाने हुए से भिक्षा ग्रहण करने के दोष लगते है[238]।

10- पर्युषण - पज्जोसमण नामक दसवाँ कल्प है। उसका अभिप्राय है वर्षाकाल के चार मासों में भ्रमण त्यागकर एक ही स्थान पर निवास करना। उस काल में पृथ्वी स्थावर और संयम जीवों से व्याप्त रहती है। उस समय भ्रमण करने पर महान् असंयम होता है तथा वर्षा और शीत वायु के बहने से आत्मा की विराधना होती है। वापी आदि में गिरने का भय रहता है। जलादि में छिपे हुए ढूँढ कष्टक आदि से अथवा जल कीचड़ आदि से कष्ट पहुँचता है। इसलिए एक सौ बीस दिन तक एक स्थान पर रहना उत्सर्गरूप नियम है। कारण वश कम या अधिक दिन भी ठहरते हैं। आषाढ़ शुक्ला दशमी को ठहरने वाले साधु आगे कार्तिक की पूर्णमासी के पश्चात् तीस दिन ठहर सकते हैं। वर्षा की अधिकता, शास्त्र पठन, शक्ति का अभाव वैयावृत्य करने के उद्देश्य से एक स्थान का यह उत्कृष्ट काल है। इस बीच में यदि मरी रोग फैल जाये, दुर्भिक्ष पड़ जाये या गच्छ का विनाश होने के निमित्त मिल जाये तो देशान्तर चले जाते हैं क्योंकि वहाँ ठहरने पर भविष्य में रत्नत्रय की विराधना हो सकती है[239]।

सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र - जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता अर्थात् श्रद्धान करता है वह दर्शन कहा गया है तथा ज्ञान और दर्शन के संयोग से चारित्र होता है[240]। जीव के ये ज्ञानादिक तीनों भाव अक्षय तथा अमेय होते हैं। इन तीनों की शुद्धि के लिए जिनेन्द्र भगवान ने दो प्रकार का चारित्र कहा है[241]। इनमें पहला सम्यक्त्व के आचरण रूप चारित्र है जो जिनेन्द्र भासित ज्ञान और दर्शन से शुद्ध है तथा दूसरा संयम के आचरण रूप चारित्र है वह भी जिनेन्द्र भगवान् के ज्ञान से उपदेशित तथा शुद्ध है[242]। मोक्ष की प्राप्ति के लिए निःशङ्कित आदि गुणों से युक्त विशुद्ध सम्यग्दर्शन का सम्यक्ज्ञान पूर्वक पालन करना सम्यक्त्व चरण चारित्र है। यह सम्यक्त्वचरण चारित्र वात्सल्य, विनय, अनुकम्पा, दानवृत्ति, मोक्षमार्ग के गुणों की प्रशंसा, उपगूहन, रक्षण, आर्जव आदि भावों से पहचाना जाता है, दूसरा संयमाचरण चारित्र सागार और अनगार के भेद से दो प्रकार का है। सागार या गृहस्थ सम्बन्धी चारित्र के दर्शनिक आदि ग्यारह भेद हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने उनका स्वरूप नहीं कहा, केवल पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों के नाम बतलाये हैं। श्रावक का मूल धर्म ये बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमायें हैं। श्रावकाचारों में इनके बाह्य रूप का ही वर्णन मिलता है। पं. आशाधर जी ने अवश्य बाह्याचरण के साथ अन्तरङ्ग रूप को भी लिया है। यथा -

> रागादिक्षयतारतम्य विकसच्छुद्धात्मसंवित्सुखं
> स्वादात्मस्वबहिर्बहिस्त्रसवधाद्यं हो व्यपोहात्मसु ।
> सद्दृक दर्शनिकादिदेशविरति स्थानेषु चैकादश -
> स्वेकंयः श्रयते यतिव्रतरतस्तं श्रद्दधे श्रावकम् ॥
> सागार धर्मामृत 16 ॥

इसमें कहा गया है कि श्रावक के ग्यारह स्थानों का अन्तरङ्ग रूप है। राग, द्वेष मोह के क्षयोपशम की हीनाधिकता से प्रकट हुई निर्मल चिद्रूप की अनुभूति से उत्पन्न सुख का स्वाद और बाह्य रूप है । त्रसहिंसा आदि पापों का त्याग ।

बाह्य वस्तु के त्याग का भी अन्तरङ्ग शुद्धि के साथ निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध है । अन्तरङ्ग की भावना से प्रेरित होकर मनुष्य ही बाह्य विषयों का त्याग किया जाता है और बाह्य विषयों के त्याग से अन्तरङ्ग शुद्धि में निर्मलता आती है । ज्यों-ज्यों मनुष्य में रागभाव की मन्दता होती है, त्यों- त्यों उसकी बाह्य विषयों से विरक्ति होती जाती है और ज्यों-ज्यों विरक्ति बढ़ती जाती है त्यों-त्यों राग की मन्दता होती जाती है । ऐसा नहीं है कि अन्तरङ्ग में राग घट जाये और बाह्य व्यापार न घटे, बाह्य व्यापार का अन्तरङ्ग वृत्ति घनिष्ट सम्बन्ध रहता है । इसी से रागी की प्रवृत्ति व्रत ग्रहण की ओर नहीं होती[243] ।

व्यवहारनय मुनि और श्रावक के लिङ्ग को मोक्षमार्ग मानता है, निश्चयनय नहीं - आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा है कि बहुत प्रकार के पाखण्ड लिङ्गों अथवा गृहस्थ लिङ्गों को ग्रहण कर मूढ़ जन ऐसा कहते हैं कि यह लिङ्ग मोक्ष का मार्ग है, परन्तु लिङ्ग मोक्ष का मार्ग नहीं है, क्योंकि अर्हन्त देव भी देह से निर्ममत्व हो तथा लिङ्ग छोड़कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की सेवा करते हैं[244] । अतः तू मोक्षमार्ग में आत्मा को लगा, उसी का ध्यान कर, उसी का चिन्तन कर, उसी में नित्य विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर । जो बहुत प्रकार के पाखण्डि लिङ्गों और गृहस्थ लिङ्गों में ममता करते हैं, उन्होंने समयसार को नहीं जाना है[245]। व्यवहार नय तो मुनि और श्रावक के भेद से दोनों ही प्रकार के लिङ्गों को मोक्ष मार्ग कहता है, परन्तु निश्चय नय सभी लिङ्गों को मोक्षमार्ग में इष्ट नहीं करता[246] ।

वन्दनीय कौन – जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप तथा विनय में निरन्तर लीन रहते हैं और गुणों के धारक आचार्य आदि का गुणगान कर रहे हैं वे वन्दना करने योग्य है[247] । असंयमी की वन्दना नहीं करनी चाहिए । भाव संयम से रहित बाह्य नग्न रूप को धारण करने वाला भी वन्दनीय नहीं है, क्योंकि वे दोनों ही समान हैं, उनमें एक भी संयमी नहीं है[248] ।

चारित्र से हीन ज्ञान और दर्शन - कोई साधु चारित्र रहित ज्ञान का सम्यग्दर्शन रहित लिङ्ग का और संयम रहित तप का आचरण करता है तो उसका यह सब आचरण निरर्थक है[249] । चारित्र के शुद्ध, ज्ञान, दर्शन से शुद्ध लिङ्ग धारण और संयम से सहित तप थोड़ा भी हो तो वह महाफल से युक्त होता है । जो पुरुष ज्ञान को जानकर भी विषयादिक रूप भाव में आसक्त रहते हैं, वे विषयों में मोहित रहने वाले मूर्ख प्राणी चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करते हैं[250] ।

मुनि का युक्ताहार विहारत्व - प्रवचन सार में कहा गया है - इस लोक में निरपेक्ष और पर लोक की आकांक्षा से रहित साधु कषाय रहित होता हुआ, योग्य आहार विहार करने वाला हो, मुनि की आत्मा परद्रव्य काग्रहण न करने से निराहार स्वभाव वाली है, वही उनका अन्तरङ्ग तप है । मुनि निरन्तर उसी अन्तरङ्ग तप की इच्छा करते हैं और एषणा के दोषों से रहित जो भिक्षावृत्ति करते हैं उसे सदा अन्य अर्थात् भिन्न समझते हैं, इसलिए वे आहार ग्रहण करते हुए भी निराहार हैं[251] । श्रमण केवल शरीर रूप परिग्रह से युक्त होता है, शरीर में भी "यह मेरा नहीं है", ऐसा विचार कर सजावट से रहित होता है और अपनी शक्ति को न छुपाकर उसे तप से युक्त करता है[252] । मुनि का वह भोजन निश्चय से एक बार होता है, अपूर्ण उदर (खाली पेट) होता है । सरस-नीरस जैसा मिल जाता है, वैसा ही ग्रहण किया जाता है, भिक्षावृत्ति से प्राप्त होता है, दिन में ही लिया जाता है, रस की अपेक्षा से रहित होता है और मधु मांस रूप नहीं होता है[253] ।

उत्सर्गमार्ग और अपवाद मार्ग - जो मुनि बालक है अथवा वृद्ध है अथवा तपस्या या मार्ग से श्रम से खिन्न है अथवा रोगादि से पीड़ित है, वह अपने योग्य इस प्रकार चर्या का आचरण कर सकता है, जिस प्रकार की मूल संयम का घात न हो[254]। संयम का साधन शुद्ध आत्मत्व ही है शरीर नहीं है, ऐसा विचार कर शरीर रक्षा की और दृष्टि न डाल बालक, वृद्ध, श्रान्त अथवा ग्लान मुनि को भी स्वस्थ, तरूण तपस्वी के समान कठोर आचरण करना चाहिए, यह उत्सर्ग मार्ग है और शरीर भी संयम का साधन है, क्योंकि मनुष्य शरीर के नष्ट होने पर देवादि के शरीर से संयम धारण नहीं किया जा सकता, ऐसा विचार कर शरीर रक्षा की ओर दृष्टि डाल बालक, वृद्ध, श्रान्त अथवा ग्लान मुनि मूल संयम का घात न करके कोमल आचरण कर सकते हैं यह अपवाद मार्ग हैं। आचार्य कुन्दकुन्द यहाँ प्रकट कर रहे हैं कि उक्त दोनों ही मार्ग परस्पर में सापेक्ष हैं। आचरण में शिथिलता न आ जावे इसलिए उत्सर्ग मार्ग को धारण करना चाहिए और असमय में शरीर नष्ट न हो जाये इसलिए मूल संयम की विराधना न करते हुए अपवाद मार्ग भी धारण करना चाहिए, क्योंकि किसी एक मार्ग में आलम्बन में संयम की सिद्धि नहीं हो सकती[255]।

मुनि देश, काल, श्रम, सहनशक्ति और शरीर रूप परिग्रह को अच्छी तरह जान कर आहार तथा विहार में प्रवृत्ति करता है। यद्यपि ऐसा करने से उसके अल्प कर्मबन्ध होता है, तो भी वह आहारादि में उक्त प्रकार से प्रवृत्ति करता है[256]। आहारादि के ग्रहण में अल्प कर्म बन्ध होता है इस भय से जो अत्यन्त कठोर आचरण के द्वारा शरीर को नष्ट कर देते हैं वे देव पर्याय में पहुँचकर असंयमी हो जाते हैं। और संयम के अभाव में उनके अधिक कर्मबन्ध होने लगता है, इस प्रकार अपवाद मार्ग का विरोध कर केवल उत्सर्ग मार्ग के अपनाने से चारित्रगुण का घात होता है। इसी प्रकार कोई शिथिलाचारी मुनि आहार-विहार में प्रवृत्ति करते हुए शुद्धात्म भावना की उपेक्षा कर देते हैं। उनके ऐसा करने से अधिक कर्मबन्ध होने लगता है। इस प्रकार उत्सर्ग मार्ग का विरोध कर अपवाद मार्ग के अपनाने से चारित्र गुण का घात होता है। अत: उसकी स्थिरता रखने वाले मुनियों को उक्त दोनों मार्गों में निर्विरोध प्रवृत्ति करना चाहिए[257]।

सल्लेखना

भगवती आराधना में सल्लेखना के दो भेद कहे गए हैं - बाह्य सल्लेखना और अभ्यन्तर सल्लेखना अभ्यन्तर सल्लेखना क्रोधादि कषाय की होती है, बाह्य सल्लेखना शरीर के विषय में होती है[258]।

बाह्य सल्लेखना - बाह्य सल्लेखना में बल को बढ़ाने वाले सब रसों का त्यागकर प्राप्त हुए रूखे आहार से कोई एक नियम विशेष लेकर अपने शरीर को क्रम से कृश करता है[259]। इसमें अनशनादि 6 बाह्य तप किये जाते हैं[260]। उद्गम, उत्पादन और एषणा दोष से रहित भोजन और पान से और परिमित, लघु, रसरहित औह रुक्ष भोजन पान से यह बाह्य तप नित्य यति करता है[261]। क्रम से आहार को कम करते हुए शरीर कृश करता है और एक दिन ग्रहण किये तप से, एक दिन अनशन, एक दिन वृत्ति परिसंख्यान, इस प्रकार सल्लेखना को करता है[262]। नाना प्रकार के रस रहित भोजन, अल्पभोजन, सूखा भोजन, आचाम्ल भोजन आदि से नाना प्रकार के उग्र नियमों से दोनों प्रकार के संयमों को नष्ट न करता हुआ यति अपने बल के अनुसार देह को कृष करता है[263]। शरीर की सल्लेखना के उपायों में आचाम्ल को उत्कृष्ट कहा है। उत्कृष्ट दो दिन, तीन दिन, चार दिन और पाँच दिन के उपवास के बाद अधिकतर परिमित और लघु आहार आचाम्ल को करते हैं[264]। यदि आयु का काल अधिक हो तो जिन भगवान् ने उत्कृष्ट से भक्त प्रत्याख्यान[265] का काल पूर्ण बारह वर्ष का कहा है। उक्त बारह वर्ष में ऐसा करना चाहिए - नाना प्रकार के

कायक्लेशों के द्वारा चार वर्ष बिताता है । दूध आदि रसों को त्यागकर फिर भी चार वर्ष तक शरीर को सुखाता है[266]। आचाम्ल और निर्विकृति के द्वारा दो वर्ष बिताता है । आचाम्ल के द्वारा एक वर्ष बिताता है। मध्यम तप के द्वारा शेष वर्ष के छह माह और उत्कृष्ट तप द्वारा शेष माह बिताता है[267]। शेष चार वर्षों में से दो वर्ष कांजी और रस व्यंजन आदि से रहित भात वगैरह खाकर बिताता है । एक वर्ष केवल कांजी आहार लेता है। अंतिम बारहवें वर्ष के प्रथम छह माह में मध्यम तप करता है । अन्तिम छह महीनों में उत्कृष्ट तप करता है[268] ।

आहार, क्षेत्र, काल, अपनी शारीरिक प्रकृति को विचार कर इस प्रकार तप करना चाहिए, जिस प्रकार वात, पित्त और कफ क्षोभ को न प्राप्त हो[269] ।

आहार के अनेक प्रकार हैं- शाक बहुल, रस बहुल, कुल्माषप्राय- जिसमें कुलथी अधिक हैं । कच्चे चने आदि से मिला आहार और शाक व्यंजन आदि से रहित आहार क्षेत्र भी अनेक प्रकार के हैं, जिसमें पानी की प्रचुरता है, वर्षा अधिक होती है, कहीं वर्षा कम होती है । काल गर्मी सर्दी और साधारण होता है । इन सबका तथा अपनी प्रकृतिका विचार करके तप करना चाहिए , जिससे स्वास्थ्य खराब न हो[270] ।

अभ्यन्तर सल्लेखना - नाना प्रकार की शरीर सल्लेखना को करते हुए भी परिणामों की विशुद्धि को सपक एक क्षण के लिए भी न छोड़े[271] । जिसका चित्त कषाय से दूषित है उसके परिणाम विशुद्धि नहीं होती, इसलिए परिणाम विशुद्धि को कषाय सल्लेखना कहा है[272] । कषाय के कृष हुए बिना परिणाम विशुद्ध नहीं होते । अत: परिणाम विशुद्धि के साथ कषाय सल्लेखना का साध्य, साधनभाव सम्बन्ध है । जो शुभ परिणामों के प्रवाह में बहता है, वही चार प्रकारों की सल्लेखना करता है[273] । क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से तथा लोभ को सन्तोष से इस प्रकार चारों ही कषायों को जीतो[274] । उस वस्तु को छोड़ देना चाहिए जिसको लेकर कषाय रूपी आग उत्पन्न होती है, और उस वस्तु को अपनाना चाहिए जिसके अपनाने से कषायों का उपशम हो । यदि थोड़ी भी कषाय रूप आग उठती है, तो उसे बुझा दे,जो कषाय को दूर करता है, उसके रागद्वेष की उत्पत्ति शान्त हो जाती है[275] । जितने भी परिग्रह राग द्वेष को उत्पन्न करते हैं, इन परिग्रहों को छोड़ने वाला अपरिग्रही साधु राग और द्वेष को निश्चय से जीतता है[276]। जलती हुई कषाय रूपी आग समस्त चारित्र नामक सार को जला देती है । सम्यक्त्व को भी नष्ट करके अनन्त संसार के परिभ्रमण में लगा देती है, इसलिए पाप रूप कषायाग्नि को उत्पन्न होते ही बुझा देनी चाहिए । उसको बुझाने का जल है- ''मैं भगवान जिनेन्द्र देव की शिक्षा की इच्छा करता हूँ, मेरा खोटा कर्म मिथ्या हो, मैं नमस्कार करता हूँ[277] ।'' इसी तरह उत्कृष्ट उपशम भाव के द्वारा नो कषाय संज्ञा, गौरव और अशुभ लेश्याओं को घटाना चाहिए । हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इन्हें नोकषाय कहते हैं । आहार भय मैथुन और परिग्रह की चाह का नाम संज्ञा है । ऋद्धि की तीव्र अभिलाषा, रस और सुख की चाह को गौरव कहते हैं[278] । जो प्रतिदिन अपने नियमों को बढ़ाता है, जिसकी बड़ी और छोटी शिरायें, दोनों और की हड्डियों और नेत्रों की हड्डियाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं । शरीर को सम्यक् रूप से कृश वाला वह यति नित्य आत्मा में लीन रहता है । उक्त क्रम के अनुसार अभ्यास करने वाला अभ्यन्तर सल्लेखना रहित बाह्य सल्लेखना आने पर संसार के त्याग का दृढ़ निश्चय करके सब तपों से उत्कृष्ट तप करता है[279] । अनन्तर वह बाल और वृद्ध मुनियों से भरे गण से मन, वचन, काय से क्षमा माँगता है । अनन्तर गण भी मन, वचन, काय से आचार्य से मन, वचन, काय से क्षमा माँगता है ।

इस प्रकार जैन ग्रन्थों में सम्यक् चारित्र का विशेष प्रतिपादन किया गया है ।

फुटनोट

1. प्रवचनसार गाथा 202
2. प्रवचनसार गाथा 203
3. प्रवचनसार गाथा 204
4. अनगार धर्मामृत पृ. 17
5. प्रवचनसार 208-209
6. भगवती आराधना 811-813
7. नियमसार 56
8. नियमसार गाथा 57
9. भगवती आराधना 818-819
10. वही 820-821
11. वही 822
12. वही 823-826
13. नियमसार 58
14 भगवती आराधना 847-850
15. भगवती आराधना टीका गाथा 850
16. नियमसार 59
17. भगवती आराधना टीका 872
18. वही 112-113
19. वही टीका गाथा 1113
20. वही 1114
21. भगवती आराधना टीका गाथा 114
22. वही 1116-1117
23. वही 1119
24. सर्वार्थसिद्धि व्याख्या 7/2
25. तत्वार्थ सूत्र 7/3
26. वही 7/4
27. वही 7/5
28. वही 7/6
29. सर्वार्थसिद्धि व्याख्या 7/6
30. तत्वार्थ सूत्र 7/7
31. वही 7/8
32. सर्वार्थसिद्धि व्याख्या 7/8
33. ज्ञानार्णव 18/1
34. तत्वार्थ सूत्र 9/5
35. धर्मामृत 4/164
36. भगवती आराधना गाथा 1185
37. वही 1185
38. अनगार धर्मामृत 4/165-166
39. वही 4/166
40. अनगार धर्मामृत 4/167
41. तत्त्वार्थभाष्य 9/5
42. अनगार धर्मामृत 4/168
43. भगवती आराधना गाथा 192
44. अनगार धर्मामृत 4/169
45. ज्ञानार्णव 20/1
46. वही 20/5-6
47. वही 20/1
48. वही 20/24
49. वही 20/37-38
50. भगवती आराधना गाथा 88-91 तक
51. वही 90
52. अनगार धर्मावृत 8/17
53. वही 8/19
54. अनगार धर्मामृत 8/20
55. मूलाचार गाथा 519
56. अनगार धर्मामृत 8/21
57. वही 8/22
58. वही 8/23
59. वही 8/24
60. वही 8/25
61. अनगार धर्मामृत 8/27-34
62. वही 8/35
63. अनगार धर्मामृत 8/36
64. भगवती आराधना गाथा 118
65. उत्तराध्ययन सूत्र 29/10
66. भगवती आराधना गाथा 118
67. वही गाथा 118
68. अनगार धर्मामृत 8/49
69. अनगार धर्मामृत 8/52
70. वही 8/53
71. वही 8/54
72. वही 8/55

73. मूलाचार 7/102
74. भगवती आराधना गाथा 118
75. भगवती आधारना गाथा 118
76. मूलाचार गाथा 619
77. भगवती आधारना गाथा 118
78. नियमसार 84
79. वही 85
80. वही 86-88
81. अनगार धर्मामृत 8/62
९2. मूलाचार गाथा 623
83. अनगार धर्मामृत 8/63
84. वही 8/65
85. धर्मामृत (अनगार) 8/65
86. उत्तराध्ययन सूत्र 29/33
87. वही 29/34
88. वही 29/35
89. उत्तराध्ययन सूत्र 29/37
90. वही 29/41, 42, 45
91. वही 29/38
92. वही 29/39
93. वही 29/67-70
94. उत्तराध्ययन सूत्र 29/36, 45, 49, 9/57-58, 31/37
95. भगवती आराधना गाथा 118
96 भगवती आराधना गाथा 118
97. भगवती आराधना गाथा 118
98. अनुयोग द्वार पृ. 30
99. पद्मनन्दि पञ्चविशंति: 1/41
100. भगवती आराधना गाथा 83
101. भगवती आराधना 84
102. वही गाथा 84
103. पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका 25/1-2
104. भगवती आराधना गाथा 25/3-7
105. अनगार धर्मामृत 9/91
106. आर्यिका ज्ञानमती दिगम्बर मुनि पृ. सं. 14
107. अनगार धर्मामृत 9/92
108. अनगार धर्मामृत 9/93
109. वही 29/94
110. दिगम्बर मुनि पृ. 14
111. उत्तराध्ययन सूत्र 9/20
112. पातंजल योगदर्शन 1/2
113. उत्तराध्ययन सूत्र पृ. 286-287
114. नियमसार 66
115. वही 69
116. वही 67
117. वही 69
118. वही 68
119. हरिवंश पुराण 64/20
120. वही 64/21
121. हरिवंश पुराण 64/22
122. वही 64/23
123. वही 64/24
124. वही 64/25
125. वही 64/26
126. वही 64/27
127. वही 64/28
128. वही 64/28
129. वही 64/32
130. वही 64/33
131 वही 64/35
132. हरिवंश पुराण 64/35
133. वही 64/35
134. वही 64/36
135. वही 64/36
136 वही 64/37
137. वही 64/37
138. वही 64/29
139. वही 64/38
140. वही 64/39
141. वही 64/40
142. हरिवंश पुराण 64/41
143. वही 64/29
144. वही 64/46-48
145. हरिवंश पुराण 18/142-156
146. वही 64/30
147. वही 64/46

148. वही 64/46
149 वही 64/47
150. वही 64/47
151. हरिवंश पुराण 64/47
152. वही 64/48
153. वही 64/30
154. वही 64/49
155. वही 64/49
156. वही 64/50
157 वही 64/31
158. हरिवंश पुराण 56/23-35
159 वही 56/53
160. आराधना सार गाथा 40
161. वही
162. वही
163. आराधना सार गाथा 40
164 वही
165. वही
166. वही
167. वही
168. आराधना सार
169. वही
170 हरविंश पुराण 63/102
171. आराधना सार गाथा 40
172. वही
173. हरिवंश पुराण 63/105
174. हरिवंश पुराण 63/106
175. वही 63/107
176. वही 63/108
177. आराधना सार गाथा 40
178. आराधना सार गाथा 40
179 हरिवंश पुराण 63/111
180. वही 63/112
181. आराधाना सार गाथा 40
182. वही गाथा 40
183. सर्वार्थसिद्धि व्याख्या 9/2
184. हरिवंश पुराण 63/113
185 वही 63/80
186. वही 63/81
187. सर्वार्थसिद्धि व्याख्या 9/7
188. हरिवंश पुराण 63/83
189. हरिवंश पुराण 63/84
190. वही 63/85
191. सर्वार्थसिद्धि व्याख्या 9/7
192. वही
193. वही हरिवंश पुराण 63/88
194. हरिवंश पुराण 63/89
195. सर्वार्थसिद्धि टीका 9/7
196. धर्मामृत अनगार टीका 6/2
197. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा 394
198. अनगार धर्मामृत 6/6
199. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा 395
200 पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका 1/87
201. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 396
202. पद्मनन्दि पञ्चविंशति: 89
203. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 398
204. पद्मनन्दि पञ्चविंशति: 92
205. पद्मनन्दि पञ्चविंशति: 93
206. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 398
207. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 397
208. पद्मनन्दि पञ्चविंशति: 94
209. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 399
210. पद्मनन्दि पञ्चविंशति: 96
211. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 409
212. पद्मनन्दि पञ्चविंशति: 98
213. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 401
214. अनगार धर्मामृत 6/52
215. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा 402
216. वही 403
217. पद्मनन्दि पञ्चविंशति: 104
218. हरिवंश पुराण 64/15
219. वही 64/15
220. वही पृ. 10 64/16
221. वही पृ. 64/17
222. हरिवंश पुराण 64/18
223. वही 64/19

224. उत्तराध्ययन सू. 26.1, 26.53
225. मूलाचार अधिकार 4.125
भगवती, 25.7.101
226. जैन सिद्धान्त 193
227. आराधना 423
228. वही गाथा 423
229. वही 423
230. वही 423
231. भगवती आराधना गाथा 423
232. वही 423
233. वही 423
234. विजयोदया टीका में उद्धृत 330
235. वही 423
236. भगवती आराधना गाथा 423
237. वही
238. वही
239. वही
240. चारित्र पाहुड 3
241. वही 4
242. वही 5
243. जैन सिद्धान्त पृ. 184-185
244. समयसार 409, 408
245. वही 412-413
246. वही 414
247 दंशणपाहुड 23
248. वही 26
249. शील पाहुड 5
250. वही 6-7
251. प्रवचनसार 25-27
252. वही 28
253. वही 29
254. प्रवचन सार 30
255. कुन्दकुन्द भारती पृ. 184
256. प्रवचनसार 31
257. वही 31 कुन्दकुन्द भारती पृ. 184
258. भगवती आराधना 208
259. वही 209
260. वही 210
261. वही 247
262. वही 249
263. वही 250
264. वही 253
265. मरण का एक प्रकार भक्त प्रत्याख्यान है।
266. भगवती आराधना 255
267. वही 256
268. भगवती आराधना
269 वही 257
270. वही (विजयोदया टीका)
271. वही 258
272. वही 261
273. वही
274. वही 262
275. वही 264-265
276. वही 266
277. भगवती आराधना 268-269
278 वहो (विजयोदया टीका) 270
279. वही भगवती आराधना 271-272

❑❑❑

सहायक ग्रन्थों की तालिका

1-कार्तिकेयानुप्रेक्षा : लेखक स्वामिकुमार, अनुवादक - पं. केलाशचन्द्र शास्त्री प्रकाशक - परम् श्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम स्टे. अगास, वाया आणंद, पोस्ट - बोरिया (गुजरात) वीर नि. सं. 2504

2-रत्नकण्ड श्रावकाचार : श्रीमत्समन्तभद्राचार्य, सम्पादक पं. पन्नालाल वाकलीवाल प्रकाशक - नेमीचन्द वाकलीवाल, पवित्र जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, कलकत्ता, वीर नि. सं. 2457

3-पद्मनन्दि पञ्चविंशति: : पद्मनन्दि, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, फलटण गली, सौलापुर, 1962

4-सर्वार्थसिद्धि : श्रीमदाचार्य पूज्यपाद, अनु. पं. फूलचन्द्र शास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड़, नई दिल्ली, सन् 1971

5-दिगम्बर मुनि : आर्यिका ज्ञानमती, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर (मेरठ) उ. प्र. वीर निर्वाण सं. 2507

6-भगवती आराधना (भाग-1) : शिवार्थ, अनु. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जीवराज जैन ग्रन्थमाला फलटणगली, सोलापुर, 1978 ई. वीर नि सं. 2504

7-भगवती आराधना (भाग-2) : शिवार्य, अनु. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्र. जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, वी. नि. सं. 2504

8-पञ्चाध्यायी : राजमल्ल, टीका-पं. देवकीनन्दन शास्त्री, गणेशप्रसादवर्णी जैन ग्रन्थमाला, भदैनी, वाराणसी वीर नि. सं. 2476

9-धर्मामृत (अनगार) : पण्डित प्रवर आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, वीर नि. सं. 2503

10-आराधनासार : आचार्य देवसेन, संस्कृत टीकाकार रत्नकीर्तिदेव, हिन्दी भाषाकार -पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्र. श्री शान्तिवीर दि. जैन संस्थान, श्री शान्तिवीर नगर, श्री महावीर जी (राजस्थान) प्रथम संस्करण।

11-तत्त्वार्थ सूत्र : आ. उमास्वामि, अनु. पं. बालचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक मोहनलाल शास्त्री, काव्यतीर्थ, जवाहर गंज, जबलपुर (म. प्र.)

12-तत्त्वार्थवार्तिक (भाग-1) : भट्टाकलंकदेव, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ काशी, वीर नि. सं. 2479, प्रथम आवृत्ति

13-तत्त्वार्थवार्सिक (भाग-2) : भट्टाकलंकदेव, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वीर नि. सं. 2484, प्रथम आवृत्ति

14-कुन्दकुन्द भारती : आचार्य कुन्दकुन्द, सम्पादक पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, श्रुतभण्डार व ग्रन्थ प्रकाश समिति, फल्टन

15-सावय पण्णत्ती : (आचार्य हरिभद्र सूरि विरचित संस्कृत वृत्ति सहित) भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वीर निर्वाण सं. 2470

16-प्रवचनसार : आचार्य कुन्दकुन्द, प्रकाशक - वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट 602 कृष्ण नगर, भावनगर (गुजरात) तृतीयावृत्ति

17-श्रावकाचार संग्रह (भाग-1) : सम्पादक एवं अनुवादक - पं. हीरालाल सिद्धान्तालंकार, न्यायतीर्थ प्रकाशक - जीवराज जैन ग्रन्थमाला, फलटण गली, शोलापुर (महाराष्ट्र) प्रथमावृत्ति

18-श्रावकाचार संग्रह (भाग-2) : सम्पादक एवं अनुवादक - पं. हीरालाल सिद्धान्तालंकार, न्यायतीर्थ प्रकाशक - जीवराज जैन ग्रन्थमाला, फलटण गली, शोलापुर

19-श्रावकाचार संग्रह (भाग-3) : सम्पादक एवं अनुवादक - पं. हीरालाल सिद्धान्तालंकार, न्यायतीर्थ प्रकाशक - जीवराज जैन ग्रन्थमाला, फलटण गली, शोलापुर

20 श्रावकाचार संग्रह (भाग-4) : सम्पादक एवं अनुवादक - पं हीरालाल सिद्धान्तालंकार, न्यायतीर्थ प्रकाशक - जीवराज जैन ग्रन्थमाला, फलटण गली, शोलापुर

21-हरिवंश पुराण : आचार्य जिनसेन, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथमावृत्ति अनु. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य

22-मोक्षमार्ग प्रकाशक : पं. टोडरमल जी, पण्डित टोडरमल स्मारक, ट्रस्ट, जयपुर (राज.)

23-सागार धर्मामृत : पं. आशाधर जी, अनुवादिका श्री 105 सुपार्श्वमती माताजी प्रकाशिका - भंवरी देवी पाण्ड्या, धर्मपत्नी दानवीर रा सा. सेठ चांदमलजी पाण्ड्या, सुजानगढ़ (राज.)

24-समयसार नाटक : कविवर पं. बनारसीदास, श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट 602 कृष्णनगर, भाव नगर गुजरात, तृतीयावृत्ति

25-समयसार : आचार्य कुन्दकुन्द, हिन्दी अनु. पं. परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ, श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात) छठी आवृत्ति

26-श्रावकधर्म : डॉ. रमेश चन्द जैन, प्रका. अ. भा. दि. जैन शास्त्रि परिषद् बड़ौत, प्रथमावृत्ति

27-पद्मचरित में प्रतिपादित भारतीय संस्कृति : डॉ. रमेशचन्द जैन, प्राप्तिस्थान - पीयूष भारती, जैन मन्दिर के पास, बिजनौर उ. प्र.

28-जैनदर्शन में उपासना और स्याद्वाद : लेखक - नाथूराम डोंगरीय, न्यायतीर्थ, जैन साहित्य प्रकाशन 5/1 सम्बोली बाखल इन्दौर-2 (म. प्र.)

29-छहढाला : कविवर दौलतराम, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ए. 4, बापूनगर, जयपुर ।

30-जैन सिद्धान्त : पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण

31-पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : अमृतचन्द्रसूरि, जिनवाणी प्रकाशन विभाग, दिगम्बर जैन मन्दिर, रोहतक वीराशब्द 2476 सन् 1950

32-मूलाचार-आ. वट्टकेर (प्रथम भाग) : अनुवादिका - आर्यिका ज्ञानमती प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली

33-उत्तराध्ययनंसूत्र एक परिशीलन : डॉ. सुदर्शनलाल जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी ।

34-तत्त्वज्ञान तंरगिणी : भट्टारक ज्ञानभूषण, अनु. पं. गजाधर लाल न्यायतीर्थ, प्रकाशक - श्रीकहान सत् साहित्य प्रसारक मण्डल, खण्डवा (म. प्र) चतुर्थावृत्ति प्राप्तिस्थान - रत्नत्रय ज्वैलर्स 100 हाटकेश्वर वार्ड, खण्डवा, म. प्र.

35-तत्त्वासर : देवसेनाचार्य, प्रकाशक - श्री सस्श्रुत सेवा साधना केन्द्र, पुष्पविला, मीठाखली, महाराष्ट्र सोसायटी अहमदाबाद वीर नि. सं. 2507

36-द्रव्य संग्रह : श्रीमन्तोमिचन्द्राचार्य - श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला वाराणसी

37-सिद्धान्तसार संग्रह : नरेन्द्र सेनाचार्य, टीकाकार - पं. जिनदास शास्त्री फड़कुले, जैन संस्कृति संरक्षक संघ जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, सं. वीर निर्वाण संवत् 2028 ई.

38-वीरोदय काव्य : आचार्य ज्ञानसागर, प्रथम संस्करण 1968 ई. मुनि ज्ञानसागर जैन ग्रन्थमाला, ब्यावर (राजस्थान)

❑❑❑